तुलसी साहित्य के सर्वोत्तम अंश

डॉ० रामप्रसाद मिश्र

तुलसी साहित्य के सर्वोत्तम अंश

डॉ० रामप्रसाद मिश्र

जीवन ज्योति प्रकाशन, दिल्ली-110006

मूल्य : 125.00 / प्रथम संस्करण : 1988 / प्रकाशक : जीवन ज्योति प्रकाशन,
3014, चर्खेवालान, दिल्ली-110006 / आवरण सज्जा : जोशी /
मुद्रक : सोहन प्रिन्टर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

क्रम

1. रामचरित मानस

रामचरित मानस का स्थान, रामायण और महाभारत के साथ-साथ, समग्र भारतीय साहित्य में अद्वितीय है। रामायण, महाभारत, इलियड, ओडिसी, ऐनीड (ऐनियड), 'शाहनामा', 'डिवाइन कॉमेडी', 'रामचरित मानस' और 'पैराडाइज लॉस्ट' मानव जाति के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य हैं। इनमें भी जीवन्त लोकप्रियता और अपरिसीम प्रभाव की दृष्टियों से मानस अद्वितीय ही है। गीता, बाइबिल और कुरान के साथ-साथ मानस संसार का पूज्यतम ग्रंथ है। धर्मग्रंथ और महाकाव्य के द्विविध गौरव से सम्पन्न मानस सर्वरस निष्पत्ति और अलंकरण में एक अतुलनीय ग्रंथ है। भक्ति रस और भक्ति दर्शन की उभय दृष्टियों से मानस संसार का एक अनूठा ग्रंथ है।[1] गांधी ने इसे 'भक्तिमार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ' कहा है।[2] एटकिंस ने इसे 'समग्र भक्ति-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ कृति' माना है।[3] रामधारीसिंह 'दिनकर'[4] और राजबहादुर लमगोड़ा।[5] इत्यादि ने तुलसी को विश्व का सर्वश्रेष्ठ कवि माना है और इस मान्यता का प्रधान आधार मानस ही है। विशद मानव धर्म, सार्वभौम दर्शन और मनोहारी काव्यकला का प्रयाग रामचरित मानस संसार साहित्य का एक वैसा ही सर्वोपरि गौरव ग्रंथ है, जैसा ऋग्वेद या बाइबिल या इलियड या कुरान।

यद्यपि सारा रामचरित मानस उच्चकोटि की कविता से सम्पन्न महाकाव्य है, वर्णनात्मकता को अत्यन्त ललित एवं प्रभावी रूप प्रदान करने में तुलसी प्रायः

---

1. विस्तार के लिए द्रष्टव्य 'विश्वकवि तुलसी और उनके प्रमुख काव्य' ग्रंथ का 'रामचरित मानस' शीर्षक निबन्ध।
2. 'सत्य के प्रयोग' (आत्मकथा) में।
3. 'रामचरित मानस के दस वर्ष के अथक परिश्रम से किए गए मूल ग्रंथ के कलेवर और प्राण को समुचित रूप से प्रस्तुत करने वाले अमूल्य अंग्रेजी-अनुवाद "रामायना ऑफ़ तुलसीदास' की प्रस्तावना में।
4. मानस-चतुःशती समारोह में दिल्ली में दिए गए भाषण में।
5. तुलसी पर रचित अपने ग्रंथ 'विश्व-साहित्य में रामचरित मानस' में।

सर्वत्र सफल हुए हैं, तथापि बाल कांड, अयोध्या कांड एवं उत्तर कांड को सर्वोपरिता एक सर्व स्वीकृत तथ्य है। बाल कांड रामचरित मानस का कला कांड है, अयोध्या कांड भाव कांड, उत्तर कांड दर्शन कांड। बाल कांड रामचरित मानस का मुख है, अयोध्या कांड हृदय, उत्तर कांड मस्तिष्क।

रामचरित मानस के अनेकानेक अंश विश्व काव्य के अपरिहार्य अंग माने जा सकते हैं। इन अंशों में कहीं मानव मूल्यों के विकास का प्रयास दृष्टिगोचर होता है, कहीं शील का प्राणपावनकारी बिम्ब, कहीं मर्यादा का शालीन स्वरूप, कहीं सौंदर्य का जीवन्त शब्द चित्र। ये अंश मानवानुभूति और वैश्विक काव्य कला के प्रतीक हैं। अतएव, इनका महत्त्व सार्वभौम और शाश्वत है।

रामचरित मानस की भूमिका

नानापुराणनिगमागमसम्मतं, यद्
रामायणे निगदितं, क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमति मञ्जुलमातनोति ॥[1]

प्रस्तुत श्लोक को रामचरित मानस की भूमिका कहा जा सकता है। अनेक पुराणों, वेदों, शास्त्रों और रामायण के विराट् आधार, 'क्वचिदन्यतोऽपि' की मौलिकता, 'स्वान्तःसुखाय' के ध्येय, ग्रंथभाषा और ग्रंथविधा (निबन्ध अर्थात् प्रबंध, जिसका संदर्भगत अर्थ महाकाव्य ही हो सकता है) की तलस्पर्शी सूचना से मानस के सांस्कृतिक और महाकाव्यात्मक आयाम सुस्पष्ट हो जाते हैं। संसार साहित्य के किसी महाकाव्य में आयामों की ऐसी व्यापकता की अनायास अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त होती। यह श्लोक गहन अनुभूति-योग का सहज उद्गार है, जो महाकवि के अपरिसीम अध्ययन एवं अप्रतिहत उद्देश्य को सम्यक् अभिव्यक्ति प्रदान करने में सर्वथा सक्षम सिद्ध हुआ है। 'विशदीभूते मनोमुकुरे' की स्थिति में 'स्वान्तःसुखाय' का अर्थ 'बहुजनहिताय' ही हो सकता है। तुलसी का 'स्वान्तः-सुखाय' भी 'बहुजनहिताय' ही है, ठीक वैसे जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि'[2] का अर्थ 'तत्त्वमसि'[3] अथवा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[4] ही है। 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'[5] की

---

1. रामचरित मानस 1/7
2. बृहदारण्यकोपनिषद्
3. छांदोग्योपनिषद्
4. छांदोग्योपनिषद्
5. योगदर्शन 1/4

ससीम स्थिति से 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'[1] की असीम स्थिति पर पहुँचे हुए द्रष्टा-स्रष्टा मानव का सांत अनंत का पर्याय बन जाता है। तुलसी ने राज्याश्रय की प्रवृत्ति से मुक्त रहकर साहित्य-साधना की थी। उन्होंने इस या उस उद्वेग की ज्ञात या अर्द्धज्ञात प्रेरणा से 'संतत कौ कहा सीकरी सौं काम'[2] या 'जिनको कछू न चाहिए तेई साहंसाह'[3] के जैसे उद्‌गार भी नहीं प्रकट किए। 'उद्वेगजन को दोषः'[4] की दृष्टि से देखें, तो तुलसी का 'स्वान्तःसुखाय' पूरी तरह खरा उतरता है। उन्होंने श्रेष्ठता ग्रंथी से प्रेरित होकर समसामयिक केशव (जिन्होंने रतनबावनी, वीरसिंह देवचरित और जहाँगीर जसचन्द्रिका की रचना कर राजा और सम्राट् से सम्पत्ति और कृपा प्राप्त की थी) इत्यादि कवियों पर व्यंग्य नहीं किए, हीनता-ग्रंथि से प्रेरित होकर संतों को 'शाहंशाह' नहीं कहा। संत और सम्राट् की क्या तुलना ! मुक्त और बद्ध की क्या तुलना ! असीम और ससीम की क्या तुलना ! संत मानव के मन पर शासन करता है, सम्राट् तन पर ! अतएव, जो महानुभाव सन्त-संदर्भ में 'बादशाह' 'शाहंशाह' और 'दरबार' जैसे शब्दों के प्रयोग करते हैं, वे ईप्सित-चिंतना से अभिभूत ही माने जा सकते हैं, सत्य के साक्षात्कर्ता नहीं। तुलसी ने 'स्वान्तःसुखाय' आदि की 'स्वान्तस्तमःशान्तये' के अंत से पूर्ण संगति निभाई है—

यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम् ।
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथामानसम् ।।[5]

तुलसी का समग्र साहित्य एकरस और एकतान है—कहीं कोई विक्षेप नहीं अन्तर नहीं, दृष्टि-परिवर्तन नहीं। तुलसी उद्देश्य की अटूट एकता के प्रतीक हैं।

2. समन्वय का प्रयाग

मुद मंगल मय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू।।
रामभगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म-बिचार-प्रचारा।।
बिधि-निषेध-मल कलिमलहरनी। करम-कथा रबिनंदनि बरनी।।[6]

---

1. योगदर्शन 1/3
2. अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि और संत कुम्भनदास के प्रसिद्ध पद का शीर्षक।
3. कबीर का एक प्रामाणिक उद्‌गार, जो कबीर-ग्रंथावली में भी प्राप्त है।
4. अग्निपुराण का एक सूत्र।
5. रामचरित मानस 7/130/1
6. रामचरित मानस 1/1/7-9

इन तीन महान् अर्द्धालियों में भक्ति की गंगा को वरीयता प्रदान करते हुए भी, तुलसी ब्रह्मविचार (या ज्ञान या योग) तथा कर्म की महिमा को शिरसा स्वीकार करते हैं। ज्ञान, योग और कर्म से समन्वित भक्ति ही समग्र जीवन-दर्शन बन सकती है। ज्ञान रहित भक्ति कोरी भावुकता है, योग रहित भक्ति सार रहित विवशता है, कर्म रहित भक्ति परोपजीवी निरीहता है। जिस प्रकार प्रयाग से आगे गंगा-गंगा मात्र कही जाने पर भी यमुना और सरस्वती भी होती हैं, उसी प्रकार महिमा का चरमोत्कर्ष प्राप्त करने के अनंतर भक्ति-भक्ति मात्र कही जाने पर भी ज्ञान, योग और कर्म से भी संपृक्त रहती है, 'सम्पूर्ण' जीवन-दर्शन की प्रतीक हो जाती है। इसीलिए, तुलसी ज्ञान और भक्ति की तात्त्विक एकता स्वीकार करते हैं तथा युग सापेक्ष और सरल होने के कारण भक्ति का प्रतिपादन करते हैं। योग अथवा समाधि आदि के चित्रण में उनकी पूरी रुचि है। कर्म-सौन्दर्य के वे अप्रतिम चितेरे हैं। तुलसी का भक्ति-दर्शन भेदवादी न होकर अभेदवादी है।

सांग रूपक के निर्वाह की दृष्टि से प्रस्तुत अवतरण अतीव सफल है। भक्ति सहज-समुज्ज्वल होने के कारण गंगा है। ब्रह्म विचार सूक्ष्म और अनिर्वचनीय है।[1] अतएव, उसके लिए अदृश्य-अमूर्त सरस्वती का अप्रस्तुत-विधान सर्वथा मुक्तियुक्त है। कर्म में श्यामता सर्वथा सम्भाव्य है। अतएव, उसे श्याम कालिंदी का उपमेय मानना भी सर्वथा मुक्ति-युक्त ही है, कालिंदी-प्रतीक कृष्ण अथवा कृष्ण-प्रतीक कालिंदी की दृष्टि से भी कर्म की संगति सिद्ध होती है, क्योंकि कृष्ण ने कर्म का सर्वोपरि प्रतिपादन किया है।

3. तुलसी का काव्यादर्श

मनि, मानिक, मुकुता छबि जैसी। अहि, गिरि, गज-सिर सोह न तैसी॥
नृपकिरीट, तरुनीतनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकबि-कबित, बुध कहहीं। उपजहिं अनत, अनत छबि लहहीं॥[2]

इन तीन अमूल्य अर्द्धालियों में तुलसी ने काव्य का गौरव अध्येताओं या पाठकों या श्रोताओं द्वारा उसे प्रदान किया गया सम्मान माना है— रसज्ञ का स्वानुभूत विवेचन ही काव्य का शृंगार है। एक में अनेक संपृक्त हैं, अनेक में

---

1. "अकथ कहाणीं प्रेम की कछु कही न जाई।
   गूंगे केरी सरकरा बैठी मुसुकाई॥" (कबीरदास)
   "ज्यों गूंगेहि मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै।" (सूर)
   "दादू सब हैरान हैं गूंगे का गुड़ खाय।" (दादू)
2. रामचरित मानस 1/10/1-3

एक । अतएव, एक उत्कृष्ट छंद अनेक वर्गों के अनेक पाठकों इत्यादि की अनेक अनुभूतियों को संस्फुरित करता है, अनेक अर्थों का ऐश्वर्य प्राप्त करता है । आज की सामान्य एवं प्रचलित शब्दावली में, तुलसी व्यक्तिवादी काव्यचिंतक नहीं हैं । वे समाजवादी काव्यचिंतन के अधिकाधिक निकट हैं । समाजवादी देशों की कई भाषाओं में रामचरित मानस के अनुवादों का अपूर्व सम्मान भी हुआ है । वे साधारणीकरण को अपार महत्त्व प्रदान करते हैं । किन्तु उनका साधारणीकरण भी विराट् है—नट अथवा मूल पात्र अथवा सर्जकानुभूति में बद्ध अथवा संकीर्ण नहीं । साधारणीकरण के विवेचन में भरत, भट्ट लोल्लट, भट्ट नायक, शंकुक, अभिनव गुप्त इत्यादि के साथ, हिन्दी की दृष्टि से, तुलसी का उल्लेख भी समीचीन है । तुलसी साधारणीकरण की प्रक्रिया को किसी शृखला-विशेष से आबद्ध नहीं करते । तत्त्वत: साधारणीकरण की प्रक्रिया एक समन्वित वस्तु है । समन्वयवादी और विराटवादी तुलसी साधारणीकरण को भी समन्वित और विराट् रूप में ही ग्रहण और प्रस्तुत करते हैं । काव्य शास्त्रीय दृष्टि से तुलसी का काव्यादर्श लोकग्रहणवाद कहा जा सकता है—वही काव्य सार्थक है, जो निरवधिकाल और संख्यातीत पाठकों इत्यादि के प्राणों का प्रेम प्राप्त कर सके । काव्य की शोभा कवि के वैयक्तिक परितोष और उसके अपने विशिष्ट विवेचन-विश्लेषण में नहीं, प्रत्युत सामूहिक रसास्वाद अथवा साधारणीकरण की विशदता में है । 'तुलसी के काव्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन' अथवा 'भारतीय काव्यशास्त्र और तुलसी-साहित्य' जैसा ग्रंथ अथवा शोध-प्रबन्ध ही तुलसी की काव्य-मान्यताओं को न्याय प्रदान कर सकता है ।

आरम्भ की चौपाई में क्रम या यथासंख्य का प्रयोग बहुत ही उत्कृष्ट है । मानस और विनयपत्रिका में इस अलंकार के अनेक मनोहारी प्रयोग प्राप्त होते हैं । अलंकार-सम्राट् तुलसीदास यदि रूपक में अतुलनीय हैं, उपमा में प्रशस्य, उत्प्रेक्षा में गौरवशाली, तो यथासंख्य में अप्रतिम । इस वर्णन में उच्चकोटि के उदाहरण अलंकार के भी दर्शन होते हैं । कोई अर्थालंकार, कोई उभयालंकार ऐसा नहीं, जिसका सहज प्रयोग-सामर्थ्य उनके काव्य में न प्राप्त होता हो ।

तुलसी का काव्यादर्श लोकग्रहणवाद है, सर्वहितवाद है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'तुलसी की काव्य-पद्धति', 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' और 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद' जैसे अनेक निबंधों के सृजन में तुलसी के लोकग्रहणवाद और सर्वहितवाद से अपार प्रेरणा प्राप्त की है ।[1] प्लेटो द्वारा प्रतिपादित 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का जैसा उत्कर्ष तुलसी के मानस में

---

1. चिंतामणि (भाग1 -2) में इस तथ्य के दर्शन प्रायः यत्र-तत्र-सर्वत्र किए जा सकते हैं । आचार्य शुक्ल का काव्यशास्त्र तुलसीमूलक कहा जा सकता है ।

प्राप्त होता है, वैसा पश्चिम के भी किसी महाकाव्य नहीं, क्योंकि इलियड, ओडिसी और ऐनीड (ऐनियड) लोकमंगलवादी काव्य न होकर वीरकाव्य मात्र हैं तथा 'डिवाइन कॉमेडी' और 'पैराडाइज़ लॉस्ट' संकीर्ण ईसाइयत की संकीर्ण सृष्टियाँ हैं, भले ही ये पाँचों महाकाव्य संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में परिगणित किए जाने के योग्य हों। 'सत्यं, शिवं, सुंदरम्'[1] एक विशद दार्शनिक सूत्र है। तुलसी का काव्यादर्श इसके नितांत निकट है। तथाकथित बाबा वेणी माधवदास का तथाकथित गोसाईं चरित या उसका तथाकथित मूल गोसाईं चरित रूप एक नितांत परवर्ती और जाली ग्रंथ, किंतु उसमें कल्पित 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का राम-निर्णय अतीव गम्भीर है। अन्यत्र भी, तुलसी ऐसा ही करते हैं—

जो प्रबंध बुध नहिं आदर हीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं ।।
कीरति, भनिति, भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।।[2]

इस चौपाई में तुलसीदास प्रबंधकाव्य की सोद्देश्यता का विशिष्ट प्रतिपादन करते दीखते हैं। महाकाव्य का उद्देश्य भी महान् होता है—वैशिक्क अथवा राष्ट्रीय मानव मूल्यों का विशद चित्रण, उन्नयन एवं प्रतिपादन। इसीलिए, अपने अन्य काव्यों में तुलसी ने काव्य शास्त्रीय ऊहापोह नहीं किया। सर्वहितवादी होते हुए भी, तुलसी सतही प्रचारवादिता से मुक्त हैं। वे 'बुध' का महत्त्व जानते और मानते हैं। साथ ही, वे 'सब' का कल्याण भी चाहते हैं। 'बुध' और 'सब' में कोई विरोध नहीं। 'बुध' वही है, जो 'सब' का ध्यान रखे।

4. तुलसी के सृजन का लक्ष्य

भगति-हेतु बिधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई ।।
रामचरितसर बिनु अन्हवाएं। सो श्रम जाइ न कोटि उपाएं ।।
कबि-कोबिद अस हृदयँ बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमल हारी ।।
कीन्हें प्राकृतजन-गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगति पछिताना ।।[3]

तुलसीदास तन, मन, जीवन, सभी से राममय हैं। तभी तो वे कोटि-कोटि मानवों को राममय करने में सफल हो सके हैं! भक्ति को उन्होंने एकमात्र महा-रस का गौरव प्रदान किया है। उनकी सर्वरसनिष्पत्ति रामचरित मानस और कवितावली दोनों में ही विस्मयकारिणी और अप्रतिम है।[4] किंतु मूलतः और

1. विशेष अध्ययन के लिए डॉ० गुलाबराय कृत 'सिद्धांत और अध्ययन' ग्रंथ का 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' प्रकरण अतीव उपयोगी है।
2. रामचरित मानस 1/13/8-9
3. रामचरित मानस 1/10/4-7
4. देखें, 'विश्व कवि तुलसी और उनके प्रमुख काव्य' के 'रामचरित मानस में सर्वरसनिष्पत्ति' और 'कवितावली' निबंध।

तँत्वत: उनके सारे रसों की आत्मा भक्ति है। भक्ति रस और उसके शृंगार, वात्सल्य, दास्य, सख्य एवं शांत भावों का प्रतिपादन तुलसी के संदर्भ में अपर्याप्त पड़ जाता है। उनके समग्र रसवाद की नाना धाराएं भक्ति के पीयूष सिंधु में लीन हो जाती हैं। लक्ष्य की अप्रतिहत एवं अनवरत एकता एवं एकरसता में तुलसी की समता नहीं।

तुलसी ने 'प्राकृतजन-गुनगाना' इत्यादि शब्दों में प्राचीन एवं मध्यकालीन कवियों की सम्राटों अथवा नरेशों की निराधार स्तुति, महिमा-मण्डन, गौरव-वर्णन इत्यादि का प्रत्याख्यान किया है। तुलसी का महत्त्व संसार के इतिहास के किसी भी सम्राट् से अधिक है। ज्ञात अथवा अर्द्धज्ञात अथवा अज्ञात रूप से उनका अन्तर्मन अपनी वास्तविक महिमा से अभिज्ञ था। इस संदर्भ में, रॉव्लिसन की यह धारणा कि वे भावी गौरव से अनभिज्ञ थे, तलस्पर्शी अध्ययन की सूचना नहीं देती। तुलसी चाहते थे कि कवि परोपजीवी बनकर परकीय सृजन न करें, आत्म निर्भर बन कर स्वकीय सृजन करें, अपने सृजन का लक्ष्य महत्तम रखें। वित्तेषणा कला को वित्तोपजीविनी बना देती है, लोकेषणा लोकोपजीविनी। तुलसी के अनुसार, महत्तम कला आत्मोपजीविनी ही हो सकती है—उन्होंने इस तथ्य को अपने ही द्वारा सिद्ध भी कर दिया है!

तुलसी की उक्त उद्‌भावना युग और चिर दोनों की कसौटियों पर खरी उतरती है। केशवदास यदि महाकवि थे और हैं, तो रामचन्द्रिका के कारण, जहाँगीर जसचंद्रिका के कारण नहीं, वीर सिंह देव चरित के कारण नहीं, रतन-बावनी के कारण नहीं। आधुनिक कवियों में भी जिन्होंने 'बापू', 'जगदालोक', गांधी चरित मानस', 'कमला नेहरू' प्रभृति युगीन नेतापरक काव्य रचे, वे घाटे में रहे, क्योंकिउनके प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुए। चमके प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी, क्योंकि इनके नायक 'प्राकृतजन' नहीं हैं। जब 'सिद्धार्थ' और 'वर्द्धमान' जैसे काव्य असफल सिद्ध हुए; क्योंकि इनके नायकों में प्रवृत्ति-निवृति का गंगा-यमुनी संगम नहीं प्राप्त होता प्रत्युत निर्वाण अथवा कैवल्य की वैतरणी मात्र दृष्टिगोचर होती है, तब 'बापू' और 'जगदालोक' जैसे काव्यों के सफल होने का प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि जीवन समाचारपत्रगत महानता अथवा युगबद्ध गौरव को उतना ही आदर देता है, जितना देना चाहिए। आधुनिक 'महाकाव्यकारों' में से अधिकांश ने इस मूलभूत तथ्य की ओर सम्यक् ध्यान नहीं दिया कि उनके नायक अथवा नायिका में 'महाकाव्य' के गौरव को वहन करने की शक्ति भी है अथवा नहीं? क्या आश्चर्य, यदि आईने-अकबरी और अकबरनामा में अबुल फ़ज़्ल जैसे स्फीत वर्णनकार तक ने तुलसी का नामोल्लेख भी नहीं किया! यह अनुल्लेख उनकी महानता में चार चाँद लगा देता है! और इतिहासकार स्मिथ उन्हें मुग़लकाल का सर्वश्रेष्ठ महापुरुष मानता है, अकबर तक को नहीं; क्योंकि उनका साम्राज्य सतत-प्रसरित है, जबकि अकबर का अतीतगत!

अन्यत्र भी, तुलसी ने इस तथ्य को सुन्दर रूपक से सम्पन्न शब्दों में व्यक्त किया है—

सारद दारु नारि सम स्वामी । राम सूत्र धर अन्तर जामी ।।
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी । कबि-उर-अजिर नचावहिं बानी ।।[1]

वस्तुतः राम का चरित और चरित्र इतना अधिक महान् और विशद है कि उन या उनसे सम्बद्ध कथानक का तलस्पर्शी ग्रहण कवि स्तर के अनुरूप अपेक्षाकृत सरलतापूर्वक महाकाव्य या खण्डकाव्य या मुक्त काव्य या गीति काव्य या नाटक की सृष्टि करा डालता है । राम महाकाव्यों के अनन्तालय हैं । उनके पावन स्पर्श से वाल्मीकि, कालिदास (रघुवंशम्), भवभूति (उत्तररामचरितम् , स्वयंभू, कम्बन्, कुमार-वाल्मीकि, गोनबुद्ध, एड़त्तुच्छन्, कृत्तिवास, माधव कंदलि, बलराम दास, एक नाथ, गिरिधर, तुलसीदास, केशवदास, हरिऔध (वैदेही-वनवास), मैथिलीशरण, सत्यनारायण, पुट्टप्पा इत्यादि अनेकानेक महाकवि पुलकित हुए हैं । समग्र भारतीय साहित्य का महत्तर अंश लगभग आधे गुण-परिमाण में राममय है । भारत से बाहर भी अनेक राम काव्य प्राप्त होते हैं—चीन में, थाईलैण्ड में, इन्डोनेशिया में, बर्मा में, विश्व-साहित्य में राम की समता करने वाला कोई नायक नहीं प्राप्त होता । राम का अर्थ ही महाकाव्य है । मैथिलीशरण ने आधुनिक काल के तुलसी के रूप में ठीक ही गाया है—

राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है ।[2]

5. तुलसी की वाल्मीकि-समीक्षा

बंदउँ मुनिपदकंजु, रामायन जेंहि निरमयउ ।
सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषनसहित ।।[3]

उपर्युक्त सोरठा तुलसी की महान् समीक्षा-शक्ति का चमत्कारपूर्ण निदर्शन है । तुलसी ने रामचरित मानस में वाल्मीकि, दोहावली में बुद्ध[4] और कवितावली में गोरखनाथ[5] की नाम लिखकर समीक्षा की है । निरक्षर होने के कारण, अपनी

---

1. रामचरित मानस 1/104/5-6
2. 'साकेत' का सूत्र ।
3. रामचरित मानस 1/14 घ
4. अतुलित महिमा बेद की, तुलसी किए बिचार ।
   जे निंदत निंदित भयो, बिदित बुद्ध अवतार ।।
5. 'गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग' ।

कुंठाओं को वेद, पुराण इत्यादि की निराधार निंदा में व्यक्त करने वाले कबीर इत्यादि अहंवादी संतों और अज्ञान तथा पूर्वाग्रह के कारण नारद, पाण्डव इत्यादि को विकृत तथा कल्पित रूपों में प्रस्तुत करने वाले जायसी इत्यादि इस्लामवादी सूफ़ियों को महत्त्वहीन मानते हुए, उन्होंने इनका नामोल्लेख नहीं किया; किंतु स्पष्ट संकेत अवश्य दिए हैं—रामचरितमानस में[1], दोहावली में[2]। वस्तुत: कबीर इत्यादि की कोरी वेद निंदा, पुराण निंदा इत्यादि का कोई गम्भीर प्रभाव न पड़ सकता था, न पड़ सका। यदि वे एक महान् रहस्यवादी कवि न होते, तो कोरे सुधारक मात्र रह जाते और लोकेषणाग्रस्त सुधारकों से सारे इतिहास के बेतरह भरे पड़े होने के कारण, उनकी महिमा अत्यन्त संकुचित रहती। जायसी इत्यादि का प्रभाव तो नगण्य ही रहा। वर्तमान शताब्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विशुद्ध वैयक्तिक उमंग और तरंग के कारण, वे पाठ्यक्रमों में तो आ गए; किंतु इसके अतिरिक्त और कुछ न सम्भव था, न सम्भव हुआ। यों, एक भावुक महाकवि के रूप में वे आदरास्पद हैं; किंतु उन पर उदारता का लबादा चढ़ाना वस्तुपरकता की स्पष्ट अवहेलना करना है और आचार्य शुक्ल ऐसी अवहेलना कर चुके हैं। हिन्दी में पिष्टपेषणवाद अथवा चर्वितचर्वणवाद का कुछ ऐसा ज़ोर है कि इस अवहेलना को जानने अथवा मानने वाले एकाध ही दीखते हैं। नकारात्मक और ध्वंसात्मक उद्‌गार साहित्य नहीं बन सकते, चाहे वे किसी के हों। वस्तुपरक इतिहास का प्रत्येक अध्येता जानता है कि मुइनुद्दीन चिश्ती, निजामुद्दीन, औलिया जैसे सूफ़ी फ़कीरों से लेकर जायसी, नूरमुहम्मद जैसे सूफ़ी कवियों तक सब इस्लाम के प्रचारक या धर्मान्तरकर्त्ता थे।

उक्त सोरठे में तुलसी ने उच्चतम-स्तरीय विरोधाभास अलंकार के माध्यम से वाल्मीकि-रामायण के प्रशस्य एवं प्रत्याख्यानोपयुक्त दोनों ही पक्षों की ओर चमत्कारपूर्ण इंगित कर दिया है। वाल्मीकि-रामायण की इतनी सक्षम एवं सूक्ष्म समीक्षा अन्यत्र दुर्लभ है। वाल्मीकि-रामायण का 'सखर-सुकोमल' होना तो स्पष्ट ही है—इस स्फीत महाकाव्य में मानव-मन के कठोर-कोमल सभी भावों को विवृत किया गया है। 'खर' पात्र तो इसमें है ही ! अतएव, विरोधाभास श्लेष-सम्पन्न भी है। किन्तु इसके 'दोषरहित-दूषणसहित' का विरोधाभास-श्लेष-संकर अधिक

---

1. कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सदग्रन्थ।
   दंभिन्ह निज मति कल्पि करि, प्रगट किए बहु पंथ ॥
   श्रुतिसंमत हरिभक्तिपथ, संजुत-बिरति-बिबेक।
   तेहिं न चलहिं नर मोहबस, कल्पहिं पंथ अनेक ॥
2. साखी, सबदी, दोहरा, कहि किहनी, उपखान।
   भगति निरूपहिं भगत कलि, निंदहिं वेद, पुरान ॥

सूक्ष्म और गम्भीर है। अपने उद्देश्य, विश्वपुरुष राम के महतो महीयान् जीवन के सर्वांगीण चित्रण में रामायण दोष रहित है। किन्तु यत्र-तत्र मांसल उल्लंगता में यह महाकाव्य सदूषण भी हो गया है—कम-से-कम तुलसीदास ऐसा समझते हैं। और 'दूषण' पात्र' तो इसमें है ही ! ऐसी स्तुतिपरक और अलंकृत किन्तु साथ ही सूक्ष्म और गम्भीर समीक्षा महाकवि ही कर सकता है ! यह स्पष्ट है कि तुलसीदास ने रामचरितमानस के सृजन का आदर्श वाल्मीकि की रामायण को नहीं माना। उन्होंने कथानक को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। जहाँ तक सगुण-साकारवादी भक्ति-दर्शन का सम्बंध है, वे वाल्मीकि से तनिक भी प्रभावित नहीं हैं। रामचरितमानस पर अध्यात्म-रामायण के प्रभाव की चर्चा होती रहती है, जिसका 'आख्यान ब्रह्माण्ड पुराण के उत्तर खंड के अंतर्गत माना जाता है।··· रामचरित मानस की कथा जितनी अध्यात्म-रामायण से मिलती-जुलती है उतनी और किसी से नहीं मिलती।'[1] किन्तु अध्यात्म-रामायण की प्रामाणिकता एवं प्रात्ययिकता पर विवाद सम्भव है। चूंकि ब्रह्माण्ड पुराण उपलब्ध नहीं है, अतः उसे कल्पित भी माना जा सकता है। यों, भविष्य पुराण जैसे 'पुराण' भी उपलब्ध हैं, जिसमें तुलसी का काल्पनिक जीवनवृत्त तक प्राप्त होता है। यदि भविष्य में ब्रह्माण्ड पुराण 'प्राप्त' भी हो जाए, तो भी विवादास्पद ही रहेगा। अतएव, अध्यात्म-रामायण रामचरित मानस-परवर्ती ग्रन्थ भी हो सकता है; क्योंकि वह, संस्कृत के रामकाव्य-परम्परा का ग्रन्थ न होकर, मानस परम्परा का ग्रन्थ प्रतीत होता है। तुलसी के एक शिष्य रामू द्विवेदी ने मानस का संस्कृत अनुवाद किया था, ऐसा प्रसिद्ध है। भविष्य पुराण तुलसी परवर्ती ग्रन्थ है ही। अतएव, अध्यात्म-रामायण तुलसी परवर्ती ग्रन्थ कहा जा सकता है। श्रद्धालु भक्तों की भावना को व्यक्त करने वाले गीता प्रेस के प्रकाशनों की प्रस्तावनाएँ प्रात्ययिक नहीं होतीं। जिस प्रकार आर्यसमाज के प्रकाशन ऋग्वेद इत्यादि की पूर्वाग्रह युक्त टीकाएं प्रस्तुत करते हैं, उसी प्रकार, अपने ढंग से, सनातन धर्म के। दयानन्द कृत 'ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका', जयदेव विद्यालंकार कृत 'वेदभाष्य' पण्डित रामनारायण दत्त पाण्डेय 'राम' की रामायण और महाभारत की टीकाएँ इत्यादि अपने-अपने पूर्वाग्रहों के कारण वस्तुपरक नहीं रह सकीं। इनके विचार तो नितांत आत्मपरक ही हैं। तुलसीदास ने अध्यात्म-रामायण का उल्लेख भी नहीं किया। अध्यात्म-रामायण आकार-प्रकार में लघु भी है। अतएव, तुलसीदास को अपने रामचरित का ढाँचा स्फीत समन्वय और प्रचुर मौलिकता के आधार पर ही खड़ा करना पड़ा है। रामायण, महाभारत, पुराणों, रघुवंशम्, हनुमन्नाटक, प्रसन्न-राघव इत्यादि संस्कृत के अनेकानेक ग्रन्थों को आत्मसात् करके ही तुलसी ने अपनी मौलिक मानस-दृष्टि का निर्माण किया था। राहुल सांकृत्यायन ने उन

---

1. अध्यात्म-रामायण (गीताप्रेस, गोरखपुर) में श्री मुनिलाल के 'निवेदन' में।

पर स्वयंभू-रामायण के प्रभाव की चर्चा की है। किन्तु इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं प्राप्त होता, यद्यपि यह असम्भव भी नहीं है कि तुलसी ने इस जैन-रामायण को देखा हो और इसके विलाप-वर्णनों की उत्कृष्टता पर उनका ध्यान चला गया हो।

तुलसी ने वाल्मीकि-रामायण की कांड योजना स्वीकृत की है, यद्यपि 'युद्ध-कांड' के स्थान पर 'लंका काण्ड' का परिवर्तन भी किया है। अध्यात्म-रामायण की कांड-योजना वाल्मीकि रामायण की-सी है। चाहे जब का हो, संस्कृत-ग्रन्थ में यही समीचीन है। 'लंका काण्ड' एक प्रोक्ति भी है। सम्भव है, तुलसी के समय भी रही हो और उन्होंने इसे ग्रहण कर लिया हो, यद्यपि इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है और 'युद्ध काण्ड' को 'लंका काण्ड' में परिणत करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है।

तुलसी ने मानस में राम, सीता, लक्ष्मण, कौसल्या, रावण इत्यादि पात्रों का स्वतंत्र और मौलिक चित्रण किया है। उन्होंने वाल्मीकि के कथा-क्रम में अनेक परवर्ती परिवर्तनों को स्वीकार किया है। प्रकरणवक्रता[1] महान् मौलिकता की प्रतीक है। कालिदास के सदृश्य, तुलसीदास ने इसका प्रभावी परिचय दिया है। उन्होंने रामायण के परवर्ती, प्रक्षिप्त और असम्बद्ध उत्तर कांड की सम्पूर्ण उपेक्षा की है। सीता-त्याग और शम्बूक-प्रकरण के क्षेपकों को उन्होंने समग्रतः त्याग दिया है। एक कृतज्ञ उत्तराधिकारी के रूप में उन्होंने वाल्मीकि की वंदना तो की है; परन्तु अपना पथ स्वयं ही निर्धारित किया है। इससे साहित्य का अपार लाभ हुआ है। यदि तुलसी वाल्मीकि का अनुकरण करते तो रामचरित मानस एक मौलिक महाकाव्य, वस्तुतः एक अप्रतिम विश्वकाव्य, न बन पाता।

वाल्मीकि में ऐंद्रियता अधिक है, तुलसी में आध्यात्मिकता अधिक है। तत्त्वतः तुलसी वाल्मीकि की अपेक्षा व्यास के निकटतर हैं। उन्होंने व्यास की निर्व्याज स्तुति भी की है।

6. नाम-महात्म्य

देखिअहिं रूप नाम-आधीना। रूप-ग्यान नहिं नाम बिहीना।
रूप-बिसेष नाम बिनु जानें। करत लगत न परहिं पहिचाने॥
सुमिरिय नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयं सनेह बिसेषें॥[2]

---

1. देखिए आचार्य कुंतक (कुंतल) कृत 'वक्रोक्तिजीवितम्', जिसकी महान् टीका आचार्य विश्वेश्वर ने हिन्दी में सुलभ की है।

2. रामचरित मानस 1/20/4-6

यद्यपि नाम-महात्म्य पर कबीर, नानक इत्यादि तथाकथित निर्गुणमार्गी संतों ने भी पर्याप्त प्रकाश डाला है, तथापि तुलसी का सृजन, इस दिशा में, अतुलनीय है। उन्होंने अत्यंत सजग एवं बुद्धिगम्य शैली में 'नाम' और 'नामी' में 'नाम' को वरीयता प्रदान की है। संत कृपालसिंह उनकी यह अर्द्धाली प्रायः उद्धृत किया करते थे—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुन गाई ।।[1]

तुलसी ने रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली इत्यादि में नाम-माहात्म्य पर विशद सृजन किया है। 'नाम' निर्गुण-सगुण का सेतु है, संयोजक है, दुभाषिया है—

अगुन-सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय-प्रबोधक, चतुर दुभाषी ।।···
अगुन-सगुन दुई ब्रह्म-सरूपा। अकथ, अगाध, अनादि, अनूपा ।।
मोरें मत बड़ नाम दुहू ते। किए जेहिं जुग निज बल, निज बूतें ।।···
उभय अगम, जुग सुगम नाम तें। कहेऊं नाम बड़ब्रह्म, राम तें ।।[2]

तत्त्वतः नाम ब्रह्म का विग्रह है, आराध्य का प्रतीक है, शतशः अपरिहार्य है। नाम के बिना सूक्ष्म अथवा स्थूल किसी तत्त्व अथवा वस्तु का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध हो सकता। तुलसी के नाम-तत्त्व का जो विवेचन-विश्लेषण किया है, वह सार्वभौम एवं विराटतम है।

7. निर्गुण-सगुण का अद्वय

एक दारुगत, देखिय एकू। पावक-सम जुग-ब्रह्म-बिबेकू ।।[3]···
सगुनहिं-अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि, पुरान, बुध, वेदा ।।···
जो गुनरहित सगुन सोइ कैसें। जलु, हिम, उपल बिलग नहिं जैसें ।।[4]

तुलसीदास ने रामचरित मानस, विनयपत्रिका इत्यादि ग्रन्थों में निर्गुण-सगुण को मूलतः एवं तत्त्वतः एक ही माना है। काष्ठ में अव्यक्त अग्नि विद्यमान है, घर्षण द्वारा वह व्यक्त भी होता या हो सकता है। जिस प्रकार हिम, उपल और जल मूलतः एवं तत्त्वतः अभिन्न हैं, उसी प्रकार ब्रह्म के विविध स्वरूप। 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[5] तथा 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्'[6] की शाश्वत

1. रामचरित मानस 1/25/8
2. रामचरित मानस 1/20/8; 22/1-2, 5
3. रामचरित मानस 1/22/4
4. रामचरित मानस 1/115/1, 3
5. ऋग्वेद 1/164/46
6. ब्रह्मसूत्र (बेदांत-दर्शन) 3/2/14

तथा सनातन भारतीय विराटवादिता को गतिशील कर तुलसीदास ने राष्ट्र को संकीर्णता से बचाने का प्रशस्य कार्य सम्पादित किया है। उत्तरकांड में उन्होंने इस विराटवाद को बहुत ही ललित शब्दों में व्यक्त किया है—

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निरगुन-उपदेसा ।।[1]

तुलसीदास निर्गुण को नकारते नहीं। उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र इत्यादि परम तत्त्व के परम ग्रन्थ निर्गुण का विवेचन एवं प्रतिपादन करते हैं। तब, तुलसीदास उसे नकार कैसे सकते हैं? कोई ब्रह्मज्ञानी निर्गुण को नकारेगा नहीं। किन्तु वे सगुण की उपयोगिता का प्रतिपादन अवश्य करते हैं—

हिय निर्गुन, नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट-संपुट लसत तुलसी ललित ललाम ।।[2]

यदि निर्गुण में नकारात्मकता न होती, यदि निराकार में नकारात्मकता न होती, तो सगुण का विकास ही न होता, तो साकार की उपयोगिता ही न होती। निर्गुण-सगुण एवं निराकार-साकार एक-दूसरे के पूरक हैं; दोनों मिलकर ब्रह्म को यथासम्भव अधिकतम विवृत करते हैं कोई भी ब्रह्मज्ञानी, सगुण-साकार तत्त्व से परिचित होने की स्थिति में, उसके कलात्मक एवं व्यावहारिक महत्त्व को नकार नहीं सकता। सम्प्रति कबीर को अधिकतर लोग निर्गुणवादी-निराकार-वादी मात्र मानते हैं, जो उचित नहीं है, क्योंकि सिद्धांततः निर्गुणवादी-निरा-कारवादी होते हुए भी व्यवहारतः उन्होंने सगुनवादी-साकारवादी शब्दावली को अपनाया है, वैष्णव स्तुति की है, यत्र-तत्र सगुण-साकार की उपयोगिता से लाभ उठाने का परामर्श तक दिया है, ब्रह्म को इनके विवाद से परे घोषित किया है।

सरगुन की सेवा करो, निरगुन का करु ज्ञान।
निरगुन-सरगुन के परे रहै हमारा ध्यान ।।[3]

परम्परागत कबीरपंथी रीवां-नरेश विश्वनाथ सिंह (राज्यकाल 1778-97 वि०) ने कबीर के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'बीजक' की सगुण-रामपरक टीका की है।[4] परवर्ती एवं संकीर्ण साम्प्रदायिकों, गद्दीधरों एव वर्गीकरणवादियों ने कबीर के विराट्वादी रूप का विनाश करके उनके साथ भारी अन्याय किया है। जिस प्रकार तुलसी अधिकतर सगुणवादी होते हुए भी निर्गुणवाद का तात्त्विक महत्त्व स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार कबीर अधिकतर निर्गुणवादी होते हुए भी सगुण-वाद का व्यावहारिक महत्त्व स्वीकार करते हैं। उन्हें अपने गुरु रामानन्द से

---

1. रामचरित मानस 7/110/11
2. दोहावली 7
3. हिन्दी-नवरत्न (मिश्रबंधु) पृ० 403
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) पृ० 318

ɪगुण राम का मंत्र प्राप्त हुआ था। उसे वे नहीं छोड़ सकते थे। भले ही उसे वे निर्गुण रंग में भी रंग लेते हैं।

तुलसी का निर्गुण-निरूपण उपनिषदों का स्मरण कराता है, यद्यपि वह दाशरथि राम पर घटित किया गया है—

बिनु पद चलइ, सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम तरइ बिधि नाना ॥
आननरहित सकल रसभोगी। बिनु बानी बकता, बड़ जोगी ॥
तन बिनु परस, नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा ॥[1]

प्रस्तुत अर्द्धालियाँ विभावना अलंकार की दृष्टि से भी अतीव सम्पन्न हैं तथा उपनिषद् के विख्यात मंत्रों से अनुप्राणित हैं—

तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे तद्वंतिके।
तदंतरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्यबाह्यतः ॥[2]
एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः
सर्वव्यापी, सर्वभूतांतरात्मा।
कर्माध्यक्षः, सर्वभूताधिवासः,
साक्षी, चेता, केवलो निर्गुणश्च ॥[3]

'जल, हिम, उपल बिलग नहिं जैसे' की स्वतंत्र प्रतिध्वनि जयशंकर 'प्रसाद' तक प्रसरित है—

नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता,
कहो उसे जड़ या चेतन।[4]

प्रसाद ने तुलसी का जयजयकार करते हुए स्वयं को नाभादास, रहीम, रामू द्विवेदी, मयूर कवि, वेणीमाधवदास, रघुवरदास, हरिऔध, मैथिलीशरण, निराला इत्यादि कवियों की पंक्ति में सम्मिलित किया ही है—

राम छोड़कर और की जिसने कभी न आस की,
रामचरित मानस-कमल जय हो तुलसीदास की।[5]

---

1. रामचरित मानस 1/117/5-7
2. ईशावास्योपनिषद्
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/11
4. कामायनी 1/2
5. कानन-कुसुम, 'महाकवि तुलसीदास' कविता में।

8. रामचरित मानस : नाम-रहस्य

रामचरित मानस मुनिभावन। बिरचेउ संभु सुहावन, पावन।।···
रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा।।
तातें रामचरित मानस बर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर।।[1]

'रामचरित मानस' नामकरण स्वयं शिव ने किया था। उन्होंने रामचरित की रचना करके अपने मानस में रख लिया। जब उपर्युक्त काल एवं पात्र प्राप्त हुआ, तब उसे व्यक्त किया। पात्र स्वयं शक्ति या शिवा या पार्वती थीं। शिव के मानस से निःसृत रामचरित का रामचरित मानस अभिधान सर्वथा उपयुक्त है। इस महान् नाम- करण एवं इसके महानतम रहस्य में तुलसी की समन्वय-साधना उजागर हुई है; क्योंकि इसमें शैव, शाक्त, वैष्णव, सभी परितुष्ट हो सकते हैं। व्यापकतम एवं गम्भीरतम प्रचारवाद की दृष्टि से भी यह नामकरण अद्वितीय एवं अतुलनीय है। 'रामचरित मानस' के अभिधान का एक अर्थ और भी है। यह विशद मानस-रूपक द्वारा प्रतिपादित भी किया गया है। मानस का अर्थ नैसर्गिक जलाशय (झील) भी होता है। डॉ० ईश्वरी प्रसाद जैसे विश्रुत इतिहासकार ने रामचरित मानस का अनुवाद 'राम के कार्यों की झील' किया है।[2] चरित शब्द का वास्तविक अर्थ जीवन होता है, जो उत्तर रामचरितम्, हर्षचरितम्, विक्रमांक-देवचरितम् प्रभृति अनेकानेक संस्कृत-ग्रन्थों के शीर्षकों से भी स्पष्ट है। चरित्र शब्द का वास्तविक अर्थ कार्य अथवा चाल-ढाल अथवा आचरण होता है। इस प्रकार, रामचरित मानस का अर्थ 'राम के जीवन का मानसरोवर' भी है। 'जीवन' शब्द का एक अर्थ जल होता ही है। महान् मानस-रूपक के कारण यह अर्थ स्वयं तुलसीदास द्वारा अनुमोदित प्रतिपादित भी है। डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने 'चरित' को 'चरित्र' का पर्यायवाची मानकर अनुवाद किया है जो, यत्किंचित् विवादस्पद होते हुए भी, ठीक-सा है। 'गोस्वामी तुलसीदास' ग्रन्थ के विद्वान् लेखक डॉ० श्यामसुन्दरदास के मतानुसार, विरक्त महाकवि के विराट् पर्यटन में मानस-सरोवर (मानसरोवर) के दर्शन ने जो गहन-गम्भीर प्रभाव डाला था, रामचरित-मानस के शीर्षक में वह व्यंजित हुआ है। यद्यपि यह उपपत्ति तुलसी पर रचित परवर्ती एवं प्रक्षिप्त ग्रन्थों से प्राप्त सूचना पर आधृत है, तथापि महाकवि के संत एवं पर्यटक जीवन की दृष्टि से सर्वथा विचारणीय है। इससे रामचरित-मानस के शीर्षक-गौरव को शीर्षक-सौंदर्य भी प्राप्त हो जाता है। मानस-रूपक इसे भी साधार सिद्ध करता है। 'रामचरित मानस का शीर्षक-दर्शन एवं शीर्षक-सौंदर्य' एक उत्कृष्ट निबन्ध का विषय है।

---

1. रामचरितमानस 1।34।9, 11-12
2. 'हिस्ट्री ऑफ इंडिया' में 'द लेक ऑफ द डीड्स ऑफ रामा', पृ० 709

'मानस' शब्द के श्लेष (मन, जलाशय) का मनोहारी, किन्तु गम्भीर प्रयोग करने में तुलसीदास अतीव सफल हैं। सम्भवतः उन्हीं के अनुकरण में केशवदास ने 'रामचन्द्रिका'[1] का शीर्षक श्लेष सम्पन्न रखा है। पृथ्वीराजरासो एवं पद्मावत के शीर्षक नायक एवं नायिका को स्पष्टतः व्यक्त करते हैं। प्रियप्रवास का शीर्षक घटनामूलक है, अपने पूर्ववर्ती महाकाव्यों पदमावत, रामचरित मानस एवं रामचन्द्रिका के सदृश्य अभिधानमूलक नहीं। साकेत का शीर्षक स्थानमूलक है। वैसे, साकेत नाम बौद्धकाल में पड़ा था और वैदिककाल के कथानक से इसे संपृक्त करना कालदोषमय है। कामायनी का शीर्षक अतीव भ्रामक है, क्योंकि वह रखा मनु की पत्नी श्रद्धा पर गया है; किन्तु उन्हें बलात् कामगोत्रजा बनाकर, जबकि कामगोत्रजा श्रद्धा मनु की पत्नी न होकर ऋग्वेद की एक ऋषिका है।[2] महान् वेदभाष्कर सायण के अनुसार, ये कामगोत्रजा थीं। यों, छाया अथवा प्रतीक की दृष्टि से कोई भी नारी कामायनी कही जा सकती है। किन्तु, प्रसाद ने ऐसा कोई इंगित नहीं किया। अतएव, कामायनी के शीर्षक में प्रसाद ने मनु पत्नी श्रद्धा एवं ऋषिका श्रद्धा का निराधार दोगड्डा प्रस्तुत कर दिया है। 'कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार'[3] प्रसाद को बहुत ही अधिक प्रिय था। 'स्कंद-गुप्त नाटक में उन्होंने कालिदास-मातृगुप्त और कुमारदास-धातुसेन के दो-दो दोगड्डे प्रस्तुत किए हैं, जिनमें से प्रथम को, कालांतर में, 'छोटे प्रसाद' मोहन राकेश ने लपक लिया।[4] 'अजातशत्रु' नाटक में मागंधी-श्यामा-आम्रपाली का तिगड्डा तो कल्पना के अधिकार को स्वेच्छाचार को पराकाष्ठा पर ही पहुंचा देता है। सिनेमाघरों में फ़िल्मों के 'डबल रोल' से भी एक छलाँग आगे की यह चीज भी कोई 'छोटा प्रसाद' यथासमय अवश्य लपकेगा ! तुलसीदास ने अपने शीर्षकों में तथ्य की अवहेलना कहीं नहीं की। रामचरित मानस का मनोहारी शीर्षक अपनी सार्थकता और कलात्मकता में अप्रतिम है।

रामचरित मानस के श्रोता-वक्ता चार हैं। ग्रंथ के अंत तक उनके उल्लेख प्राप्त होते रहते हैं। ये हैं—शिव-पार्वती, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, काकभुशुंडि-गरुड़ और तुलसीदास-पाठक। इन चारों का रूपक-सम्पन्न उल्लेख तुलसी ने स्वयं भी कर दिया है—

सुठि, सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ एहि पावन, सुभग सर घाट मनोहर चारि ॥[5]

---

1. 'रामचन्द्र की चंद्रिका बरनत हौं बहु छंद'।
2. कामायनी 'आमुख'।
3. वही।
4. 'आषाढ़' का एक दिन' में।
5. रामचरित मानस 1/36

शिव-पार्वती के द्वारा शैव-शाक्त, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज के द्वारा ऋषि-मुनि (ज्ञानी-योगी), काकभुशुंडि-गरुड़ के द्वारा भक्त-वैष्णव (गरुड़ विष्णुवाहन हैं) को रामचरित-संपृक्त करके तुलसीदास ने अपने महाकाव्य को सार्वभौमता से निष्पन्न कर दिया है। देव, देवी, ऋषि, मुनि, ज्ञानी, योगी, भक्त, विष्णुवाहन इत्यादि सभी को रामचरित मानस से सम्बद्ध कर तुलसीदास ने महतोमहीयान् समन्वयवाद एवं प्रसार वाद की सृष्टि की है।

9. समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं

जौं अहिसेज सयन हरि करहीं। बुध कछु तिन्हकर दोषु न धरहीं ।।
भीने, कृसानु सर्बरस खाहीं। तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं ।।
सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई। सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई ।।
समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं। रबि, पावक, सुरसरि की नाईं ।।[1]

तुलसी ने शिव-पार्वती-विवाह के प्रकरण में देवर्षि नारद द्वारा हिमवंत के प्रति कथित प्रस्तुत संदर्भ में अर्थवाद के एक तथ्य को सबल निदर्शनों से पुष्ट किया है-उचित-अनुचित सामान्यजन को प्रभावित करता है, महज्जन को नहीं। देव विषपायी होने पर महादेव बनता है, सामान्यजन शव। यहाँ दो चौपाइयों में विष्णु, सूर्य, अग्नि और गंगा के निदर्शन देकर असाधारण संदर्भ में उचित-अनुचित अथवा लाभप्रद-हानिप्रद की सीमाओं से ऊपर उठने का आह्वान किया गया है। तुलसी जैसे उत्कृष्ट मर्यादावादी एवं उत्कृष्ट लोक मंगलवादी ने संदर्भ के औचित्य के अनुरूप ये ज्वलंत एवं जीवंत व्यवहार वादी विचार व्यक्त किए हैं, जिससे जीवन में उनकी गहरी पैठ व्यंजित होती है। ऐसे कथन अर्थवादबद्ध हैं, सार्वभौम नहीं। जो महानुभाव इन्हें सार्वभौम समझते हैं, वे ग्रंथ के अध्ययन के अभाव की सूचना अनायास ही दे देते हैं। यदि रावण राम को अपशब्द कहता है, तो यह संदर्भगत वर्णन है, तुलसी का उद्गार नहीं। इसी प्रकार, यत्र-तत्र-सर्वत्र अर्थवादी विचार तुलसी के वैयक्तिक उद्गार नहीं माने जा सकते। खेद है कि उनके अनेक विचारों के तलस्पर्शी अर्थ को न समझने के कारण कतिपय वीचिवादी या न्यस्तस्वार्थवादी व्यक्ति तिल के ताड़ बनाते रहते हैं, राई को पर्वत में परिणत करते रहते हैं।

10. विदाई

जननी उमा बोलि तब लीन्ही। लै उछंग सुंदर सिख दीन्ही ।।
करहु सदा संकर-पद-पूजा। नारिधरमु पति देउ न दूजा ।।

---

1. रामचरित मानस 1/68/5-8

बचन कहत भरे लोचन बारी। बहुरि लाइ उर लीन्हि कुमारी ॥
कत बिधि सृजीं नारि जग माही। पराधीन सपने हुँ सुखु नाहीं ॥[1]

भारत में विवाह एक धार्मिक संस्कार रहा है, नर-नारी के मध्य एक सामाजिक समझौता नहीं। संसार के किसी देश में विवाह का भारत-जैसा पावन एवं समर्पणमय स्वरुप नहीं दृष्टिगोचर होता। भारतीय विवाह यौन उछृं-खलता का अवरोधक है, जिसमें नारी समर्पण के अधिकार का प्रयोग करती है और पुरुष ग्रहण के कर्त्तव्य का अतएव, भारत में कन्यादान सर्वोपरि दान माना जाता है। विश्व में अन्यत्र ऐसा कुछ नहीं प्राप्त होता। तभी तो इब्नेब-तूता जैसे विदेशी यात्री अपने 'असोयबुल असफ़ार' जैसे ग्रंथों में 'सती' की महिमा के समक्ष नतमस्तक हो चुके हैं, टॉड जैसे विदेशी शासक अपने 'राज-स्थान' जैसे ग्रंथों में 'जौहर' के समक्ष अभिभूत हो चुके हैं, कबीर और जायसी जैसे मुसलमान संत और कवि अपने 'बीजक' और 'पदमावत' जैसे ग्रंथों में 'पतिव्रत के समक्ष विनत हो चुके हैं! मनु ने अपनी 'स्मृति' में "यत्र नायस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवताः" का आदेश भी दिया है, नारी के शैशव से वार्द्धक्य तक पुरुषानुशासित रहने का प्रतिदान किया है। लक्ष्मण रेखा नारी की मर्यादा सीमा की प्रतीक है। इन परिस्थितियों में कन्या की विदाई नयनों की गंगा बन जाती है। द्विवेदी युग के भावयोगी निबंधकार सरदार पूर्णसिंह ने अपने एक महान् निबंध 'कन्यादान' को 'नयनों' की 'गंगा' भी कहा है। भारतीय संस्कृति के महान् मर्मी तुलसी ने रामचरित मानस के पार्वती और सीता के विवाह-प्रसंगों में विदाई के प्राणस्पर्शी वर्णन किए हैं। गीतावली, जानकी-मंगल और पार्वती मंगल में भी विदाई के प्रभावती वर्णन प्रांप्त होते हैं। डॉ० राममनोहर लोहिया तुलसी की इस अर्द्धाली की संवेदनशीलता और भावुकता पर मुग्ध थे और इसे उद्धृत कर तुलसी के नारी निंदक होने के आरोप का प्रत्याख्यान किया करते थे।

कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेंहुँ सुखु नाहीं ।।

'यशोधरा' के कवि मैथिलीशरण ने इन महान् संवेदनशील उद्‌गारों से प्रेरणा प्राप्त की है—

अबला-जीवन ! हाय, तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

उक्त अर्द्धाली का यह रूप जनता में बहुत प्रचलित है—

'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं। करि बिचार देखहु मन माहीं।।'

स्वतंत्रता-संग्राम के विषय काल में यह अर्द्धाली प्रेरणा का स्रोत बन गई थी। इससे कोटि-कोटि व्यक्ति प्रेरित एवं प्रभावित हुए थे। जिस व्यक्ति ने इसे

1. रामचरित मानस 1/101/2-5

यह कल्पना सम्पन्न रूप प्रदान किया था, वह जनमानस का महान् मर्मी अवश्य रहा होगा। उसने तुलसी को भारत के स्वतंत्रता-संग्राम से भी जोड़ दिया! तिलक ने गीता को भारत के स्वतंत्रता-संग्राम से जोड़ा ही था! उसने मानस को भी जोड़ दिया! भारत के समग्र स्वतंत्रता-संग्राम-काल (1857-1947 ई०) के अग्रणी एवं राष्ट्र के हृदय उत्तर प्रदेश के महानगर कानपुर (वस्तुतः नाना-राव नगर या पेशवानगर) का 'वीर भारत' नामक दैनिक इस अर्द्धाली का सिद्धांत-वाक्य के रूप में प्रयोग करता रहा है। प्रखर चिंतक, राष्ट्र भक्त एवं समाजवादी नेता डॉ० राममनोहर लोहिया इस अर्द्धाली की भी चर्चा किया करते थे।

11. अवतारवाद

जब-जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र, धेनु, सुर, धरनी॥
तब-तब प्रभु धीर बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन-पीरा॥
असुर मारि, थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति-सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम-जन्म कर हेतु॥[1]

अवतारवाद मध्यकालीन हिंदू धर्म, दर्शन, काव्य, संगीत, चित्रकला, मूर्ति-कला एवं शिल्प का प्राणतत्त्व रहा है। यद्यपि मध्यकाल की राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ अवतारवाद के नितांत अनुकूल थीं, तथापि इसका उद्-भव एवं विकास प्राचीनकाल में हो चुका था। मैं ऋग्वेद के सुन्दर नासिक वाले युवा इन्द्र, पुरोहित-ऋत्विज-होता-रत्नधारी अग्नि,[2] सहस्रशीर्ष-सहस्रचरण 'पुरुष'[3] इत्यादि में सगुणवाद या साकारवाद या अवतारवाद का उद्गम मानता हूँ। सामान्यतः समग्र ऋग्वेद और विशेषतः उसके पुरुष-सूक्त में सगुणवाद-साकार वाद, अवतारवाद का मूल स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। व्यक्तिगत दृष्टि से, 'पुरुष-सूक्त' के द्रष्टा ऋषि नारायण सगुणवाद-साकारवाद के आदि-प्रतिपादक हैं। मुण्डकोपनिषद् इत्यादि पर भी ऋग्वेद और यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त का प्रभाव पड़ा है, जिसमें अग्नि परमात्मा का मस्तक, चन्द्र-सूर्य नेत्र, दिशाएं श्रुति, वेद

---

1. रामचरित मानस 1/120/6-8; 121
2. ओ३म् अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
   होतारं रत्नधातमम्॥
3. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
   स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्॥

वाणी, वायु प्राण और समग्र जगत् हृदय है; उसके चरणों से पृथ्वी उत्पन्न हुई है और वह समग्र प्राणियों का अन्तरात्मा है ।[1] महाभारत में भी इसी विराट् ब्रह्म की वन्दना की गई है ।[2] महाभारत के ही एक अंश श्रीमद्भगवद् गीता[3] के विश्वरूप दर्शन योग नामक एकादस अध्याय में सगुणवाद-साकारवाद-अवतारवाद अपना महान् विकास प्राप्त करते हैं । अतएव, भागवत इत्यादि पुराणों में व्याप्त अवतारवाद वेदमूलक भी है, उपनिषदमूलक भी, महाभारतमूलक भी । महाभारत का पंचवेद कहा जाना इस दृष्टि से भी सर्वथा सार्थक है । वेद सगुणवाद-साकारवाद-अवतारवाद के बीजग्रंथ हैं, उपनिषद अंकुरग्रंथ, महाभारत पुष्पग्रंथ है, पुराण फलग्रंथ हैं । उपनिषद् के 'अहं ब्रह्मास्मि'[4] एवं 'तत्त्वमसि'[5] प्रभृति सूत्र ही अवतारवाद के रूप में पल्लवित एवं पुष्पित हुए हैं । सगुण से साकार और साकार से अवतार की दर्शन-यात्रा भारतीय संस्कृति की एक महत्तम उपलब्धि रही है ।

यदि कोई मुझसे वेद के दर्शन को एक शब्द में व्यक्त करने को कहे, तो मेरा उत्तर होगा, देवसान्निध्यवाद । वैदिक देवसान्निध्यवाद ही औपनिषदिक अहंब्रह्मास्मिवाद के रूप में विकसित हुआ । औपनिषदिक अहंब्रह्मास्मिवाद ही पौराणिक अवतारवाद के पराकाष्ठा-रूप तक पहुँचा । अवतारवाद अद्वैतवाद का विकास है । इसका प्रकट प्रमाण यह है कि अवतारवाद ने मत्स्य, कूर्म, वराह इत्यादि मानवेतर रूपों एवं नृसिह जैसे मानव-मानवेतर-समन्वित रूप (मिस्र के स्फिंक्स, मेसोपोटामिया के निमरूद, यूनान के पक्षधर अपोलो-एथेना इत्यादि में भी) को भी सहर्ष समाहित कर सर्वात्मवाद का सम्मान किया है । मत्स्यपुराण, कूर्मपुराण, वराहपुराण, गरुड़पुराण, इत्यादि तथा विष्णु पुराण, स्कंद पुराण, पद्म पुराण, भागवत पुराण इत्यादि एक-दूसरे के पूरक-ग्रन्थ हैं तथा सर्वात्मवाद अथवा अद्वैतवाद का कथागत रोचकता और ग्रहणगत सरलता के साथ प्रभावी प्रतिपादन करते हैं । यही कारण है कि अवतारवाद में वेद और उपनिषद् को सम्पूर्ण श्रद्धा प्रदान की गई है । अवतारवाद मानव की महतोमहीयानता का दर्शन है, 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'[6] का विशद रूपक है । अवतारवाद

---

1. अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषीचन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
   वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतांतरात्मा ।।
2. यस्याग्निरास्यं द्योर्मूर्द्धा खं नाभिः चरणं क्षितिः ।
   सूर्यश्चक्षुः दिशः श्रोत्रं तस्य लोकात्मने नमः ।।
3. भीष्म-पर्व के पच्चीसवें अध्याय से आरम्भ ।
4. बृहदारण्यकोपनिषद् ।
5. छांदोग्योपनिषद् ।
6. महाभारत ।

ने हिंदू धर्म की जैन धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम और ईसाई धर्म से रक्षा की है। निवृत्ति और प्रवृत्ति के प्रयाग राम और कृष्ण की तुलना में महावीर और बुद्ध अपेक्षाकृत अधिक निवृत्तिपरक तथा एशु और मुहम्मद अपेक्षाकृत अधिक प्रवृत्ति-परक सिद्ध होते हैं। राम और कृष्ण का सम्मोहक और पूर्ण रूप समग्र विश्व को प्रभावित कर चुका है और कर रहा है।

प्राचीनकाल के परवर्ती भाग में ही आस्था सम्पन्न अवतारवाद के प्रतीक-द्वय राम-कृष्ण ने अनास्थामय व्यक्तिवाद के प्रतीक-द्वय महावीर-बुद्ध के प्रभाव को समाप्त प्राय कर डाला था। मध्यकाल में इन्हीं राम-कृष्ण ने मुहम्मद और अली के भयावह प्रभाव को सीमित रखा। अवतारवाद आशावाद का पर्याय है—जब धर्म पर संकट पड़ेगा, तब स्वयं परमात्मा अवतरित होकर उसकी रक्षा करेंगे! अतएव, अवतारवाद हिंदू धर्म का एक महत्तम तत्त्व बन गया है। आधुनिक काल में भी अवतारवाद ने अन्धविश्वासमूलक ईसाई प्रचारवाद एवं धर्मपरिवर्तनवाद से हिंदू धर्म की रक्षा की है।

विश्व-दर्शन की महानतम गीतिका में कृष्ण ने अपने प्रकट होने के समय और कारण को जिन स्पष्ट शब्दों में व्यक्ति किया है, तुलसीदास ने उनसे प्रेरणा प्राप्त की है।[1] अतएव, तुलसीदास की अवतारवाद-मीमाँसा सर्वथा साधार है, संस्कृति सम्मत है। तुलसी के राम सर्वथा सोद्देश्य अवतार-रूप में भी अलिप्त ब्रह्म बने रहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे अभिनेता पात्र-कार्य करते हुए भी अपने विशिष्ट स्वरूप से रहित नहीं होता—

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप।।
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ-सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ।।[2]

तुलसी का उक्त अवतार-दर्शन उपनिषद-सम्मत भी है। उपनिषद् ब्रह्म को पूर्ण मानते हैं। वे ब्रह्मोद्भूत होने के कारण इस जगत् को भी पूर्ण मानते हैं। किंतु ब्रह्म की पूर्णता पर इस जगत् की पूर्णता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शून्य से शून्य घटाने पर भी शून्य शून्य ही रहता है, घटता या बढ़ता नहीं। ब्रह्म न बढ़ता है, न घटता है, न बनता है, न बिगड़ता है। वह सर्वव्यापी होते हुए भी

1. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

2. रामचरितमानस 7 72 क-ख।

सर्वोपरि है ।[1] कुरान में, सम्भवत: उपनिषद् के ब्रह्मवाद की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रेरणा के परिणामस्वरूप, ऐसा उद्गार भी प्राप्त होता है, जिसमें सृष्टि के नियामक एवं नियंता के लिए कहा गया है, 'न कोई उससे पैदा हुआ और न वह किसी से पैदा हुआ ।'[2] हिंदी के सर्वश्रेष्ठ सूफ़ी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने महाकाव्य 'पदमावत' में इस विरोधाभास से अलंकृत आयत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

जना न काहु, न कोइ ओहि जना । जहँ लगि सब ताकर सिरजना । ।[3]

जब परमात्मा सृष्टिकर्ता होने पर भी सृष्टि निर्लिप्त है, सर्व समर्थ है, तब अवतार कैसे नहीं ले सकता ? उसके अवतार के अधिकार में व्यवधान कौन डाल सकता है ? अतएव, अवतारवाद का प्रत्याख्यान, प्रकारांतर से, आस्था का प्रत्याख्यान है ।

12. विदेह की सदेहता

कहहु नाथ, सुन्दर दोउ बालक । मुनि कुल तिलक कि नृपकुल पालक ।।
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा । उभय बेष धरि की सोइ आवा ।।
सहज विराग रूप मनु मोरा । थकित होत जिमि चन्द चकोरा ।।
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा ।।[4]

इन मनोहारी किंतु गहन चौपाइयों में तुलसीदास ने सौंदर्य की प्रकट दिव्यता के तात्कालिक प्रभाव का स्वाभाविक चित्रण किया है । जनक विदेह थे । किंतु राम-लक्ष्मण में नूरे इलाही का साक्षात्कार कर सदेह हो गये—आकार को देख कर आकार आनन्दित हो उठा ! सहज प्रवृत्ति की पवित्रता ने आरोपित निवृत्ति वहनशीलता को त्यागकर पुलक का अनुभव प्राप्त किया ! निर्गुण असम्भाव्य है । निर्गुण कहते ही निर्गुणता का गुण आरोपित हो जाता है, नकारात्मकता का गुण व्यंजित हो जाता है । निराकार नकारात्मक है । निराकार कहते ही आकारी अपरिचय की दुरूहता में व्यस्त हो जाता है । सगुण सम्भाव्य है, सहज है, सरल है । साकार सकारात्मक है, व्यक्त है, साधारणीकृत है । सूरसागर में सूरदास ने इन्हीं कारणों से सगुण-लीलापद गाए हैं ।[5] 'अबिगत गति कछु कहत न आवै,

---

1. ॐपूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
   पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
2. सूरे इख़लास, आयत 3 ('तर्जुमा कुरान शरीफ़' अनुवादक मौलवी अहमद बशीर)
3. जायसी-ग्रंथावली (सं० रामचन्द्र शुक्ल), पदमावत, पाठ भाग, पृष्ठ 3
4. रामचरित मानस 1 215 1-3,5
5. रूप, रेख, गुन, जाति, जुगुति बिनु निरालम्ब मन चक्रत धावै ।
   सब बिधि अगम बिचारहि, ताते सूर-सगुन-लीलापद गावै ।।
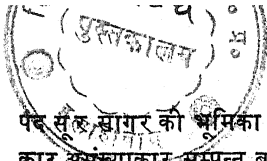
पद सूर सागर की भूमिका है। निर्गुण व्यक्त ब्रह्म को अव्यक्त बनाता है। निराकार असंख्याकार सम्पन्न ब्रह्म को दुर्बोध बनाता है। सगुण ब्रह्म को स्पष्ट करता है। साकार ब्रह्म का साधारणीकरण करता है। राम और कृष्ण में प्रतीकबद्ध अवतारवाद ब्रह्म-दर्शन का परम विकास है। अवतारवाद जीवात्मा और परमात्मा के व्यक्त एकीकरण का महान् दर्शन है। उसकी अभूतपूर्व लोकप्रियता सर्वथा सकारण और शतशः मनोवैज्ञानिक है।

रामचरित मानस, गीतावली और जानकी-मंगल में तुलसीदास ने ब्रह्म ज्ञानी जनक को राम के दर्शन से पुलकित कराके निर्गुण-निराकार पर सगुण-साकार को वरीयता प्रदान कराई है। भ्रमरगीत-परम्परा के सूरदास, नन्ददास, जगन्नाथ दास, 'रत्नाकर' इत्यादि महान् कवियों ने ब्रह्मज्ञानी उद्धव को प्रेमविह्वल रूप में परणित कर ऐसा ही किया है। सूर ने व्यंग्य[1] से, नंददास ने तर्क[2] से, रत्नाकर ने व्यावहारिकता[3] से उद्धव को अभिभूत कराया है। तुलसी ने भूमि का विहीन सहज कथाक्रम में जनक को कहीं अधिक कौशल से अभिभत कराया है। इस संदर्भ में उनकी गहन सोद्देश्यता का पता तक नहीं चल पाता !

तुलसी के राम समग्र गुणों के आगार हैं—सगुण के सम्पूर्ण स्वरूप, सगुण के सम्पूर्ण अर्थ। तुलसी के राम का आकार शक्ति, शील और सौंदर्य का तीर्थराज प्रयाग है—साकार का सम्पूर्ण स्वरूप, साकार का सम्पूर्ण अर्थ। यही कारण है कि उनके राम को देखकर सभी अभिभूत हो जाते हैं, चाहे वे महादेव शिव हों या ब्रह्मज्ञानी जनक या स्वयं अवतार परशुराम या शत्रु कुम्भकर्ण। भक्तों का अभिभूत होना तो विजयी होना ही है! योगी शिव, ज्ञानी याज्ञवल्क्य, भक्त काकभुशुण्डि और कर्मी तुलसी तो राम कथा वक्ता ही हैं।

---

1. निरगुन कौन देस को बासी ?
   को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी ?
   कैसो बरन, भेस है कैसो, केहि रस में अभिलासी ?···

   (सूरसागर)

2. जो उनके गुन नाहि, और गुन भए कहाँ ते ?
   बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ ते ?···

   (भँवरगीत)

3. कर बिनु कैसे गाय दूहि है हमारी वह,
   पद बिनु कैसे नाचि, थिरकि रिझाइ है ?
   कहै रतनाकर बदन बिनु कैसे चाखि
   माखन, बजाय बेनु, गोधन गवाइ है ?···

   (उद्धव शतक)

सौंदर्य का इंद्रजाल मरुधर्म इस्लाम तक पर व्याप्त है। कुरान के सूरे दहर[1] इत्यादि में जन्नत का जो नक्शा खींचा गया है, उसमें भरे प्याले लिए अतीव सुन्दर युवजन तक विद्यमान हैं! हूरें तो खैर हैं ही! किन्तु उसमें स्थूल कामुकता का आग्रह स्पष्ट है, जो मूलत: कबीला-मजहब होने के कारण अति कामुक अरब मस्तिष्क को अभिभूत करने के लिए कल्पित किया गया था। तुलसी के राम के सौंदर्य-चित्रण में जो सूक्ष्म आध्यात्मिकता एवं गहन शांति परिव्याप्त है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। निराकार-साकार की निरर्थकता-सार्थकता उर्दू के दो शायरों नासिख़ और नसीम की हास्य-व्यंग्य-वार्ता के एक शेर में बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है, जिसमें यह कहने पर कि बुत परस्ती के कुफ़्र के प्रतीक मंदिर को ध्वस्त कर शेख़ ने पाक मस्जिद खड़ी कर दी है, उत्तर मिलता है कि पहले तो कुछ था भी लेकिन अब सब सपाट-बारहबाट हो गया और ऐसा दीखता भी है।[2] रामनरेश त्रिपाठी ने कविता-कौमुदी (उर्दू) में इस घटना का सुन्दर उल्लेख किया है।

सगुण-साकार में सुस्पष्टता और कलात्मकता के कारण सौंदर्य बोध को अपार परितोष प्राप्त होता है। जीवात्मा सौंदर्य सूत्र प्राप्त कर परमात्मा का साक्षात्कार सुगमतापूर्वक कर लेता है। अतएव, तुलसीदास यत्र-तत्र-सर्वत्र सगुण-साकार के प्रकट प्रभाव को वरीयता प्रदान करते रहते हैं।

इस अवतरण में संदेह अलंकार का उत्कृष्ट प्रयोग प्राप्त होता है।

13. जनक का उपवन

भूप बागु बर देखेउ जाई। जहँ बसन्त रितु रही लोभाई।।
लागे बिटप मनोहर नाना। बरन-बरन बर बेलि-बिताना।।
नव पल्लव; फल, सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए।।
चातक, कोकिल, कीर, चकोरा। कूजत बिहग, नटत कल मोरा।।
मध्य बाग सर सोह सुहावा। मनि सोपान बिचित्र बनावा।।
बिमल सलिल, सरसिज बहुरंगा। जल खग कूजत, गुंजत भृंगा।।[3]

तुलसीदास जीवन के विराटवादी द्रष्टा-स्रष्टा महाकवि हैं। अतएव, जीवन की प्रेरक शक्ति प्रकृति के अनेकानेक वर्णन एवं चित्रण करना उनके लिए सर्वथा स्वाभाविक है। प्रकृति रहित जीवन यंत्रागार मात्र है। प्रकृतिमय जीवन काव्या-

---

1. 'तर्जुमा क़ुरान शरीफ़', पृष्ट 571
2. शेख़ ने मस्जिद बना मिस्मार बुतख़ाना किया।।
   तब तो कुछ था भी मगर अब साफ़ वीराना किया।।
3. रामचरितमानस 1/226/3-8

गार है। विश्व के आदि ग्रंथ ऋग्वेद में प्रकृति के नाना जड़-चेतन उपादानों यथा अग्नि, मरुत्, नदी, वन, वृषभ, अश्व इत्यादि के सर्वोच्चस्तरीय दिव्य वर्णन आद्यंत प्राप्त होते हैं। मैं ऋग्वेद को प्रकृति का महाकाव्य मानता हूँ। यदि प्रकृति के कवि वर्ड्स्वर्थ ऋग्वेद पढ़ पाते, तो गहनतर-महत्तर द्रष्टा-सृष्टा होते! वाल्मीकि ने रामायण में बहुत ही सुन्दर आलम्बनात्मक, उद्दीपनात्मक उपदेशात्मक एवं अलंकृत प्रकृति वर्णन किए हैं। रामायण का सुन्दरकांड तो प्रकृति के कलात्मक वर्णन की दृष्टि से अतुलनी यही है। कालिदास प्रेम, सौंदर्य और प्रकृति के कवि हैं। उनका प्रत्येक ग्रन्थ सुन्दर प्रकृति वर्णनों से सम्पन्न है। हिंदी के पृथ्वीराज रासो, सूरसागर इत्यादि ग्रन्थों में प्रकृति वर्णन अच्छे स्तर का हुआ है, जो उद्दीपनात्मक है। कबीर, जायसी इत्यादि ने प्रकृति के उपदेशात्मक रहस्यात्मक, उद्दीपनात्मक इत्यादि वर्णन अच्छे स्तर के किए हैं। किन्तु तुलसी के प्रकृति वर्णन उनके समय तक की हिंदी-कविता में सम्भवत: सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अपने बृहत्तम काव्य-द्वय रामचरित मानस और गीतावली में उन्होंने सुन्दर प्रकृति वर्णन किए हैं। महाकाव्य होने के कारण मानस के अधिकांश प्रकृति वर्णन उद्दीपनात्मक हैं। किन्तु किष्किधाकांड में, अध्यात्म-रामायण के सदृश, उत्कृष्ट उपदेशात्मक प्रकृति वर्णन भी प्राप्त होता है। गीतावली के अनेक प्रकृति वर्णन आलम्बनात्मक माने जा सकते हैं; क्योंकि गीति काव्य में प्रत्येक पद अथवा छन्द अपने-आप में पूर्ण होता है, किंतु तुलसी रस अथवा भक्ति रस के अंगी रस होने के कारण उनके उद्दीपनात्मक होने पर तर्क किया जा सकता है। गीतावली का चित्रकूट-चित्रण समग्र हिंदी-साहित्य के सर्वोत्तम प्रकृति चित्रणों में एक है।

जनक के उपवन में वसंत ऋतु का लुभा जाना उसकी सर्वदा सम्पन्न रहने वाली स्थिति को व्यंजित करता है। इस उपवन में शिशिर का आगम नहीं! नाना अनुप्रासों, प्रतीप इत्यादि अलंकारों से सम्पन्न इस वर्णन के 'कूजत बिहग, नटत कल मोरा' एवं जलखग कूजत, गुंजत भृंगा' अंशों में ध्वनि बिम्ब अतीव मनोहारी हैं। इस वर्णन का स्तर कालिदास का-सा है। इसके आधार पर सुन्दर चित्र रचना की जा सकती है।

14. सौंदर्य की अनिर्वचनीयता

एक सखी सिय-संग बिहाई। गई रही देखन फुलवाई॥
तेहिं दोउ बन्धु बिलोके जाई। प्रेमबिबस सीता पहिं आई॥

तासु दसा देखी सखिन्ह पुलकगात, जलु नैन।
कहु कारनु निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बैन॥

देखन बागु कुँअर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए ।।
स्याम-गौर किमि कहौं बखानी। गिर अनयन, नयन बिनु बानी ।।[1]

यह सौन्दर्य-योग है, सौन्दर्य-दर्शन है; सौन्दर्य-वर्णन नहीं, सौन्दर्य-चित्रण नहीं। इसमें कोई ईहा नहीं, ईप्सा नहीं, स्पृहा नहीं; केवल विशुद्ध अनुभूति है, केवल सहज अभिव्यक्ति है। मृग के सौन्दर्य को अहेरी नहीं, चितेरा देख सकता है। हंस के सौन्दर्य को निषाद नहीं, कवि देख सकता है। स्पृहा का स्पर्श सौन्दर्य को भाव-स्खलित कर कामना का रूप दे देता है। तुलसी का सौन्दर्य-दर्शन अतुलनीय है। जनकपुर हो या जनकोपवन या स्वयंवरस्थल, राम के अलौकिक सौन्दर्य और निर्दोष रूप की भूरि-भूरि प्रशंसा करने वाली कोई सुन्दरी उनको अपने लिए नहीं, सीता के लिए चाहती है। इन महान् वर्णनों में कहीं आवेश नहीं, उद्वेग नहीं, अभाव नहीं। इन वर्णनों के द्वारा तुलसी ने शृंगार रस का शृंगार किया है। वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म-रामायण इत्यादि ग्रंथों में जन कोपवन, स्वयंवरस्थल इत्यादि के वर्णन नहीं किए गए। इन वर्णनों की भव्य कल्पना परवर्ती प्रसन्न-राघव नाटक में की गई है। तुलसी की महान सौन्दर्य-दृष्टि ने इन्हें 'न भूतो, न भविष्यति' का स्तर प्रदान कर दिया है।

'पुलकगात, जलु नैन' सौन्दर्य-दर्शन की पराकाष्ठा का बिम्ब है। 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी' इस बिम्ब की वाणी है। जिस वाणी से वर्णन सम्भव माना जाता है, उसने उस शोभा को देखा नहीं! जिन नेत्रों ने उस शोभा को देखा है, उन्हें वाणी नहीं प्राप्त! अतएव, उस शोभा का वर्णन सम्भव कैसे हो सकता है? इन सोलह मात्राओं में तुलसी ने सौन्दर्य-दर्शन से उत्पन्न आनन्द की जो पावन सृष्टि की है, वह संसार-साहित्य में अतुलनीय है।

15. ध्वनि बिम्ब

कंकन, किंकिनि, नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदयँ गुनि ।।
मानहुँ मदन दुंदुभि दीन्ही। मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्ही ।।[2]

इस महान चौपाई में कोमल-कांत शृंगार रस को ध्वनि-बिम्ब से संपृक्त कर दिया गया है। पहले मैंने 'शृंगाररस को ध्वनि-बिम्ब में आबद्ध कर दिया गया है' लिखना चाहा था, किंतु वह स्थूल लगा; इसलिए, 'आबद्ध' शब्द काटकर 'संयुक्त' शब्द लिखना पड़ा। 'वागर्थविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये'[3] की प्रेरणा से ही ऐसा लिखा है! 'कंकन, किंकिनि, नूपुर धुनि सुनि' का कोमल ध्वनि-वैभव नेत्र मीलित करके ही 'देखा' जा सकता है! 'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही' का

---

1. रामचरित मानस 1/227/7-8; 228, 1-2
2. रामचरित मानस 1/229/1-2
3. रघुवंशम् 1/1/1

शब्द-चयन मदन की मादन दुंदुभी की ध्वनि ही सुनवाता है, अन्य किसी दुंदुभी की नहीं। ऐसे ध्वनि-वैभव संसार की कविता में कम ही मिलते हैं। इनमें 'ध्वनि' शब्द के सारे अर्थ अनायास ही समाहित हो गए हैं। अंग्रेज़ी के कलाकार महाकवि टेनीसन और हिंदी के शिल्पी-महाकवि पंत के इने-गिने ध्वनि-बिम्ब ही इनकी समता कर सकते हैं।

16. सौन्दर्य वर्णन

देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदयँ सराहत, बचनु न आवा॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्वकहँ प्रगट देखाई॥
सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई॥[1]

सौन्दर्य का समग्र दर्शन अभिव्यक्ति के आयामों से परे होता है—वह ब्रह्मानुभूति एवं काव्यानुभूति के सदृश अनिर्वचनीय होता है। सौन्दर्य ब्रह्म का प्रकट स्वरूप है। वाणी उसे कैसे बद्ध कर सकती है? जो सौन्दर्य अभिव्यक्ति की सीमा में बद्ध हो सके, वह अनंत कैसे हो सकता है? 'हृदयँ सराहत, बचनु न आवा' महत्तम सौन्दर्य की महत्तम अनुभूति का महत्तम संकेतक है। सीता विधाता द्वारा अपने समग्र सृष्टि कौशल का व्यक्त स्वरूप हैं! वे स्वयं सुन्दरता को सुन्दर करती हैं! संसार-साहित्य में 'सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई' का सौन्दर्यातिरेक कहीं नहीं प्राप्त होता। 'छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई' में 'सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई' के उदात्ततम मनोभाव को पूर्णता प्रदान की गई है। संस्कृत के दीपशिखा-कवि कालिदास की दीपशिखा स्वयंवर में दीप्तिमयी हुई थीं,[2] हिंदी के दीपशिखा-कवि तुलसीदास की दीपशिखा स्वयं छवि के गृह को दीप्तिमय करती है। बायरन की सुन्दरी 'सौन्दर्य में चलती है' (शी वाक्स इन ब्यूटी) अर्थात् उस सुन्दरी की प्रत्येक भंगिमा, गति, यति, रति, सर्वस्व सौन्दर्यमय है।[3] वर्ड्स्वर्थ की सुन्दरी 'आनन्द की छाया' (फैंटम् ऑफ डिलाइट) है अर्थात् जहाँ वह होती है, वहाँ साक्षात् सौन्दर्यनंद का होना स्वयंसिद्ध तथ्य बन जाता है।[4] एक बार, एक अतीव सुरम्य परिवेश में, एक अतीव बंग-सुन्दरी को देखकर मेरे मुँह से अनायास ही निकल पड़ा था, 'वह रवीन्द्रनाथ के रहस्यवाद के सदृश सुन्दर है' (शी इज सच ब्यूटीफुल ऐज द मिस्टिसिज्म ऑफ़ टैगोर)!

---

1. इंदुमती-स्वयंवर (रघुवंशम्) के 'संचारिणी दीपशिखा' इत्यादि में।
2. रामचरितमानस 1/229/5-7
3. 'शी वाक्स इन ब्यूटी' शीर्षक कविता।
4. 'शी वाज ए फैंटम् ऑफ़ डिलाइट' शीर्षक कविता।

किन्तु सीता तो स्वयं सौन्दर्य को सौन्दर्यवान बनाती हैं—यदि वे न हों, तो सौन्दर्य का अस्तित्व ही नहीं रहता ! अतएव, जिधर उन मृगशावक-नयनी की दृष्टि पड़ती है, उधर उज्ज्वल, कमलावलियाँ बरस पड़ती हैं !

जहँ बिलोक मृगसाबकनयनी। जनु तहँ बरिस कमलसितश्रेनी ।।[1]

जायसी की प्रतीक सम्पन्न पद्मावती की दृष्टि भी ऐसी ही है, किन्तु वे भाव को स्फीति कर गए हैं; जिससे कसावट जाती रही है और नूरेइलाही की ओर ध्यान बँट जाता है—

नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर ।।[2]

तुलसी ने भी 'हरषे जनु निज निधि पहिचाने' में माया-ब्रह्म का प्रतीकायोजन कर दिया है, किन्तु वह एक तो एक अर्द्धाली के अनंतर है, दूसरे सैद्धांतिक प्रतीत ही नहीं होता। अतएव, शुद्ध रसानुभूति की दृष्टि से उनका वर्णन श्रेष्ठतर है। कविता के बीच यदि सैद्धांतिकता आ कूदती है, तो रसास्वाद में व्यवधान पड़ जाता है। तुलसी सौन्दर्य-वर्णन में, कीट्स के सदृश, उपदेश या दर्शन या प्रोक्ति का प्रवेश नहीं कराते। यह उनका कौशल है, उनके रससिद्ध होने का प्रमाण है।

तुलसी का सीता-सौन्दर्य-वर्णन संसार-साहित्य की एक महत्तम उपलब्धि है। उदात्त का ऐसा सौन्दर्य अन्यत्र दुर्लभ है—

जौं छबि-सुधा-पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई ।।
सोभा-रजु, मंदर-सिंगारू। मथै पानिपंकज निज मारू ।।
एहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता-सुख-मूल।
तदपि सँकोचसमेत कबि कहहिं सीय-समतूल ।।[3]

यदि सौन्दर्यामृत का महासागर हो (खारे जल का महासागर नहीं !), जिसका कच्छप उसी के अनुरूप रम्यतम होगा ही, शोभा का रज्जु हो, शृंगार रस स्वयं ही मंदराचल का कार्य-सम्पादन करे और कामदेव करकमलों द्वारा मंथन करें—एक अभिनव एवं अभिराम सागर-मंथन हो तथा उससे एक अभिनव एवं अप्रतिम लक्ष्मी उद्भूत हो; तब भी कवि उसे संकोचपूर्वक ही सीता की सम-तुल्य कहेंगे ! इन पंक्तियों में कल्पना, भावुकता एवं अलंकृति का जैसा समन्वय हुआ है, वैसा संसार-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। तुलसी ने यहाँ उदात्त को भी उदात्त कर दिया है ! और आश्चर्य यह है कि समग्र सौन्दर्य-वर्णन सुधा शीतल है ! प्रायशः सौन्दर्य-वर्णन 'वाह ! वाह !!' की स्थूलता में अवसित हो जाते हैं। प्रायश सौन्दर्य-वर्णन भावोत्तेजन भी करते हैं। उर्दू-कविता में अधिकांश सौन्दर्य-

---

1. रामचरित मानस 1/231/2
2. जायसी-ग्रंथावली, पदमावत, पृष्ठ 25
3. रामचरित मानस 1/246/7-8; 247

वर्णन रीतिकालीन हिन्दी-कविता के सौन्दर्य-वर्णन की जाति के होने के कारण ('आबेहयात' में प्रोफेसर आजाद ने स्पष्टतः स्वीकार किया है, 'हमारी जुबान ब्रजभाषा से निकली है।' रेख्ता का आरम्भिक स्वरूप, जो उर्दू के आदिकवि वली तथा तत्कालीन कवियों आबरू, आरज़ू, ताबाँ इत्यादि शायरों के कलाम में मिलता है, प्रोफेसर आजाद के कथन को प्रमाणित करता है। उर्दू पर फारसी का आतंक गालिब, जौक इत्यादि के जमाने में फैला जिसके परिणामस्वरूप राजा लक्ष्मणसिंह इत्यादि हिन्दी-लेखकों को कहना पड़ा कि हिन्दी और उर्दू न्यारी-न्यारी भाषाएँ हैं, यद्यपि उर्दू को हिन्दी की एक शैली मानने वाले बहुत बाद तक होते रहे, जिनमें डॉ० सम्पूर्णानन्द उल्लेखनीय हैं। स्व०श्री मुहम्मदअली करीम छागला उर्दू के लिए देवनागरी लिपि का प्रतिपादन करते रहे हैं।) 'वाहवाहवादी' ही रह गए हैं, जबकि पंजाबी कविता के नितांत स्थूल उत्तेजनात्मक हैं। किन्तु तुलसी के सौन्दर्य-वर्णन में सुधी पाठक या श्रोता न 'वाह-वाह' कह सकता है, न उत्तेजन का अनुभव कर सकता है। तुलसी का श्रृंगार-रस-वर्णन एक नवपरिणीता पुत्रवधू अपने श्वसुर को निस्संकोच सुना सकती है—और उनकी यह उपलब्धि संसार-साहित्य की एक अद्वितीय उपलब्धि है। प्रवृत्ति के उदात्तीकरण का जैसा वैभव तुलसी की कविता में प्राप्त होता है, वैसा विश्व के किसी महाकवि की कविता में नहीं।

17. राम का रूप-सौन्दर्य

मोरपंख सिर सोहत नीके। मुच्छ बीच-बिच कुसुम-कली के ॥
भाल तिलक, श्रमबिन्दु सुहाए। श्रवन-सुभग भूषन छबि छाए ॥
बिकट भृकुटि, कच घूघखारे। नवसरोज-लोचन रतनारे ॥
चारु चिबुक, नासिका, कपोला। हास-बिलास लेत मनु मोला ॥
मुखछबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ॥
उर मनिमाल, कम्बु-कल-ग्रीवा। काम-कलभ-कर, भुज बलसींवा ॥···
केहरि-कटि, पट-पीत-धर, सुषमा-सील-निधान।
देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान ॥[1]

इन पंक्तियों में सौन्दर्य-दृष्टा स्रष्टा महाकवि तुलसीदास ने राम का मनोहारी चित्रण किया है। सम्भवतः भागवत और सूरसागर की सौन्दर्य-दृष्टि और सौंदर्य-सृष्टि इन पंक्तियों में संपृक्त प्रतीत होती है। रूप पुरुषत्वसम्पन्न है, सौन्दर्य स्व-सम्पूर्ण। राम और लक्ष्मण गुरु की आज्ञा से पुष्पचयन करने आए हैं। अतएव, शक्ति, शील और सौन्दर्य का सम्पूर्ण समन्वय शब्दबद्ध कर दिया गया है।

---

1. रामचरित मानस 1/233/2-7; 233

तुलसी ने रामचरितमानस, कवितावली और गीतावली में राम के शिशु, बाल, किशोर, तरुण और युवा रूपों की शत-शत मनोहारी झाँकियाँ दिखाई हैं। गीतावली तो आदि से अंत तक राम की शत-शत शोभाओं से इतनी अधिक सम्पन्न है कि उसे रामशोभावली अथवा शोभावली अथवा सौन्दर्यावली कहा जा सकता है। राम का शिशु-रूप हो या बाल-रूप, वर-रूप हो या योद्धा-रूप, वनवासी-रूप हो या राजा-रूप, सारे रूपों के इतने अधिक और इतने कमनीय रूप उरेहे गए हैं कि गीतावली सौन्दर्य-चित्रण की दृष्टि से संसार-साहित्य की अपने ढंग की अकेली रचना बन गई है। रामचरितमानस और कवितावली के राम-सौन्दर्य चित्रण भी अनेकता और विवधता में सर्वथा प्रशस्य हैं। तुलसी के सौन्दर्य-चित्र इतने सजीव हैं कि उन पर प्रभावी चित्ररचना सरलतापूर्वक की जा सकती है।

तुलसी की सौन्दर्य-भावना अपने-आप में समग्र है। उसमें शारीरिकता, मानसिकता और आत्मिकता का त्रियोग प्राप्त होता है। सुन्दर, शरीर, सुन्दर मन और सुन्दर आत्मा मिलकर सौन्दर्य-तीर्थराज की सृष्टि करते हैं। शक्ति-शील-संपृक्त होने के कारण तुलसी के राम का सौन्दर्य प्रेरक और पावन भी हो जाता है। उसका अवलोकन आकृष्ट नहीं, आह्लादित करता है। यदि सौन्दर्य आनन्द है, तो तुलसीदास उसके सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। रामायण के राम का सौन्दर्य एक महतोमहीयान् योद्धा का सौन्दर्य है, नायक का सौन्दर्य है।[1] रामचरितमानस के राम का सौन्दर्य एक पूर्णपुरुष का सौन्दर्य है। एक समग्र सौन्दर्य-द्रष्टा के रूप में तुलसीदास की समता संसार का कोई कवि नहीं कर सकता। कालिदास ने नारी-सौन्दर्य का ही चित्रण अधिक किया है। निस्संदेह, वे संसार-साहित्य में सौन्दर्य के कवि के रूप में एक अतीव उच्च स्थान रखते हैं।[2] किन्तु तुलसी नर और नारी दोनों के ही सौन्दर्य के महान शिल्पी हैं। यदि शापेनहाएर तुलसी के राम के सौन्दर्य-वर्णन पढ़ते, तो मुग्ध हुए बिना न रहते! (जर्मनी के इन विख्यात निराशावादी दार्शनिक ने नारी-शरीर के संघटन को कुरूपतापूर्ण माना है तथा पुरुष को ही सुन्दर बतलाया है। ये निष्ठावान दार्शनिक, प्लेटो, स्पिनोजा, कांट इत्यादि अधिकांश पाश्चात्य दार्शनिकों के सदृश, अविवाहित रहे; अर्थात् ये, विवाह के कारण दुःखी हुए सुकरात और अरस्तू के सदृश, विवाहित न थे।) कीट्स सौन्दर्य की सैद्धांतिकता के महान् वर्णन करते हैं, किन्तु तदनुकूल सौन्दर्य चित्रण नहीं कर पाते। कीट्स की सौन्दर्य-प्रशस्ति कविता की अपेक्षा दर्शन के अधिक निकट जा पड़ी है।[3] तुलसी एक महान दार्शनिक-कवि होते हुए भी

---

1. 'लोहिताक्षं, महाबाहुं, रक्तोष्ठं, दुंदुभिस्वनन्।'
2. अभिज्ञान शाकुंतलम्, रघुवंशम्, कुमारसम्भवम् इत्यादि में।
3. 'एडाइमियन्', 'ओड ऑन ए ग्रीशियन अर्न' इत्यादि कविताओं में।

सौन्दर्य चित्रण को दर्शन से आतंकित नहीं करते। कालिदास के शकुन्तला, इंदुमती और पार्वती इत्यादि के सौन्दर्य चित्रण, कुल मिला कर नारी सौन्दर्य के महाकवि के रूप में उन्हें तुलसीदास से श्रेष्ठतर सिद्ध कर सकते हैं; किन्तु समग्र सौन्दर्य के समग्र द्रष्टा-स्रष्टा महाकवि के रूप में वे तक तुलसीदास की समता नहीं कर पाते। कीट्स की युवजनोचित सौन्दर्य-दार्शनिकता अपना उपमान आप हो सकती है, किन्तु सौन्दर्य के काव्यांकन में वे तुलसी के समीप भी नहीं आ पाते। हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से, सौन्दर्य के उत्कृष्ट वर्णन पृथ्वीराजरासो में भी बहुत हुए हैं, किन्तु वे पिष्टपेषणमय हैं। पदमावत, मधुमालती इत्यादि सूफी प्रेमाख्यानों में भी नख शिख वर्णन की बँध्री-बँधाई परिपाटी ही दृग्गत होती है, यद्यपि उसमें नूरेइलाही का प्रशस्य समावेश भी किया गया है। केशव, देव, बिहारी, मतिराम, घन आनन्द, पद्माकर, रत्नाकर, हरिऔध, मैथिलीशरण इत्यादि के सौन्दर्य-वर्णन भी पारम्परिकता में बद्ध हैं। हरिऔध के अतिरिक्त, इन कवियों ने नारी-सौन्दर्य के वर्णन ही अधिक किए हैं। प्रसाद ने कामायनी के श्रद्धा एवं इड़ा सर्गों, आँसू, चन्द्रगुप्त इत्यादि नाटकों में सौन्दर्य के अनेक एवं उत्कृष्ट वर्णन किए हैं। सौन्दर्य के कवि के रूप में प्रसाद हिन्दी के कालिदास कहे जा सकते हैं। किन्तु वे भी अधिकांशतः नारी-सौन्दर्य में ही सीमित हैं। दूसरे, उनके सौन्दर्य-चित्र सुन्दरम् में ही आबद्ध रह गए हैं, उनमें सत्यं-शिवं-सुन्दरम् का त्रित् नहीं प्राप्त होता। तुलसी के सौन्दर्य-चित्र सत्यं-शिवं-सुन्दरम् की त्रिमूर्ति हैं। उनकी समता दुर्लभ है।

18. सीता की वधू-शोभा

सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसें। छबिगन मध्य महाछबि जैसें
कर-सरोज जयमाल सुहाई। बिस्व-बिजय सोभा जेहिं छाई॥
तन सकोच, मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेमु लखि परइ न काहू॥
जाइ समीप राम-छबि देखी। रहि जनु कुअँरि चित्र-अवरेखी॥
चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई॥
सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम-बिबस पहिराइ न जाई॥
जोहत जनु जुग जलाज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला॥
गावहिं छबि अवलोकि सहेली। सिय जयमाल राम-उर मेली॥[1]

इतना चित्रमय, स्वाभाविक और सुन्दर परिणय-प्रकरण साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। 'विंची ने भी इतना सुन्दर चित्र नहीं खींचा!' 'मोना लीसा' की रहस्य-मय स्मिति में जीवन की ऐसी सहज व्याप्ति कहाँ? तुलसी की कविता की सबसे बड़ी विशेषता उसका जीवन की कविता होना है। न उन्हें प्रतीक की शरण लेनी

---

1. रामचरित मानस 1/262/1-8

पड़ती है, न रूपकाव्य की, न क्लिष्टता की, न नाटकीयता की, न शिल्प की। जीवनसागर में इतने अधिक मोती हैं कि इसका सक्षम अवगाहक विपन्न हो ही नहीं पाता कि अन्यत्र जाना पड़े। 'बिस्व-बिजय सोभा जेहिं छाई' में उनके 'वीर्यशुल्का'[1] अथवा पराक्रमशुल्का होने तथा प्रसन्न-राघव के धनुर्भंग की अतुलनीय पराक्रम-कथा व्यंजित है। यह एक महान् काव्यांश है। सीता राम की प्राणशक्ति है। पौरुष के महाकवि निराला ने राम-रावण-युद्ध के विषम अवसर पर इस तत्त्व और तथ्य का प्राणस्पर्शी आकलन और अंकन किया है—

> सिहरा तन, क्षण भर भूला मन, लहरा समस्त,
> हर-धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त,
> फूटी स्मिति सीता-ध्यान-लीन राम के अधर,
> फिर विश्व-विजय-भावना हृदय में आई भर,
> वे आए याद दिव्य शर अगणित मंत्र पूत,
> फड़का पर नभ को उड़े सकल ज्यों देव दूत,
> देखते राम जल रहे शलभ-ज्यों रजनीचर,
> ताड़का, सुबाहु, विराध, शिरस्त्रय, दूषण, खर···[2]

अतएव, इस स्थल पर परमोच्च श्रृंगार रस, पूर्व राग से परिपुष्ट गहन श्रृंगार रस, खर-दूषण-त्रिशिरा इत्यादि के हनन से पुष्ट एवं प्रमाणित वीर रस की पृष्ठभूमि-पार्श्वभूमि से निष्पन्न भी है। यह परम शौर्य के समक्ष परम सौंदर्य के सहज-विह्वल होने का गहनतम चित्रांकन है। 'तन संकोच, मन परम उछाहू' शब्दों में 'चंचल किशोर सुन्दरता की, मैं करती रहती रखवाली'[3] की व्यंजना चित्रांकित हो गई है। सीता का राम के समक्ष जाना और उनकी जगज्जयी छवि को निहारकर आत्मविस्मृत हो जाना अथवा चित्रलिखित-सी रह जाना नितांत स्वाभाविक है और उतना ही स्वाभाविक है सखियों का माला पहनाने की स्मृति दिलाना! प्रेमातिरेक में हाथों का न उठ पाना भी स्वाभाविक ही है! प्रेम एक ऐसा सुकुमार मनोभाव है, जो शरीर का स्पर्श करते ही उसे भी सुकुमारता से शिथिल करने से नहीं चूकता। प्रेम मोहक शैथिल्य का प्रतीक है। यद्यपि यह परमोत्कृष्ट वर्णन अनेक उत्प्रेक्षाओं से अलंकृत है, तथापि इसका सबसे बड़ा अलंकार, मेरे मत से, सहजालंकार है, जिसे चित्रालंकार भी कहा जा सकता है। खेद है कि अलंकारशास्त्र का सम्यक् विकास नहीं हो रहा। मानवीकरण, ध्वनि व्यंजक इत्यादि पाश्चात्य अलंकार भी पुराने पड़ चुके हैं। सहजालंकार अथवा

---

1. रामायण 1/66/15-16
2. 'अनामिका' की 'राम की शक्ति पूजा' कविता में।
3. 'कामायनी' के 'लज्जा' सर्ग में।

चित्रालंकार जैसे नए अलंकार कविता के चिरंतन रूप से न्याय करने के निमित्त प्रकाश में आने चाहिए।

19. राम की स्थितप्रज्ञता

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लेवनवासदुःखतः।
मुखाम्बुज श्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुल मंगलप्रदा ॥[1]

अयोध्या कांड के मंगलाचरण का यह द्वितीय श्लोक राम की स्थितप्रज्ञता का प्रेरक किंतु कलात्मक चित्रण करता है। राम का प्रशांत-गहन आनन राज्याभिषेक के समाचार से प्रसन्न नहीं हुआ, वनवास के समाचार से मलिन नहीं हुआ। सुख और दुःख के चरम क्षणों में एकरसता अथवा समरसता ही स्थितप्रज्ञता है। इस कवित्वपूर्ण श्लोक में राम को पूर्ण स्थितप्रज्ञ रूप में चित्रित किया गया है—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेसु विगतस्पृहः।
वीतराग भय क्रोधः स्थितधीर्मुनिमुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनंदति न द्वेषि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥[2]

वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्म-रामायण, रामचरित मानस इत्यदि सारे आर्ष-ग्रन्थ राम का ऐसा ही गहन स्थितप्रज्ञ स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। नायकत्व राम को प्राप्त कर सम्पन्न हुआ है। कोई आश्चर्य नहीं कि कृष्ण जब अर्जुन को 'स्थितप्रज्ञ' की परिभाषा समझ रहे हों, तब उनके समक्ष राम का आदर्श विद्यमान रहा हो; क्योंकि उन्होंने, अन्यत्र, स्वयं को धनुर्धारियों में राम घोषित किया है। (और वह भी युगधनुर्धर-सम्राट् अर्जुन के समक्ष)! महाभारत तथा उसके सर्वोत्तम अंश श्रीमद्भगवद्गीता, में राम का उपमानवत् प्रयोग अनेक बार हुआ है; रामोपाख्यानपर्व तो सर्वज्ञात है ही। कोई आश्चर्य नहीं कि बुद्ध जब प्रज्ञा पर प्रकाश डाल रहे हों, तब उनके समक्ष राम का आदर्श विद्यमान रहा हो, क्योंकि वे राम के वंशज थे तथा उनके पिता शुद्धोदन राम-वंशज अयोध्या-नरेश प्रसेनजित् के करद भी थे, दशरथ-जातक को तो बौद्ध रामायण ही कहा जा सकता है, जो चीनी-रामायण के रूप में भी प्राप्त है, भले ही उसमें परिवर्ती साम्प्रदायिकता भी समाविष्ट कर दी गई हो। बुद्धचरितम् पर रामायण का

1. रामचरित मानस 2/2
2. श्रीमद्भगवद् गीता 2/55-57

प्रभाव उच्चतम विद्वानों तक ने, निर्विवाद रूप में, स्वीकार किया है। इनमें 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' के प्रकाण्ड प्रणेता आचार्य नरेन्द्र देव भी सम्मिलित हैं। 'यशोधरा' में मैथिलीशरण ने 'महाभिनिष्क्रमण' के संदर्भ में सिद्धार्थ के द्वारा राम का बहुत ही अनुकूल स्मरण कराया है। तुलसीदास ने इस महान एवं स्फीत सत्य को एक श्लोक में विकृत कर दिया है ! यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

20. मंथरा का वाग्वैदग्ध्य

एकहिं बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी ॥
फोरै जोगु कपारु अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा ॥
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं माई ॥
हमहुँ कहबि अब ठकुर सोहाती। नाहित मौन रहब दिनु राती ॥
करि कुरूप विधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिअ, लहिअ जो दीन्हा ॥
कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी ॥
जारै जोगु सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ॥
तातें कछुक बात अनुसारी। छमिअ देबि ! बड़ि चूक हमारी ॥
प्रिय सिय-रामु कहा तुम्ह रानी। रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी ॥
रहा प्रथम, अब ते दिन बीते। समउ फिरें रिपु होहिं पिरीते ॥
जर तुम्हारि चह सवति उखारी। रूँधहु करि उपाउ बर बारी ॥…
चतुर, गँभीर राम-महतारी। बीचु पाइ निज बात सँवारी ॥
पठए भरतु भूप ननिअउरें। राम मातु-मत जानब रउरें ॥…
रचि प्रपंचु भूपहि अपनाई। राम-तिलक-हित लगन धराई ॥[1]

अयोध्याकांड रामचरित मानस का समाजकाँड है, क्रियाकाँड है, जिसमें संसार और कर्म की जटिलताओं और दुरभिसंधियों का प्रशस्य चित्रण प्राप्त होता है। यद्यपि यह कांड भी रामकाव्योचित आदर्श से निष्पन्न है, तथापि इसमें यथार्थ का भी सशक्त अंकन हुआ है, जो महाकाव्य के किसी अन्य कांड में दुर्लभ है। अयोध्याकांड की भाषा लगभग शुद्ध अवधी है, भले ही वह अपनी तद्भव शब्द सम्पन्नता के कारण सार्वभौम अवधी भी कही जा सकती हो और पदमावत, मधुमालती इत्यादि सूफ़ी काव्यों की ठेठ अवधी से भिन्न हो। मेरे मत से, रामचरितमानस की रचना अनेक वर्षों और अनेक स्थानों में हुई है। इस दृष्टि से, मैं गोसाईं चरित, तुलसीचरित इत्यादि को प्रमाण नहीं मानता, क्योंकि महाकाव्य के कांडों में भाषा का अन्तर तथ्य को स्वयं स्पष्ट कर देता है, जबकि इन ग्रन्थों की प्रमाणिकता शतशः संदिग्ध है। अयोध्याकांड के अतिरिक्त, अन्य कांडों की

---

1. रामचरित मानस 2/15/1-8, 16/5-6, 8, 17/1-2, 6

भाषा ब्रजमिश्रित-अवधी है। यों भोजपुरी के शब्द भी बराबर प्राप्त होते रहते हैं। रामचरितमानस की भाषा की सार्वभौमता अप्रतिम है। प्रस्तुत अवतरण की भाषा शुद्ध अवधी का सुन्दर निदर्शन है। क्रिया की दृष्टि से, मंथरा का वाग्वैदग्ध्य हिंदी-साहित्य में अतुलनीय है। जब उसने मंगल के अवसर पर अमंगल वचन कहे, तब कैकेयी ने उसकी भर्त्सना की। इस पर, मंथरा ने आत्मभर्त्सना एवं स्ववैरूप्यनिंदा, स्वामिनीहितसाधना एवं सपत्नीविद्वेष, भरताहित एवं सर्वनाश इत्यादि से समन्वित एवं सम्पन्न ऐसे विचार प्रकट किए, जिनसे अप्रभावित रह सकना किसी भी नारी के लिए सम्भव नहीं हो सकता। पुत्रहित हानि एवं सपत्नीविद्वेश नारी-मनोविज्ञान को सर्वाधिक आन्दोलित करने वाले बिन्दु हैं। मंथरा ने इन्हीं का प्रयोग किया है। यदि कोई स्वपुत्र प्रेम के अतिरेक को कैकेयी ग्रन्थि कहे, तो अवश्य कह सकता है। स्वपुत्रप्रेम, पुत्रहित शंकित होने पर, नारी से कुछ भी करा सकता है। फ्रायड ने प्राचीन पाश्चात्य कथानकों के आधार पर एडिपस-कॉम्प्लेक्स (मातृरतिग्रन्थि), नार्सीसस-कॉम्प्लेक्स (आत्मरतिग्रन्थि) इत्यादि के गहन एवं प्रभावी, साधारणीकरणक्षम एवं लोकप्रियतागर्भित मनोवृत्ति नामकरण किए हैं। हम प्राचीन भारतीय कथानकों के आधार पर ऋग्वेदपरक यमी-ग्रन्थि (भ्रातृरतिग्रन्थि), रामायणपरक कैकेयी-ग्रन्थि (पुत्रप्रेमग्रन्थि) इत्यादि के ऐसे ही नामकरण कर सकते हैं। इस अवतरण में कैकेयी के लिए 'बर बारी' और कौसल्या के लिए 'चतुर गभीर' विशेषणों का प्रयोग बहुत ही सार्थक है, परस्पर-सम्बद्ध है, परिकर-सम्पन्न है। मंथरा कैकेयी को अपेक्षाकृत अल्पवयस्क अथवा अनुभव रहित सिद्ध करते हुए सपत्नी-विद्वेष की ज्वाला प्रज्ज्वलित कर रही है।वह दशरथ अथवा राम के विरुद्ध कुछ नहीं कह रही, सीता के विरुद्ध भी कुछ नहीं कह रही, केवल कौसल्या के विरुद्ध कह रही है; क्योंकि वह सौतियाडाह को पूरी तरह से जानती-पहचानती है।

रामायण में भी यह वर्णन उच्चस्तरीय और मनोवैज्ञानिक, स्वाभाविक और सुदीर्घ है। उसमें राजनीति का रंग भी पर्याप्त गहरा है, जैसा कि मानस में नहीं है।[1] वाल्मीकि की मंथरा भरत के भावी देशनिष्कासन अथवा अवसान की आशंका से कैकेयी को अभिभूत कर लेती है—

ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्य राज्यम कंटकम्।
देशांतरं नाययिता लोकांतरमथापि वा।।[2]

अध्यात्म-रामायण में, रामायण की प्रेरणा से, इस प्रकरण का और अधिक स्वाभाविक तथा प्रभावी वर्णन किया गया है, जिसमें मंथरा ने भरत-शत्रुघ्न को ननिहाल भेजने तथा उनकी अनुपस्थिति में राम का राज्याभिषेक करने में षड्-

1. अयोध्याकांड, सर्ग 7-8
2. रामायण 2/8/27

यंत्र का प्रतिपादन किया है, कौसल्या के परम सौभाग्य के साथ-साथ सुमित्रा के सौभाग्य के अप्रतिहत रहने की चर्चा की है; क्योंकि वे लक्ष्मण की माता हैं तथा लक्ष्मण राम को अतीव प्रिय हैं, केवल कैकेयी के दुर्भाग्य की सम्भावना स्पष्ट की है, भरत के दास बनने या निष्कासन या अवसान की भविष्यवाणी की है ।[1] अध्यात्म रामायण की मंथरा के विचार बहुत ही अधिक प्रभावी तथा मनोवैज्ञानिक हैं—

मनस्येतन्निधायैव प्रेषयामास ते सुतम् ।
भरतं मातुलकुले प्रेषयामास सानुजम् ।।
सुमित्रायाः समीचीनं भविष्यति न संशयः ।
लक्ष्मणो राममन्वेति राज्यं सोऽनुभविष्यति ।।
भरतो राघवास्याग्रे किंकरो वा भविष्यति ।
विवास्यते वा नगरात्प्राणैर्वाहाप्यतेऽचिरात् ।।[2]

तुलसीदास ने मंथरा-प्रकरण में दासी की स्वनिंदा, स्ववैरूप्यक्षोभ आदि जोड़कर उसे अधिकतम स्वाभाविक एवं प्रभावी बना दिया है । तुलसी की मंथरा अपने कूट-कौशल में शेक्स्पीयर की एक उत्कृष्ट त्रासदी 'जूलियस सीजर' के धूर्त पात्र कैशियस की सफल प्रतिस्पर्द्धा कर सकती है, जो सतोगुणी पात्र ब्रूटस को जूलियस सीजर की हत्या के षड्यंत्र में सम्मिलित करने में सफल हो जाता है । मंथरा का कैकेयी को अनुचित महत्त्वाकांक्षा की दिशा में प्रेरित कर सकने का सामर्थ्य शेक्स्पीयर की एक महान त्रासदी 'मैकबेथ' की प्रभावी पात्रा, वस्तुतः 'मैकबेथ' की आत्मा, लेडी मैकबेथ का भी स्मरण करा देता है । तुलसीदास इस यथार्थसम्पन्न वर्णन में पूर्णतः सफल सिद्ध होते हैं । हिन्दी में रामकाव्य पर तीन उत्कृष्ट महाकाव्य प्राप्त होते हैं—रामचरित मानस, रामचंद्रिका और साकेत । केशवदास चमत्कारवादी महाकवि हैं । उन्हें कल्पना, मनोविज्ञान, स्वाभाविकता इत्यादि से कोई खास सरोकार नहीं रहता । यों, वे अपने चमत्कार-प्रदर्शन के उद्देश्य में बहुत सफल हैं और उनका महाकाव्य हिन्दी-साहित्य का पृथ्वीराज रासो, पदमावत, कामायनी प्रभृति से समतुल्य एक गौरव-ग्रंथ है । मंथरा-प्रकरण में उन्होंने रुचि नहीं ली । मैथिलीशरण ने रामायण, अध्यात्म-रामायण और रामचरित मानस की प्रेरणा से मंथरा-प्रकरण अच्छा लिखा है । उनकी कैकेयी मंथरा द्वारा कथित इन दो पंक्तियों को बारम्बार अवतरित करते हुए स्वभावतः अभिभूत होती रहती है —

भरत-से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह ।[3]

---

1. अध्यात्म-रामायण 2/3
2. अध्यात्म-रामायण 2/2/60-62
3. साकेत, सर्ग 2

21. काम-प्रताप

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भयबस अगहुड़ परइ न पाऊ॥
सुरपति बसइ बाहँबल जाकें। नरपति सरल रहहिं रुख ताकें॥
सो सुनि तिय-रिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई॥
सूल, कुलिस, असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन-सर मारे॥···
जाइ निकट नृपु कह मृदु बानी। प्रानप्रिया! केहि हेतु रिसानी॥[1]

नारी के समक्ष पुरुष कितना निरीह है! बल, प्रताप, ऐश्वर्य, सब नारी के समक्ष नत हो जाते हैं। जयशंकर प्रसाद ने ठीक ही लिखा है, 'पुरुष है कुतूहल और प्रश्न; और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातों का समाधान।··· पुरुष ने कहा—'क', स्त्री ने अर्थ लगा दिया—'कौवा'; बस, वह रटने लगा। विषम-विह्वल वृद्ध सम्राट् तरुणी की आकांक्षाओं के समाधान बन रहे हैं।'[2] संयोगात् प्रसाद के सम्राट् कुमारगुप्त और तुलसी के महाराज दशरथ में पर्याप्त साम्य है। वृद्ध पुरुष और अपेक्षाकृत युवा अथवा युवा नारी पति और पत्नी कम, विजित और विजयिनी अधिक होते हैं। यों, नारी का पुरुष पर अपरिसीम अधिकार आयु की सीमा से परे हैं। शेक्स्पीयर का एक गौरवशाली नायक सेनापति मैकबेथ अपनी श्रीमती के इंगितों पर नाचता है। बीसवीं सदी के आकाश का धूमकेतु, यूरोप का रावण हिटलर अपनी प्रिया ईवा ब्रौन के कक्ष में आज्ञा लेकर प्रवेश करता था। 1946-48 ई० के अतीव कठिन काल में लेडी माउंटबैटेन ने भारतीय इतिहास को कितना प्रभावित किया था, यह तथ्य 'इंडिया विन्स फ्रीडम', 'द गिल्टी मेन ऑफ़ इंडियाज पार्टीशन', 'फ्रीडम ऐट् मिड-नाइट' इत्यादि ग्रंथों के शब्दों और चित्रों में सरलतापूर्वक देखा जा सकता है। नारी का पत्नी-रूप हो या प्रिया-रूप या सखी-रूप, वह नर को प्रभावित अवश्य करता है। नारी का माता-रूप अथवा भगिनी-रूप अथवा पुत्री रूप नर पर उतना अधिक प्रभाव नहीं डाल पाता, जितना पत्नी-रूप अथवा प्रिया-रूप अथवा सखी-रूप। इससे भी फ्रायड के कामवाद को बल मिलता है, भले ही उनका विवेचन-विश्लेषण विवादास्पद हो। भारतीय कविता और कला में काम-तत्त्व अपार रहा है। तुलसी ने यथास्थान इसका मनोहारी अंकन किया है। इसके उनके सम्पूर्ण जीवन के सम्पूर्ण द्रष्टा होने को बल मिलता है।

प्रस्तुत अवतरण में तुलसी ने दशरथ के पौरुष और पराक्रम का जो अतिरंजित वर्णन किया है, वह काम-प्रताप के वर्णन में असाधारण रूप से सहायक सिद्ध हुआ है। यों, दशरथ यदि किसी काव्य या नाटक के नायक बनाए जाएँ,

---

1. रामचरित मानस 2/24/1-4, 8
2. स्कंदगुप्त 1/3

तो अपने पिता आज के सदृश धीर ललित नायक होंगे, धीरोदात्त नहीं। सूर्यवंश की महिमा को महाकवि कालिदास तक ने अपार माना है, स्वयं को इसके समक्ष नत पाया है।[1] यदि इत महान वंश के उत्कृष्ट नरेशों पर काव्य अथवा नाटक रचे जाएँ, तो मांधाता, दिलीप, रघु, राम, लक्ष्मण, शत्रुघ्न इत्यादि धीरोदात्त नायक होंगे; हरिश्चंद्र, भगीरथ, भरत इत्यादि धीरशांत; आज, दशरथ इत्यादि धीरललित; असमंज धीरोद्धत। धीरोद्धत नायक के उपयुक्त चरित्र इस वंश में दूसरा नहीं मिलता। किन्तु धीरोद्धत नायिका के रूप में कैकेयी को प्रस्तुत किया जा सकता है। कैकेयी की दृढ़ता में अपने ढंग की एक महानता के दर्शन किए जा सकते हैं। सम्भवतः इसीलिए, राम कैकेयी का ध्यान रखते हैं।

देवराज इंद्र जिनके बाहुबल के सहारे निष्कंट राज्य करते हैं, पृथ्वी के नरेश-गण जिनकी भ्रूभंगिमा ताकते रहते हैं, वे महाबलि-महारथी दशरथ कैकेयी के अमर्ष की बात सुनकर ही सूख गए—काम के प्रताप और उसकी बड़ाई का यह कितना प्रत्यक्ष निदर्शन है ! जो अंग शूल, वज्र और खड्ग से खेलते थे, वे पुष्प-सरों से आहत और अशक्त हो गए ! तुलसी का यह वर्णन अतीव उत्कृष्ट है। इसकी वर्णन-भंगिमा और इसका शब्द-चयन तो अद्वितीय ही है। तुलसी जीवन के यथार्थ द्रष्टा के रूप में भी कितने अधिक सफल हुए हैं? यह वर्णन इस प्रश्न का एक अतीय कलासम्पन्न उत्तर है।

नारी के समक्ष पुरुष किस प्रकार अतिरंजित उद्गार व्यक्त करता है, इसका वर्णन भी तुलसी ने इसी प्रसंग में बहुत ही उत्कृष्ट किया है। अध्यात्म रामायण में भी यह वर्णन बहुत उत्कृष्ट है।[2] तुलसी शब्द-चयन में अधिक सजग हैं। तुलसी की मौलिकता और कलात्मकता 'क्कचिदन्योतोऽपि' को सर्वत्र सार्थक करती चलती है—

> अनहित तोर प्रिया, केहूँ कीन्हाँ। केहि दुइ सिर, केहि जमु चह लीन्हा।।
> कहु केहि रंकहि करौं नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासौं देसू।
> सकउँ तोर अरि अमरउ भारी।...[3]

वाल्मीकि ने भी इस स्थल पर दसरथ के ऐसे ही उद्गार व्यक्त कराए हैं, जिनका प्रभाव अध्यात्म-रामायण पर पड़ा है, किन्तु उन्होंने चक्रवर्ती होने का भी उल्लेख कराया है, जिनका साम्राज्य द्रविड़देश, सिन्धु-सौवीर, सौराष्ट्र, अंग,

---

1. 'क्क सूर्यप्रभवो वंशः, क्क चाल्पविषया मतिः।' (रघुवंशम्)
2. ब्रूहि, किं धनिनं कुर्यां दरिदं ते प्रियंकरम्।
   धनिनं क्षणमात्रेन निर्धनं च तवाहितम्।।
   ब्रूहि, कं रा वधिष्यामि, वधार्हो वा विमोक्ष्यते।
   किमत्र बहुनोक्तेन प्राणान्दास्यामि ते प्रिये।।...
3. रामचरित मानस 2/25/1-3

वंग, मगध, मत्स्य, काशी और कोसल तक व्याप्त है।[1] तुलसी ने इस नाजुक मौके पर संक्षिप्तता का अवलम्बन ही उचित समझा है।

22. कैकेयी की वाकपटुता

देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं। सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं॥
देन कहेहु, अब जानि बर देहू। तजहु सत्य, जग अपजस लेहू॥
सत्य सराहि, कहेहु बर देना। जानेहु, लेइहि माँगि चबेना॥
सिबि, दधीचि, बलि जो कछु भाषा। तनु-धनु तजेउ, बचन-पनु राखा॥[2]

तुलसी की कैकेयी की वाकपटुता अतीव प्रभावी एवं सफल है। वे दशरथ द्वारा व्यक्त प्रेम एवं त्याग, सत्य एवं रघुकुलगौरव इत्यादि के उद्‌गारों का सम्पूर्ण प्रयोग करना भली भाँति जानती हैं। ध्वनिपूर्ण विशेषण के 'सत्यसंध' प्रयोग में परिकर अलंकर के सर्वोच्चस्तरीय दर्शन होते हैं। दशरथ ने कहा था—

रघुकुल-रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ वरु बचन न जाई॥···
सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बेद, पुरान बिदित, मनु गाए॥[3]

कैकेयी ने 'सत्यसंघ तुम्ह रघुकुल माहीं' मात्र कहकर दशरथ की धर्म-प्रवणता, सत्यनिर्वाह, वंशागौरव इत्यादि सभी मार्मिकतम बिंदुओं को उभार दिया है। सोलह मात्राओं की गागर में ऐसा सागर लहराता कम ही मिल सकता है! तुलसी का संवाद-वैभव इस स्थल पर बहुत सफल हुआ है। शेकस्पीयर ने कहा है, 'संक्षिप्तता बुद्धिमत्ता की आत्मा है' (ब्रेविटी इज द सोल ऑफ़ विट्)[4] और तुलसी ने प्रस्तुत अवतरण में मानो इस सुभाषित को प्राणवान कर दिया है! इन शब्दों में जो चुनौती छिपी है, उसे महत्तमवंशोद्‌भूत महाराज दशरथ ही सुन-समझ सकते हैं! अभिधा-लक्षणा-व्यंजना का त्रित् यहाँ अद्वय में परिणत हो गया है। एक नारी एक महाबली, एक महारथी, एक महापुरुष को ललकार रही है—

जौं अंतहुँ अस करतबु रहेऊ। भागु-भागु तुम्ह केहिबल कहेऊ॥
दुइ कि होइ एक समय भुआला। हँसब ठठाइ, फुलाउब गाला॥
दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइकि खेम-कुशल रौताई॥
छाड़उ बचन कि धीरज धरहू। जनि अबला-जिमि करुना करहू॥
तनु, तिय, तनय, धामु, धनु, धरनी। सत्यसंघ कहुँ तृन-सम बरनी॥[5]

एक नारी एक महापुरुष को दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास, उपमा, परिकर इत्यादि

---

1. रामायण 2/10/31-37
2. रामचरित मानस 2/29/4-7
3. रामचरित मानस 2/27/4,6
4. हैमलेट 1/2/90
5. रामचरित मानस 2/34/4-8

अलंकारों से युक्त व्यंग्यबाणों से आहत करे, उसे 'अबला के सदृश व्यथित न होने' का परामर्श दे, तो वह वही करेगा-चाहेगा, जो दशरथ ने किया चाहा ! दशरथ महान् प्रेमी पिता अज के पुत्र थे, जिन्होंने अपनी प्राणप्रिया इंदुमती की अकाल-मृत्यु पर अपने प्राण त्याग दिए थे ।[1] दशरथ कैकेयी को सच्चे हृदय से समग्र प्रेम अर्पित कर चुके थे । दूसरी ओर, राम उनके प्राण थे । अतएव, महान् दशरथ, सूर्यवंशी दशरथ, रघुवंशी दशरथ, अजपुत्र दशरथ, प्रेमरूप दशरथ ने एक ओर कैकेयी के प्रति अपने प्रेम एवं प्रण का निर्वाह किया; दूसरी ओर राम के प्रति अपने अतुलनीय वात्सल्य एवं सफरी-भाव को भी अविचलित रखा है और वे इस कठिनतम द्विविध निर्वाह को प्राण का सर्वथा सर्वोपरि मूल्य चुकाकर अमर हो गए ! दशरथ का अवसान संसार-साहित्य में धीरललित नायक का एक अतुलनीय अवसान है । जनता में यह उच्चकोटि का दोहा ठीक ही प्रचलित है—

राम नाम सब कोइ कहे, दसरथ कहे न कोय ।
एक बार दसरथ कहे, कोटि यज्ञ फल होय ॥

जिस अज्ञात लोक कवि ने यह दोहा कहा या लिखा होगा, वह सचमुच संवेदनशील एवं मर्मी कलाकार था ! दशरथ ने सर्वस्व देकर सर्वस्व पा लिया ! दशरथ मानवजाति के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ पिता हैं—राम के, भरत के, लक्ष्मण के, शत्रुघ्न के । वे सीता, ऊर्मिला, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति के श्वसुर भी हैं—मानवजाति के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ श्वसुर । यदि 'वे' प्राण न देते, तो क्या होते ? इस प्रश्न का उत्तर कठिनतम है । किंतु उनके लिए प्राण न देना असम्भव था ! इसलिए, इस प्रश्न का उत्तर सरलतम भी है ।

23. राम की महत्तमता

मन मुसुकाइ भानुकुलभानू । राम सहज आनंदनिधानू ॥...
सुनु जननी, सोइ सुत बड़भागी । जो पितु-मातु बचन अनुरागी ॥
तनय मातु-पितु-तोषनिहारा । दुर्लभ जननि, सकल संसारा ॥

मुनिगन-मिलनु बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर ।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर ॥

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू । बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा । प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा ॥...
थोरिहिं बात पितहि दुख भारी । होति प्रतीति न मोहि महतारी ॥[2]

1. रघुवंशम् में यह प्रकरण मर्मस्पर्शी रूप में वर्णित है ।
2. रामचरित मानस 2/40/5, 7-8; 41, 1-2, 6

राम वनगमन-प्रकरण में राम की महत्तमता अथवा पुरुषोत्तमता जितना प्रशांत-गहन स्वरूप प्राप्त करती है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। पितृभक्ति के इतिहास में राम का स्थान श्रवणकुमार और भीष्म के साथ-साथ सर्वश्रेष्ठ है। महाभारत के पांडव-वनवास और बुद्धचरितम् के महाभिनिष्क्रमण प्रकरणों पर रामायण के रामवन-गमन का प्रभाव अवश्य पड़ा है। रामायण के धनुर्भंग-प्रकरण, वस्तुतः सीता के वीर्यशुल्का होने, का प्रभाव भी इन दोनों महाकाव्यों के द्रौपदी-स्वयंवर और यशोधरा-स्वयंवर प्रकरणों पर अवश्य ही पड़ा है। किन्तु राम की अतुलनीय महानता वनगमन के अवसर पर सर्वोपरि स्वरूप ग्रहण करती है; क्योंकि वे द्यूतादि व्यसनों से सर्वतः मुक्त हैं और स्वप्न में भी पलायन नहीं करते। वे जीवन की जटिलताओं का अप्रतिहत धैर्य और अतुलित विवेक के साथ स्वागत करते हैं। वे दायित्ववश स्वत्व-त्याग करते हैं, वैवश्यवश नहीं। वे विश्व के गुरु या मुक्तिदाता बनने का दावा भी नहीं करते। राम की सी अस्मिता-रहित विशुद्ध महत्तमता अन्यत्र दुर्लभ है।

कैकेयी के चातुर्यपूर्ण शब्दों को सुनने पर राम मन-ही-मन मुस्कराए। 'मन मुसुकाइ' के दो शब्दों में दो से अधिक अर्थ छिपे हैं—प्रकट मुस्कराने का वातावरण न था; राजा मूर्च्छित और श्लथ पड़े थे; प्रकट मुस्कराने पर कैकेयी को विपर्यय की अनुभूति होती; राम की प्रकट मुस्कराने की प्रवृत्ति भी न थी। उन्होंने वनगमन के चार लाभ गिनाए—ऋषि-मुनि-सत्संग, पितृप्रणपूर्ति, मातृ-परितोष, भरत-राज्याभिषेक। इस छोटे से प्रकरण में राम कैकेयी के लिए बारम्बार माता शब्द का प्रयोग करते हैं, जो अतीव सार्थक हैं। रामचरित मानस में राम के शील का आद्यंत निर्वाह प्राप्त होता है।

यद्यपि रामायण और अध्यात्म-रामायण के वनगमन-प्रकरण में राम की महत्तमता अतीव उत्कृष्ट रूप में सविस्तार चित्रित की गई है, तथापि तुलसी अपनी अनूठी संक्षिप्तता और सजग शब्दचयन में अधिक मौलिक हैं। इस वर्णन में रामचरितमानस की सर्वश्रेष्ठता स्पष्ट है।

24. कौसल्या का अंतर्द्वन्द्व

राखि न सकइ, न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू॥
लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधिगति बान सदा सब काहू॥
धरम, सनेह उभयँ मति घेरी। भइ गति साँप-छुछुंदरि केरी॥
राखउँ सुतहि, करउँ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु-बिरोधू॥
कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। संकट-सोच-बिबस भइ रानी॥[1]

1. रामचरित मानस 2/54/1-5

तुलसी की कौसल्या उनकी अपनी सृष्टि हैं। वाल्मीकि की कौसल्या रामवन-गमन के अवसर पर शोक से विह्वल होकर राम की उपस्थिति में ही सौतों के दुर्व्यवहार तथा उनकी अनुपस्थिति में कैकेयी के क्रोधी स्वभाव एवं कटुवचन इत्यादि की चर्चा करती हैं[1] उनके वन जाने पर उपवास द्वारा प्राणत्याग की चेतावनी देती है;[2] वे क्रुद्ध लक्ष्मण द्वारा दशरथ के वध या बंदीकरण इत्यादि के प्रस्ताव तक पर विचार करने को कहती हैं।[3] आदिकाव्य रामायण अपेक्षाकृत अधिक यथार्थप्रवण कृति है। किन्तु अधिक आदर्शप्रवण कृति अध्यात्म-रामायण में भी कौसल्या पिता से माता की श्रेष्ठतरता के आधार पर राम को वनगमन से विरत करना चाहती है, प्राणत्याग की चेतावनी भी देती हैं —

पितागुरुर्यथा राम, तवाहमधिका ततः।
पिताऽऽज्ञप्तो वनं गंतुं, वारयेयमहं सुतम्॥
यदि गच्छसि मद्वाक्यमुल्लंघ्य नृपवाक्यतः।
तदा प्राणान्परित्यज्य गच्छामि यमसादनम्॥[4]

हाँ, अध्यात्म-रामायण में लक्ष्मण के द्वारा दशरथ को बाँधने मात्र की चर्चा है और वह भी कौसल्या के उक्त कथन के अनंतर।[5] कौसल्या का उससे सम्बन्ध नहीं है।

किन्तु रामचरितमानस की कौसल्या एक ओर राम के चरित और चरित्र के सर्वतः अनुरूप तथा दूसरी ओर द्रष्टा-स्रष्टा महाकवि के मर्यादावाद के अनुसार चित्रित की गई हैं। वे पितृभक्त राम को वनगमन से विरत करना धर्म के विरुद्ध समझती हैं; किन्तु उनका मातृहृदय इसके लिए सरलतापूर्वक स्वीकृति भी नहीं दे पाता। उनका अंतर्द्वन्द्व जितना पावन है, उतना ही स्वाभाविक भी। तुलसी ने कौसल्या के द्वारा कैकेयी को राम की माता कहलाकर उनके चरित्र को बहुत ऊँचा उठा दिया है। वे क्षत्रियों के द्वारा समादृत वानप्रस्थ आश्रम को समादृत करने के धर्मविधान का उल्लेख करके व्यथा का संयमन भी करती हैं—

---

1. रामायण 2/20/41-44
2. रामायण 2/21/27
3. रामायण 2/21/12-21
4. अध्यात्म-रामायण 2/4/12/13
5. अध्यात्म-रामायण 2/4/15

जौं केवल पितु-आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़िमाता ॥
जौं पितु-मातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सत अवध समाना ॥...
अंतहुँ उचित नृपहि बनबासू । बय बिलोकि हियँ होय हरासू ॥[1]

मानस की कौसल्या के चित्रण पर यथार्थवाद की अवहेलना का यत्किंचित् आरोप लगाया जा सकता है। किंतु रामायण और अध्यात्म-रामायण की कौसल्या पर आदर्शवाद की सम्पूर्ण अवहेलना का आरोप भी लगाया जा सकता है। तुलसी ने कौसल्या को कौसल्या नहीं प्रत्युत राम माता के रूप में चित्रित किया है और इसे निरा आलोच्य भी नहीं कहा जा सकता। 'यथा माता तथा पुत्रः' की लोकोक्ति गढ़ी जा सकती है। जीजाबाई के शिवाजी, लिटीशिया रामोलिनी के नैपोलियन बोनापार्ट, पुतलीबाई के गांधी पर पड़ने वाले गम्भीर प्रभावों की यथार्थता सर्व विज्ञात है—ऐसे अन्य अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। एबॅट ने अपने महान् ग्रन्थ 'लाइफ ऑफ नैपोलियन बोनापार्ट' में लिटीशिया रामोलिनी के प्रति अगाध सम्मान व्यक्त किया है। विश्वपुरुष नैपोलियन राष्ट्रपुरुष युगपुरुष गांधी और शिवाजी की महानताएँ राम की महानता की समता नहीं कर सकतीं—नैपोलियन में राम जैसी शक्ति और राम जैसा सौन्दर्य दोनों सम्भाव्य हैं; किंतु शील नहीं; शिवाजी में राम जैसी शक्ति सम्भाव्य है; किंतु शील और सौन्दर्य नहीं (यहाँ कोई व्यापक तुलना नहीं की जा रही; क्योंकि शिवाजी और उनके समर्थ गुरु रामदास राम और मारुति के भक्त थे); गांधी में राम जैसा शील सम्भाव्य है किन्तु शक्ति और सौन्दर्य नहीं। इन स्थितियों में, कौसल्या की सम्भाव्य महतोमहीयानता तुलसी द्वारा उनके चित्रण को न्यायसंगत सिद्ध कर सकती है। रामचंद्रिका और साकेत में कौसल्या का चित्रण लगभग है ही नहीं तथा जितना है भी उतना नीरस और शुष्क। अतएव, तुलसी साहित्य में कौसल्या के अन्यतम प्रस्तोता कहे जा सकते हैं। अन्य पात्रों के संदर्भ में भी तुलसी की चरित्र-चित्रण-प्रणाली उनकी अपनी है। तुलसी मौलिकता की दृष्टि से भी बहुत ही सम्पन्न महाकवि हैं, किंतु इस तथ्य से वही व्यक्ति अवगत हो सकता है जिसका अध्ययन स्फीततम हो।

25. सीता का पति प्रेम

जहँ लगि नाथ, नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरनि ते ताते ॥
तनु, धनु, धामु, धरनि, पुर, राजू । पतिबिहीन सबु सोक-समाजू ॥

---

1. रामचरित मानस 2/55/1-2, 4

भोग रोगसम, भूषन भारू । जमजातना सरिस संसारू ॥
प्राननाथ, तुम्ह बिनु जग माहीं । मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥
जिय बिनु देह, नदी बिनु बारी । तैसिअ नाथ, पुरुष बिनु नारी ॥
नाथ, सकल सुख साथ तुम्हारें । सरद-बिमल-बिधु-बदन निहारें ॥...
बन दुख नाथ, कहे बहुतेरे । भय, बिषाद, परिताप घनेरे ॥
प्रभु-बियोग लवसेस-समाना । सब मिलि होहिं न कृपानिधाना ॥...
श्रमकनसहित स्याम तनु देखें । कहँ दुख-समउ प्रानपति पेखें ॥
बार-बार मृदु मूरति जोही । लागिहि तात बयारिन न मोही ॥
को प्रभु सँग मोहि चितवनहारा । सिंहबधुहि चिमि ससक, सियारा ॥
मैं सुकुमारि, नाथ बन जोगू । तुम्हहि उचित तप, मोकहँ भोगू ॥

ऐसेउ बचन कठोर सुनि, जौं न हृदउ बिलगान ।
तौ प्रभु-बिषम-बियोग-दुख सहिहहिं पावँर प्रान ॥[1]

भारतीय नारीत्व की आत्मा सीता का पतिप्रेम रामायण, अध्यात्म-रामायण रघुवंशम, रामचरितमानस प्रभृति आर्ष ग्रन्थों एवं अन्य समग्र भारतीय राम-काव्यों में सविस्तार वर्णित । है लोकगीतों एवं लोक-कथाओं में भी एतद्विषयक मार्मिक वर्णन प्राप्त होते हैं । वनगमन का अवसर सीता के पतिप्रेम की प्रथम परीक्षा का कठिन अवसर भी था । इस कठिन परीक्षा में वे सर्वत्र बारहबानी सोने-सी खरी उतरी चित्रित की गई हैं । धृति एवं मति का जैसा समन्वय सीता के राम के साथ वन चलने के आग्रह में प्राप्त होता है, वैसा संसार-साहित्य में अन्यत्र नहीं । वाल्मीकि ने यह वर्णन बहुत विस्तार से किया है ।[2] उनके वर्णन में पतिप्रेम के साथ-साथ आवेग एवं आवेश का भी समावेश प्राप्त होता है । वे राम पर आक्षेप भी करती हैं—

किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः ।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥...
त्वं तु भार्यां, कौमारीं, चिरमध्युषितां, सतीम् ।
शैलूष इव मां राम, परेभ्यो दातुमिच्छति ॥[3]

राम को शरीर से ही पुरुष और कार्यकलाप से स्त्री तथा शैलूष (पत्नी की कमाई खानेवाला नट) के सदृश्य सती-साध्वी पत्नी को दूसरे के हवाले करने वाला कहने में सीता का प्रेमावेग नितांत सहज है, समयानुकूल है । वाल्मीकि

---

1. रामचरित मानस 2/64/3-8; 65/5-6; 66/4, 6-8; 67
2. रामायण, अयोध्याकांड, सर्ग 26, 29-30
3. रामायण 2/30/3, 8

स्वाभाविकता के आचार्य हैं। किंतु तुलसी ने, उनसे प्रभावित होते हुए भी, ऐसे अंश एकदम छोड़ दिए हैं। अध्यात्म-रामायण में यह वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है—केवल आठ श्लोकों का।[1] किंतु उसमें भी सीता 'किंचित्कोपसमन्विता' अवश्य हैं। तुलसी ने सीता को राम पर कुपित नहीं चित्रित किया। रामचरितमानस की सीता रामायण की सीता और अध्यात्म-रामायण की सीता से अधिक शालीन और अधिक गम्भीर है। वाल्मीकि के राम सीता से उनके हार्दिक अभिप्राय को जानने की बात कहते हुए उनके बिना स्वर्ग को भी अरुचिकर समझते हैं—

नेदानीं त्वदृते सीते, स्वर्गोऽपि मम रोचते।[2]

तुलसी के राम, हार्दिक अभिप्राय जानने इत्यादि की बात न कहते हुए, 'हठि राखें, नहिं राखिहि प्राना'[3] के कारण, उन्हें साथ ले जाते हैं। स्पष्टतः तुलसी के राम एकरस गहन-गम्भीर हैं, किंतु उदार-कृपालु भी।

सीता का समग्र विराट् एवं तेजस्वी चरित एवं चरित्र रामायण में ही अंकित हुआ है, रामचरितमानस में नहीं। रामायण में अनेक स्थलों पर उनका तेजस् भी व्यक्त है। वे राम से समस्तरीय वार्तालाप, वाद-विवाद इत्यादि भी करती हैं; उन्हें परामर्श भी देती हैं। अशोक वन में बंदिनी होते हुए भी रावण को तृणवत् समझने वाली सीता साक्षात् शक्ति-स्वरूप प्रतीत होती हैं। उन्हें अपने चरित्र और राम के बल पर अटूट विश्वास था। इसलिए, रावण ने उन्हें अशोक वन में ठहराया था—वह उन्हें जीवित देखना चाहता था! तुलसी ने अशोक वन की सीता का प्रभावी एवं सबल चित्रण किया है, किंतु अन्य स्थलों पर उनकी सीता कोमल एवं सुकुमार मात्र हैं। वाल्मीकि की सीता में पूर्णता अधिक है, तुलसी की सीता में कोमलता अधिक है। वाल्मीकि की सीता अधिक स्वाभाविक हैं, तुलसी की सीता अधिक कलात्मक हैं।

उक्त वर्णन अर्थान्तरन्यास, उदाहरण, विनोक्ति, सहोक्ति, काकु-वक्रोक्ति इत्यादि अनेक अलंकारों से विभूषित है, अतीव सम्पन्न है, किंतु अलंकार रस के रूप में ऐसे जड़े गए हैं कि उनका पृथक् अस्तित्व प्रतीत ही नहीं होने पाता। महानतम कविता में अलंकार अपना पृथक् अस्तित्व उद्घोषित नहीं करते। उसमें वे सहज संगी के रूप में अनयास ही प्रकट होते हैं।

---

1. अयोध्या कांड 4/71-78
2. रामायण 2/30/42/2
3. रामचरित मानस 2/6/2

26. राम का लक्ष्मण को परामर्श

भवन भरतु-रिपुसूदनु नाहीं। राउ बृद्ध, मम दुखु मन माहीं।
मैं वन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होई सबहि बिधि अवध अनाथा ।।
गुरु, पितु, मातु, प्रजा, परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख-भारू ।।
रहहु, करहु सब कर परितोषू। नतरु तात, होइहि बड़ दोषू ।।
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक-अधिकारी ।[1]

तुलसी के लक्ष्मण भी उनके अपने हैं। यद्यपि धनुष यज्ञ की परवर्ती कल्पना को जनरुचि के नितांत अनुकूल देखकर तुलसी ने प्रसन्न-राघव प्रभृति कृतियों का प्रभाव स्वीकार किया है, सर्वथा कल्पित परशुराम-लक्ष्मण-संवाद बड़े ही समारोह से कराया है, जिससे महान् लक्ष्मण के धीर-गम्भीर चरित्र को क्षति पहुँची है, तथापि वनगमन के समग्र प्रकरण में उन्होंने लक्ष्मण को सर्वथा मर्यादित रूप में प्रस्तुत किया है। रामचरित मानस के लक्ष्मण रामायण एवं अध्यात्म-रामायण के लक्ष्मणों के सदृश दशरथ के वध एवं कैकेयी के बंदीकरण की चर्चा नहीं करते, यद्यपि चित्रकूट में ससैन्य भरत को देखकर उनके संहार की बात अवश्य कहते हैं, जो तत्कालीन सम्भावना को देखते हुए अस्वाभाविक भी नहीं है। तुलसी ने चरित्र लिए नहीं, दिए हैं। पाश्चात्य शिक्षा की उपाधि से रहित एवं गँवार लगने वाले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जब शांति निकेतन में नियुक्त हुए, तब कुछ तो सहज ईर्ष्यावश तो कुछ प्रांतीयतावश कतिपय बंगाली महाशयों ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर से अनेक आशंकाएँ प्रकट कीं। इस पर, उन्होंने उत्तर दिया कि यह व्यक्ति तुलसी के उस कारखाने में ढला है, जिसमें राम, भरत, लक्ष्मण इत्यादि ढाले गए हैं।[2] रवीन्द्र का आशय तुलसी के सर्वथा आदर्श एवं अतीव प्रेरक चरित्रांकन से है। सम्प्रति कोटि-कोटि जन न रामायण के राम, सीता, लक्ष्मण, कौसल्या, रावण इत्यादि से परिचित हैं, न अध्यात्म-रामायण के, न किसी अन्य ग्रन्थ के; वे रामचरितमानस के चरित्रों से ही परिचित हैं। तुलसी के चरित्र प्रेरणा के अजस्र स्रोत हैं। तुलसी के राम लक्ष्मण को पिता, माता, परिवार एवं राष्ट्र के चतुर्मुख कर्त्तव्य को ध्यान में रखते हुए अयोध्या में ही रुकने का परामर्श देते हैं, जबकि बाल्मीकि के राम कैकेयी की ईर्ष्या एवं तज्जन्य भरत के दुर्व्यवहार की आशंका पर बल देते हैं।[3] वाल्मीकि का यथार्थवाद सर्वथा

1, रामचरित मानस 2/70/2-6

2. यह बिंदु मुझे आचार्य से मिलने और सुनने वाले एक मित्र श्री विद्याप्रकाश से प्राप्त हुआ है।

3. रामायण, अयोध्या कांड, सर्ग 31

प्रभावी है, तुलसी का आदर्शवाद सर्वथा प्रशस्य ।

लक्ष्मण का राम के प्रति अन्यय एवं अप्रतिहत प्रेम संसार के इतिहास की एक दुर्लभ निधि है । सूर्यवंश वस्तुतः प्रेमवंश था—भगीरथ का धर्मप्रेम, रघु का कर्मप्रेम, अज का प्रियाप्रेम, दशरथ का प्रणप्रेम, राम का पितृ प्रेम, सीता का पतिप्रेम, भरत का भ्रातृप्रेम, लक्ष्मण का भ्रातृप्रेम इत्यादि इस कथन के कुछ ज्वलंत प्रतीक हैं । सगापन और सौतेलापन इस पावन प्रेम की शीतल ज्वाला में विगलित हो जाते हैं । प्रेम अपनापन-परायापन से बहुत ऊपर की चीज है—कण्व-शकुंतला, राम-भरत, राम-लक्ष्मण, यशोदा-कृष्ण, कृष्ण-बलराम इत्यादि के पावन प्रकरण इस तथ्य को उजागार करने के लिए पर्याप्त से पर्याप्त अधिक हैं । वाल्मीकि के लक्ष्मण का राम-प्रेम अनयता का अनन्य निदर्शन है—

> न देवलोकाक्रमणं, नामरत्वमहं वृणे ।
> ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना ।।[1]

किंतु तुलसी के राम का लक्ष्मण को वनगमन से विरत करने का परामर्श प्रेय-श्रेय की दृष्टि से सर्वविध सम्पन्न है । इसकी संक्षिप्तता भी मनोहारी है । यह प्रकरण तुलसी का अपना है । अध्यात्म-रामायण में केवल तीन श्लोकों में इसका संक्षिप्त उल्लेख प्राप्त होता है ।[2]

तुलसी की राजनीति 'रंजयतीति राजा' का अर्थ पूरी तरह से समझती है । यदि राजा प्रजा को प्रसन्न नहीं रख पाता, तो नरकगामी होता है । ऐसी स्थापना करना राजनीति को उत्तम आदर्श प्रदान करना है ।

27. लक्ष्मण का अनन्य प्रेम

> उतरु न आवत प्रेम बस, गहे चरन अकुलाइ ।
> नाथ, दासु मैं, स्वामि तुम्ह, तजहु त काह बसाइ ।।

> दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं । लागि अगम अपनी कदराईं ।।
> नरबर धीर, धरम-धुरधारी । निगम, नीति कहुँ ते अधिकारी ।।
> मैं सिसु, प्रभु सनेहँ-प्रतिपाला । मंदर, मेरु कि लेहिं मराला ।।...
> मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबंधु, उर-अंतरजामी ।।

1. रामायण 2/31/5
2. अयोध्या कांड 4/50-52

धरम, नीति उपदेसिअ ताही । कीरति, भूति, सुगति प्रिय जाही ।।
मन-क्रम-बचन चरनरत होई । कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई ।।[1]

तुलसी के लक्ष्मण राम के तर्क सम्पन्न परामर्श का प्रेम सम्पन्न उत्तर देते हैं । बुद्धि दशरथ, कौसल्या, सुमित्रा, प्रजा, सभी के हितसाधन की दृष्टि से लक्ष्मण को अध्योध्या में ही रखना चाहती है । किंतु लक्ष्मण का भाव प्रेम की अनन्यता का वह अवलम्ब ग्रहण करता है, जो अव्यर्थ ही हो सकता है । वेदमत, लोक-मत इत्यादि विराट् दायित्व वहन करने वाले के लिए हैं । प्रेममत केवल प्रिय में संसार का लोप कर देता है । प्रेमी को न सत्ता चाहिए, न कीर्ति, न विभूति, न मुक्ति—उसे केवल प्रिय का सान्निध्य चाहिए । प्रेमी प्रेम की वश्यता को सत्ता-महत्ता, प्रेय-श्रेय इत्यादि का पर्याय मानता है । तुलसी की दास्यभक्ति की सर्वोपरि विशेषता यह है कि वह भक्त को सर्वथा निश्चित कर देती है—दास अपना समग्र स्वामी के चरणों पर अर्पित करके सर्वकाम हो जाता है । वह संसार के 'सब' को स्वामी के 'एक' में अवसित कर, सर्वनिष्ठ नहीं एकनिष्ठ बनकर, अनायास ही योगनिष्ठ बन जाता है । प्रेमयोग सर्वोपरि योग है और लक्ष्मण एक सर्वोपरि योगी हैं । उनका शतशः निःस्वार्थ रामप्रेम अतुलनीय है ।

तर्क प्रेम के समक्ष निरीह हो जाता है । तर्क या तो प्रेयपरक होता है या श्रेयपरक । किंतु प्रेम प्रेय-श्रेय से मुक्त केवलमात्र अर्पणपरक होता है । अतएव, राम लक्ष्मण को साथ ले जाने पर विवश हो जाते हैं ।

विश्व-काव्य में चरम त्याग एवं परम प्रेम के अनेक निदर्शन प्राप्त होते हैं—महाभारत में युधिष्ठिर सर्वस्व त्याग कर वनवास स्वीकार करते हैं, इलियड में पेरिस सर्वनाश पर हेलेन को वरीयता प्रदान करते हैं, शाहनामा में सम्राट् कैखुसरो श्रेय पर प्रेय का बलिदान कर देते हैं—किंतु रामायण में लक्ष्मण का त्याग सर्वथा अतुलनीय है, क्योंकि वे द्यूत-व्यसनी न थे, परस्त्रीहर्ता न थे, निवृत्ति-वादी न थे । निस्संदेह, कैखुसरो का व्यक्तित्व संसार के इतिहास का एक सर्व-श्रेष्ठ व्यक्तित्व है; उनका शौर्य भी महान् था, त्याग भी; किंतु वे पर्याप्त राज्यसुख भोग चुके थे, जबकि लक्ष्मण नितांत युवा थे । जहाँ तक युधिष्ठिर और पेरिस का सम्बन्ध है, उनके चरित और चरित्र लक्ष्मण की समता की पात्रता से सम्पन्न नहीं हैं, यद्यपि दोनों की अपने-अपने ढंगों की महानताएँ संसार-साहित्य की अमर निधियाँ हैं—युधिष्ठिर धर्म के प्रतीक हैं, पेरिस सौंदर्य एवं प्रेम की दृढ़ता का ।

---

1. रामचरित मानस 2/69; 1-3, 6-8

28. लक्ष्मण का निषाद-प्रबोध

जोग-बियोग, भोग, भल, मंदा। हित, अनहित, मध्यम भ्रम-फंदा।....
देखिअ, सुनिअ, गुनिअ मन माहीं। मोह मूल, परमारथु नाहीं।
सपने होइ भिखारि नृपु, रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु, तिमि प्रपंच जियँ जोइ।।....
मोह-निसाँ सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।
एहिं जग-जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी, प्रपंच-बियोगी।।
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय-बिलास बिरागा।।[137]

राम सीता को तृणशैया पर सोते देख निषादराज गुह परिताप करते हैं, कैकेयी को दोष देते हैं। इस पर, लक्ष्मण इस मायामय जगत् की मिथ्यात्मकता, इसके मिथ्यात्व तथा योगनिष्ठ रहने का प्रतिपादन करते हैं। रामायण में निषाद से वार्ता के प्रकरण में स्वयं लक्ष्मण विलाप करते हैं।[138] अध्यात्म-रामायण में लक्ष्मण ऐसे ही विचार प्रकट करते हैं।[139] वे सुख-दुःख की अनुवर्तिता, इनके पारस्परिक मिश्रभाव एवं मायामय जगत् में इनकी असत्यता के कारण निर्लिप्तता का गम्भीर प्रतिपादन करते हैं—

सुखस्यान्तरं दुःखं, दुःखस्यान्तरं सुखम्।
द्वयमेतद्धि जंतूनामलंघ्यं दिनरात्रिवत्।।
सुखमध्ये स्थितं दुःखं, दुःखमध्ये स्थितं सुखम्।
द्वयमन्योन्यसंयुक्तं प्रोच्यते जलपंकवत्।।
तस्माद्धैर्येण विद्वांसः इष्टानिष्टोपपत्तिषु।
न हृष्यंति, न मुह्यंति, सर्वं मायेति भावनात्।।[140]

प्रस्तुत संदर्भ अद्वैतवाद से अनुप्राणित है। इसे पढ़कर मिथ्यावाद, अध्यास, विकार, विवर्त इत्यादि अद्वैतवाद के कतिपय प्रतिपाद्य अनायास ही स्मृत हो उठते हैं। भारत के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक शंकराचार्य के शब्दों में सत्य अव्यभिचारी है। श्री बलदेव उपाध्याय की व्याख्या है, "आचार्य के शब्दों में सत्य का लक्षण है—यद् रूपेण यत् निश्चित तद्रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्—अर्थात् जिस रूप से जो पदार्थ निश्चितं होता है यदि वह रूप संतत समभाव से सर्वदा विद्यमान रहे तो

---

137. रामचरितमानस 2/91/4, 8; 92, 2-4
138. अयोध्याकांड, सर्ग 51
139. अयोध्याकांड 6/4-15
140. अयोध्याकांड 6/13-15

उसे सत्य कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार जगत् कथमपि सत्य नहीं हो सकता।"[141] इसीलिए, अद्वैतवाद का मूलमंत्र है—"ब्रह्म सत्यं, जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।"[142] जीव अध्यास के कारण कष्ट पाता है—"अध्यासो नाम अतस्मिन तद्बुद्धिः" तत् पदार्थ में तद्भिन्न पदार्थ का आरोप करना अध्यास है। अर्थात् किसी वस्तु में उससे भिन्न वस्तु के धर्मों का आरोप करना। जैसे पुत्र या स्त्री से सत्कृत या तिरस्कृत होने पर जब मनुष्य अपने को सत्कृत या तिरस्कृत समझता है तब वह अपने में बाह्य धर्मों का आरोप कर रहा है। इसी प्रकार इंद्रियों के धर्मों के कारण जब कोई व्यक्ति अपने को अंधा, लंगड़ा, चलने वाला तथा खड़ा होने वाला समझ लेता है तब अपने में आभ्यंतर धर्मों का आरोप करता है।"[143] सर्प-रज्जु-भ्रम से ग्रस्त जीव दुःखादि की मिथ्या कल्पनाएँ किया करता है। किंतु जो योगी है, वह अध्यास से मुक्त, विकार एवं विवर्त का मर्मी ("तात्त्विक परिवर्तन को विकार तथा अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। दही दूध का विकार है परंतु सर्प रज्जु का विवर्त है। क्योंकि दूध और दही की सत्ता एक प्रकार की है। सर्प की सत्ता काल्पनिक है परन्तु रज्जु की सत्ता वास्तविक है।"[144]) जगत् के मिथ्या रूप से अभिज्ञ स्थिति प्राप्त करने के परिणामस्वरूप सत्य (ब्रह्म) का साक्षात्कार करता है।

संयोग-वियोग-भोग, उत्कृष्ट-निकृष्ट, हितकारी-अहितकारी-तटस्थ, इन सबका अनुभव ही भ्रम का फंदा है। ये सब मोहमूलक कल्पनाएँ हैं, परमार्थरहित हैं। स्वप्न में रंक के राजा अथवा राजा के रंक बन जाने से रंक को कोई लाभ अथवा राजा की कोई हानि नहीं हो सकती। तुलसी ने कथ्य को अत्यधिक प्रभावी बनाने के हेतु नाकपति अथवा स्वर्गपति अथवा इंद्र शब्द का सुन्दर प्रयोग किया है। यह जगत् सत्य नहीं, मिथ्या है—स्वप्न में प्रतीत होने वाले दृश्यों के सदृश। अतएव, विषय-विलास इत्यादि से विरक्त होना ही जागृति की दशा है। जगत् की लिप्तावस्था स्वप्नावस्था-सुप्तावस्था है। जगत् से निर्लिप्तावस्था जागृतावस्था-योगावस्था है। इसीलिए, योगी जागृत रहता है—

> या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
> यस्यां जाग्रति भूतानां सा निशा पश्यतो मुनेः ॥[145]

141. श्री शंकराचार्य, पृष्ठ 257
142. वही, पृष्ठ 243
143. वही, पृष्ठ 261
144. वही, पृष्ठ 261
145. श्रीमद्भगवद्गीता 2/69

लक्ष्मण का निषाद-प्रबोध सर्वथा सामयिक एवं प्रासंगिक है। राम वन में तपस्या करने के लिए गए थे। वे किसी के द्वारा दी गई वस्तु अपने लिए नहीं स्वीकार करते थे। वे कठिन युद्धों से जीते गए समृद्ध वालिनगर एवं रावणनगर इत्यादि में प्रवेश तक नहीं करते थे। सीता राम की सेवा एवं ब्रह्मचर्य व्रत के पालनार्थ उनके साथ गईं थीं—"शुश्रूयमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी"[146] लक्ष्मण अपने महान् तपस्वी अग्रज एवं महान् तपस्विनी अग्रजपत्नी की सेवा के लिए उनके साथ गए थे—"सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।" अतएव, उनके उक्त ज्ञानसम्पन्न उद्‌गार उनके अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के द्रष्टा होने की सूचना देते हैं।

29. वनपथ पर राम

जे पुर, गाँव बसहिं मग माहीं। तिन्हहि नाग, सुर नगर सिहाहीं॥
केहि सुकृतीं केहि घरी बसाए। धन्य पुन्यमय परम सुहाए॥
जहँ-जहँ रामचरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं॥...
परसि रामपदपदुम-परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा॥[147]

राम वनगमन संसार-साहित्य का महानतम प्रकरण है, जिसमें प्रेम के सभी रूपों का पावनतम चित्रण अनायास ही प्राप्त हो जाता है। प्रणप्रेम, पुत्रप्रेम, पितृ-प्रेम, पतिप्रेम, पत्नीप्रेम, भ्रातृप्रेम, जनप्रेम इत्यादि का ऐसा विशद संगम संसार-साहित्य में कहीं नहीं हुआ। प्रेय एवं श्रेय तथा व्यष्टि एवं समष्टि में उदात्त भावों का ऐसा मनोहारी चित्रण अन्यत्र दृग्गत नहीं होता। द्रष्टा कलाकार एवं स्रष्टा महाकवि तुलसीदास ने इस वर्णन की अद्वितीयता को भली भाँति हृदयंगम करने में अप्रतिम सफलता प्राप्त की है। सुन्दरतम-सबलतम राजकुमार-द्वय और उनमें से अग्रज की सुन्दरतम-कोमलतम प्राणप्रिया सहर्ष अपना स्वत्व त्यागकर, पिता और श्वसुर के प्रण के निर्वाह के निमित्त, विमाता और श्वसा के परितोष के निमित्त कठोरतम वनवास-साधना के लिए निकल पड़े हैं। राम चाहते, तो अत्यंत सरलतापूर्वक दशरथ का संहार कर सकते थे, क्योंकि वे प्रतिभटविहीन योद्धा थे, अतीव लोकप्रिय थे। लक्ष्मण ऐसा चाहते भी थे—जैसाकि रामायण में स्पष्टतः वर्णित है। कौशल्या तक लक्ष्मण के दशरथवध और कैकयीवंदीकरण के प्रस्ताव पर राम द्वारा विचार चाहती थीं। राजनीति में ऐसा होता आया है। महाभारत

146. रामायण 2/27/13/1
147. रामचरित मानस 2/112/1-3, 8

मूलतः एक पारिवारिक युद्ध था। अजातशत्रु पर पिता बिम्बसार के वध का आरोप लगाया जाता है। उसका पिता से राज्य छीनना लगभग विवादरहित रूप से स्वीकृत है।[148] अशोक द्वारा अपने भाइयों के वध का तथ्य स्वयं बौद्धों ने स्वीकार किया है।[149] चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य पर अग्रज रामगुप्त के वध का आरोप लगाया गया है।[150] बाइबिल में राजा सुलेमान के अपने भाइयों का सफाया करना स्पष्टतः अंकित है। रूस की सम्राज्ञी कैथेराइन महान् पर पति-हत्या का आरोप लगाया जाता रहा है। भारत के मुगल सम्राट् जहाँगीर के असफल पितृद्रोह, शाहजहाँ के असफल पितृद्रोह, औरंगज़ेब के सफल पितृद्रोह, पितृवंदीकरण, बंधुघात इत्यादि के वृत्त सर्वविदित ही हैं। राजनीति हत्या, छल, कपट, पाखण्ड एवं मिथ्यात्व की पंचमेल खिचड़ी है। मानव जाति के इतिहास में शत-शत उदाहरण इसकी पुष्टि करते हैं। आज भी स्थिति लगभग वही है किंतु राम ने पितृप्रेम एवं स्वत्वत्याग का महत्तम पथ चुना और वे साक्षात् परब्रह्म की सर्वोपरि श्रद्धा-भक्ति के एक शाश्वत निकेतन बन गए। ऐसा बल और ऐसा त्याग! ऐसा रूप और ऐसा पुण्य! यहीं से अवतारवाद का उद्भव हुआ होगा। यद्यपि वाल्मीकि ने राम को अधिकतर पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित किया है, तथापि, सम्भवतः व्यापक जनभावना की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से, उन्होंने भी राम के ईश्वरत्व के अनेक संकेत स्पष्टतः अंकित किए हैं। संयोगात् उनके जगत्पति-रूप का व्यापक जनोल्लेख वनगमन के अवसर पर ही होता है—

> पीडया पीडितं सर्वं जगदस्य जगत्पतेः।
> मूलस्येवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः॥
> मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः।
> पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरो जनाः॥[151]

वनगमन के अवसर पर ही सुमित्रा कौशल्या से उनका ब्रह्मवत् निरूपण करती हैं—

> सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभो प्रभुः।
> श्रियाः श्रीश्चभवेदग्रया कीर्त्याः कीर्तिः क्षमा क्षमा॥

---

148. हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ 75
149. वही, पृष्ठ 93
150. ध्रुवस्वामिनी (प्रसाद) की 'सूचना' के संस्कृत-उद्धरण।
151. रामायण 2/33/14-15

दैवतं देवतानां च भूतानां भूत सत्तमः।
तस्य के ह्यगुणा देवि, वनेवाप्यथवापुरे॥[152]

रामायण में अयोध्या की रामविरहृदग्ध नारियों को विश्वास है कि जहाँ राम हैं, वहाँ न भय सम्भव है, न पराभव।[153] महाभारत के कृष्ण के संदर्भ में व्यक्त ऐसे ही उद्‌गार स्पष्टतः रामायणमूलक हैं। वनवास काल में सीता राम में धर्म और सत्य की स्थिति बताती हैं, उनमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित मानती हैं।[154] शबरी उन्हें देवेश्वर कहते हुए शरीराहुति देकर दिव्यधाम को प्रस्थान करती है।[155] मरणासन्न वालि तक स्वीकार करता है कि राम के चित्त का अनुसरण करने वाला पुरुष स्वर्ग और पृथ्वी का भी राज्य पा सकता है और उसका भलीभाँति पालन कर सकता है।[156] वालि वध के अनंतर, जब सुग्रीव भोगविलासलिप्त होकर राम का कार्य भूल जाते हैं, अग्नि को साक्षी कर की गई पावन मैत्री की उपेक्षा करते हैं, अतिशय निद्रा सुख के व्यसनी बन जाते हैं, तब राम लक्ष्मण को उन्हें औचित्य समझाने के हेतु भेजते हैं। क्रुद्ध लक्ष्मण को देखकर किष्किधापुरी पर आतंक छा जाता है तब प्लक्ष और प्रभाव नामक दो मंत्रियों ने सुग्रीव से राम-लक्ष्मण के ब्रह्मत्व-नरावतार का प्रतिपादन किया—

सत्यसंधौ महाभागौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
मनुष्यभावं सम्प्राप्तौ राज्यार्हौ राज्यदायिनौ॥[157]

रावण के मातामह माल्यवान् ने राम को विष्णु का अवतार माना है—"विष्णुं मन्यामहे रामं मानुषं रूपमास्थितम्।"[158] स्वयं रावण राम को रोग-शोक-रहित साक्षात् नारायण-रूप मानता है—"तं मन्ये राघवं वीरं नारायण-मनाम यम्।"[159] रावण वध के अनंतर मंदोदरी ने राम को विष्णु-अवतार के रूप में स्वीकार किया है—"मानुषं रूपमास्थाय विष्णुः सत्य पराक्रमः।[160] युद्धकांड का सम्पूर्ण एकसौसत्रहवां सर्ग राम को परब्रह्म-रूप में प्रस्तुत करता है। देव-

152. रामायण 2/44/15-16
153. "यत्र रामो भयं नात्र, नास्ति तत्र पराभवः।" (2/48/15/1)
154. "त्वयि धर्मश्च सत्यं च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। (3/9/7/2)
155. "त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ।" (3/74/12/2)
156. "शक्यं दिवं चार्जयितुं वसुधां चापि शासितुम्।" (4/18/57/1)
157. (4/31/45)
158. (6/35/35/1)
159. (6/72/11/1)
160. (6/111/13/2)

गण एवं ब्रह्मा उनकी भगवत्ता का प्रतिपादन एवं संस्तवन करते हैं। "भवान् नारायणो देवः" तथा "अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव" इत्यादि की शब्दावली रामायण में अवतारवाद के प्रभावी अस्तित्व की सूचना देती है। इसी सर्ग में राम के ही कृष्ण भी होने की शब्दावली अवतारवाद की पूर्णता की सूचक है—"सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः।"[161] इसमें संदेह नहीं कि रामायण के युद्धकांड का एकसौसत्रहवाँ सर्ग प्रक्षिप्त है, क्योंकि उसमें दार्शनिक परवर्तिता स्पष्टतः अंकित है, कृष्ण का उल्लेख किया गया है। किंतु राम की भगवत्ता के प्रतिपादक उद्‌गार रामायण में प्रायः आद्यंत प्राप्त होते हैं। 'वाल्मीकि-रामायण में अवतारवाद' एक पृथक् ग्रंथ अथवा निबंध का विषय है। इसमें संदेह नहीं कि रामायण में राम के लोकोत्तर-रूप, विष्णु-अवतार-रूप एवं अक्षर-ब्रह्म-रूप का अनेकानेक स्थलों पर स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। हाँ, रामायण में रामचरित मानस के सदृश अवतारवाद की यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रतिष्ठा नहीं दृष्टि-गोचर होती। गुण परिमाण की व्यापक दृष्टि से, रामायण के राम पुरुषोत्तम हैं, रामचरितमानस के राम अवतार, किंतु रामायण में अवतार-तत्त्व और राम-चरितमानस में पुरुषोत्तम-तत्त्व स्पष्टतः विद्यमान हैं। वनगमन-प्रकरण राम की लोकोत्तरता अथवा दिव्यता का सबसे सबल कारण माना जा सकता है, क्योंकि इसकी गौरव-गरिमा का कोई उपमान नहीं प्राप्त होता। शोभा और शक्ति, त्याग और पुण्य, कला और कविता का ऐसा समन्वित चित्र संसार में अन्यत्र दुर्लभ है। जो सुनता है, सिर धुनता है। जो देखता है, ठगा-का-ठगा रह जाता है।

उपर्युक्त चार अर्द्धालियाँ काव्य-कौशल की दृष्टि से भी सर्वोच्च कोटि की हैं। हिन्दी-साहित्य के प्रथम महान् आलोचक मिश्र बंधु (गणेश विहारी, श्याम-विहारी, शुकदेव विहारी) ने इनका विशद एवं अनुपम विवेचन किया है, जो उनके विशुद्ध भारतीय काव्य शास्त्र के गहन-गम्भीर पाण्डित्य का सूचक है—"ये दो चौपाई-छंद हैं। तुलसीदास की चौपाइयों में दस-पन्द्रह छंद निकलते हैं, परन्तु उन्होंने इन सबको चौपाई कहा है। ऊपर लिखे छंद पादाकुलक हैं।"

पुर कहिए छोटो नगर राजनगर के तीर।
बन में जे लघु पुर बसैं तिनको कहियत ग्राम।

नगर पुर से भी बहुत बड़ा होता है। कवि ने यहाँ लिखा है कि इन ग्रामों और पुरों को न केवल साधारण नगर वरन् नाग एवं सुर-नगर सिहाते हैं, सो यहाँ अयोग्य के योग्य वर्णन से सम्बंधातिशयोक्ति अलंकार पूरा हुआ। पुर-ग्रामों में स्वयं बड़ाई नहीं है, परन्तु राम के रास्ते में पड़ने से उनमें गौरव आया है, जिससे

161. (6/117/27/2)

द्वितीय अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। पहले नाग-नगर सिहाए और फिर उनसे भी श्रेष्ठतर सुर-नगर सिहा गए, सो उत्तरोत्तर महत्त्व वृद्धि से वर्णन में सार अलंकार आया। 'केहि सुकृती केहि घरी बसाए' में केहि के उत्तमतापूर्वक दो बार आने से पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार है। ऐसे स्थानों पर वर्ण्य एवं अवर्ण्य का धर्म प्राय: एक नहीं होता, परन्तु आचार्यों ने फिर भी यह अलंकार माना है। इन दोनों प्रश्नों से कवि का कुछ पूछने का प्रयोजन नहीं है, वरन् इनसे वह प्रकट करता है कि किसी बड़े सुकृती ने उन्हें किसी अच्छी घड़ी में बसाया। इस प्रकार काकु अलंकार हुआ। इन दोनों प्रश्नों एवं 'धन्य पुन्यमय परम सुहाए' से उनके माहात्म्य का बड़ा भारी गौरव दिखलाया गया है, जिनसे उदात्त अलंकार होता है। 'धन्य' पुन्य में छेकानुप्रास है। किसी सुकृती ने अच्छे समय पर ग्राम बसाया, जिसके योग से अल्प ग्राम ने भी इतनी बड़ाई पाई कि उसमें राम-चरण गए। यहाँ द्वितीय अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'जहँ-जहँ' में वीप्सा अलंकार है, और 'राम चरण चलि जाहीं' में उपादान लक्षणा है क्योंकि चरण राम के चलाने से चलते हैं। 'तिन्ह समान अमरावति नाहीं' में चतुर्थ प्रतीप अलंकार है, क्योंकि यहाँ उपमेय से उपमान का निरादर हुआ है। द्वितीय अर्थान्तरन्यास अलंकार और सम्बंधातिशयोक्ति भी है। 'परसि पद पदुम परागा' में आदिवर्ण वृत्यनुप्रास आया है। इन दोनों पदों में अधिक अभेद रूपक है। पराग के कारण परिणाम नहीं होने पाया। भूरि, भूमि, भागा में भी वृत्यनुप्रास है। राम-पद-रज के स्पर्श से भूमि के भूरि भाग्य-वर्द्धन से उनमें श्लाघ्य चरित्र का महत्त्व प्रकट हुआ, जिससे उदात्त अलंकार आया। यहाँ ऋद्धि से भी उदात्त हो सकता है, परन्तु आचार्यों ने ऋद्धि वाले उदात्त की धन से ही रूढ़ि कर ली है। पुर-ग्राम धन्य, पुण्यमय तथा शोभायमान हैं, यहाँ समुच्चय अलंकार हुआ। प्रथम दो पदों में विशेष वर्णन, द्वितीय दो में सामान्य और तृतीय दो में फिर विशेष है, सो यहाँ विकस्वर अलंकार हुआ। कुल अलंकारों में अप्रस्तुत-प्रशंसा मुख्य है, क्योंकि प्रस्तुत राम की सीधी बड़ाई न करके कवि ने मार्गस्थ ग्रामों आदि का यश गाया है, जिससे राम-यश निकलता है।

इन छंदों में यद्यपि लाक्षणिक पद आए हैं, तथापि वाचक प्रबल है, और उसी का सर्वत्र प्राधान्य है। यहाँ अर्थव्यक्त प्रधान गुण है, परन्तु समता, समाधि, सुकुमारता, उदारता, प्रसाद और कांति भी हैं। सो इन दो छंदों में साहित्य के दस गुणों में से श्लेष, माधुर्य और ओज छोड़कर सभी वर्तमान हैं। इतने गुणों का एक इतने छोटे स्थान पर मिलना प्राय: असम्भव है। इनमें भारती और सात्वती वृत्तियाँ हैं। दोषों में यहाँ भूरि शब्द पर ध्यान जाता है, जो भाग और भूमि दोनों की ओर जा सकने से संदिग्ध हुआ जाता है, परन्तु वह भी भाग का प्राबल्य से विशेषण होता है, सो दोषोद्धार हो जाता है। वर्णन नागर हैं, क्योंकि पद-रज पड़ने से प्रतिस्थान ऐसा हो जाता है कि उससे अमरावती शरमाती है। यहाँ अद्भुतरस

का समावेश है। इसके आलम्बन राम-चरण एवं मार्गस्थ पुर-ग्राम हैं, और स्थायी वह आश्चर्य है कि मार्गस्थ पुर-ग्रामों के महत्त्व को नाग तथा सुर-नगर सिहाते हैं, एवं अमरावती उनकी समता नहीं कर पाती। उद्दीपन यहाँ राम-गमन का समय है। राम-चरण का चलना, भूमि द्वारा राम-पद का स्पर्श होना तथा अपना भूरि भाग माना जाना संचारी हैं। 'केहि सुकृती केहि घरी बसाए। धन्य पुन्यमय परम सुहाए।।' और 'तिन्ह समान अमरावति नाहीं' अनुभाव हैं। चलने में उग्रता संचारी है, जो श्रृंगार रस में वर्जित है, किन्तु इतर रसों में नहीं। अतः अद्‌भुतरस पूर्ण है। यह रस प्रच्छन्न है।

सब बातों के ऊपर यहाँ रामचन्द्र का महत्त्व और कवि की उनमें प्रगाढ़ भक्ति मुख्य हैं, सो तात्पर्याख्यावृत्ति सर्वप्रधान है। कुल बातों पर ध्यान देने से प्रकट है कि यह उत्तम काव्य है।"[162]

मिश्र बंधु की उपर्युक्त समीक्षा विशुद्ध भारतीय काव्यशास्त्र की गहनता एवं महानता को विवृत करती है। खेद है कि भारतीय काव्यशास्त्र के सम्यक् ज्ञान के अभाव के कारण अब इस प्रकार की समीक्षा का तिरोभाव होता जा रहा है।

30. सीता का संकोच-सौन्दर्य

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूँछत अति सनेहँ सकुचाहीं।।...
स्यामल-गौर किसोर बर, सुन्दर, सुषमा-ऐन।
सरद सर्बरीनाथ मुखु, सरद सरोरुह नैन।।
कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि, कहहु को आहिं तुम्हारे।।
सुनि सनेहमय, मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी।।
तिन्हहि बिलोकि, बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी।।
सकुचि, सप्रेम बालमृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी।।
सहज सुभाय, सुभग तन, गोरे। नामु लखनु, लघु-देवर मोरे।।
बहुरि, बदन-बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ, भौंह करि बाँकी।।
खंजन-मंजु, तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि।।[163]

उपर्युक्त पंक्तियाँ संसार-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कविता में सरलतापूर्वक समाहित की जा सकती हैं। इनमें नाना अनुप्रास, रूपक, प्रतीप, अतिशयोक्ति इत्यादि

---

162. मिश्र बंधु विनोद (संस्करण 1972), पृष्ठ 9-11
163. रामचरितमानस 2/115/4; 116, 1-7

अलंकार विद्यमान हैं, किंतु उन पर ध्यान ही नहीं जा पाता, ठीक वैसे जैसे पावनतम-सुन्दरतम प्रतिमा के दर्शन के समय उसके रूप पर ही ध्यान केन्द्रित हो जाता है, आभूषण एवं परिधान सब विस्मृत हो जाते हैं। अलंकारों का 'सर्वोच्च प्रयोग वहाँ होता है, जहाँ वे कविता के आत्म-सौन्दर्य से संपृक्त हो गये हों। 'सौंदर्य अलंकारः' का सूत्रकर्ता कितना महान् काव्यमर्मी था! अवधी भाषा जितनी सुषमासम्पन्न इन पंक्तियों में हुई है, उतनी अन्यत्र नहीं। सुकुमार नारी-मनोविज्ञान का इतना गरिमामय चित्र संसार-साहित्य में दुर्लभ है। ग्रामवधुओं का गुदगुदाने वाला प्रश्न सुनकर सीता का मन-ही-मन मुस्कराना उनकी गौरव-गरिमा के शतशः अनुकूल है। बाह्यस्मित यहाँ स्थूल होता। मनःस्मित का भी न होना कला और स्वाभाविकता के साथ न्याय न कर पाना होता। सीता का सौन्दर्य-बिंब यहाँ सूक्ष्म-स्थूल एवं स्थूल-सूक्ष्म में अद्वय स्थापित कर देता है। महाकवि प्रसाद की निम्नांकित पंक्तियाँ यहाँ आकार प्राप्त करती हैं—

> कोमल किसलय के अंचल में
> नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी;
> गोधूली के धूमिल पट में
> दीपक के स्वर में दिपती सी।…
> वैसी ही माया में लिपटी
> अधरों पर उँगली धरे हुए।…[164]

प्रसाद सौन्दर्य के महाकवि थे। उनकी इन पंक्तियों में सौन्दर्य-बिम्ब सर्वोच्च कोटि का उभरा है, जो संयोगात् उनकी किसी पात्रा की अपेक्षा तुलसी की सीता से अधिक सम्बद्ध प्रतीत होता है—

> तुम कनक किरण के अन्तराल में
> लुक छिप कर चलते हो क्यों?
> नतमस्तक गर्व वहन करते
> यौवन के घन रसकन दरते
> हे लाज भरे सौन्दर्य!
> बता दो, मौन बने रहते हो क्यों?
> अधरों के मधुर कगारों में,
> कल कल ध्वनि की गुंजारों में,

---

164. कामायनी, लज्जा सर्ग

मधुसरिता-सी यह हँसी
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ? ...165

ग्रामवधुओं का सीता से "ये तुम्हारे कौन हैं ?" पूछना और सीता का दो संकोचों का अनुभव करना—यदि उत्तर नहीं देतीं तो वे अभिमान समझेंगी, हम गँवार स्त्रियों से यह महानतम सुन्दरी राजकुमारी बात क्यों करेंगी ? यदि उत्तर देती हैं तो लाज लगती है ! —काव्य को काव्यमय बनाने वाला प्रसंग है। "दुहुँ सकोच" ये दो शब्द सीता को द्विविध महानता से सम्पन्न कर देते हैं। वे शीलवती तो हैं ही, लज्जावती भी हैं। सीता भारतीय नारीत्व का मानवीकरण हैं। विश्व-वाङ्मय में उनकी महिमा का उपमान नहीं प्राप्त होता। नारी में यदि शील एवं लज्जा के द्विगुण विद्यमान हों, तो उसका गौरव अनायास ही कोटिगुणित हो जाता है। बिहारी ने "तियलिलार बेंदी दिएं अगनित बढ़त उदोत" कहा है। मैं कह सकता हूँ, "तियमुख लज्जाकांति तें अगनित बढ़त उदोत" ! लज्जा नारी की शक्ति है—"या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता।" सर्वभूत यहाँ नारी का ही पर्याय-विशेष माना जा सकता है। "गौरवर्ण लक्ष्मण मेरे छोटे देवर हैं" में भरत का बड़ा देवर होना स्वतः व्यंजित है। इतने से ही उत्तर बन जाता है, किन्तु वह ईषत् है और सीता "दुहुँ सकोच" के कारण पूर्ण उत्तर देना ही उचित समझती हैं। "दुहुँ सकोच" की प्रेरणा से ही वे वदन-विधु को आँचल से ढँकती हैं, प्रियतम की ओर वंकिम भृकुटि करते हुए निहारती हैं और नयन-भाषा में ईषतोत्तर की पूर्णोत्तर का स्वरूप प्रदान करती हैं ! जितना कलामय प्रश्न था, उससे कोटि-गुणित अधिक कलामय उत्तर दिया गया ! इस प्रश्नोत्तरालंकार के समक्ष अलंकार पुंज भी विनत हो जाएगा !

नयन-भाषा का समर्थ एवं मनमोहक प्रयोग कलाकार-महाकवि बिहारी ने अपने इस सर्वश्रेष्ठ दोहे में किया है—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मैं करत हैं नैननु ही सब बात ॥166

'गागर में सागर' की दृष्टि से बिहारी द्वारा रचित इस सर्वश्रेष्ठ दोहे की समता कठिन है। बिम्बालेखन, वस्तुतः बिम्ब-वैविध्य, एवं भावशबलता की दृष्टि से भी यह महान् दोहा अद्वितीय है। किन्तु तुलसी की सीता की नयन-भाषा में जिस सूक्ष्मतम सौंदर्य-गरिमा एवं शील-महिमा की युगपत् अभिव्यक्ति हुई है, वह अपने आप में अनुपमेय है।

---

165. चन्द्रगुप्त 1/2
166. बिहारी-सतसई, 32

31. मार्गवासियों के उद्‌गार

सहित-विषाद परसपर कहहीं। बिधि-करतब उलटे सब अहहीं।।
निपट निरंकुस, निठुर, निसंकू। जेहिं ससि कीन्ह सरुज सकलंकू।।
रूख कलपतरु, सागर खारा। तेहिं पठए बन राजकुमारा।।
जौं पै इन्हहि दीन्ह बनबासु। कीन्ह बादि बिधि भोगबिलासू।।
ए बिचरहिं मग बिनु पदत्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना।।
ए महि परहिं डासि कुस, पाता। सुभग सेज कत सृजत बिधाता।।···
एक कहहिं ए सहज सुहाए। आपु प्रगट भए, बिधि न बनाए।।···
देखहु खोजि भुअन दसचारी। कहँ अस पुरुष, कहाँ असि नारी।।···
एक कहहिं, हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं।।[167]

वनपथ पर राम-सीता-लक्ष्मण—एक पावन किन्तु विस्मयकारी तथ्य था; अभूतपूर्व, अप्रत्याशित, अकल्पनीय और अब "न भूतो, न भविष्यति" का प्रमाण। शक्ति, शील और सौन्दर्य की ऐसी पावन त्रिवेणी कभी नहीं प्रवाहित हुई। अतएव, महिमा के पारखी जनमानस पर इसका विशद प्रभाव अवश्य पड़ा। विश्वस्तरीय महाकाव्यकार तुलसी ने इस मार्मिक, कलात्मक और काव्यात्मक प्रकरण की प्रशस्य परख की तथा इसका सुविस्तृत, सुन्दरतम और प्रभावी वर्णन किया। यह उनकी मौलिक उद्‌भावना-शक्ति अथवा प्रकरण-वक्रता का सर्वोपरि निदर्शन है, क्योंकि रामायण और अध्यात्म-रामायण में यह प्रकरण नहीं प्राप्त होता। परवर्ती वर्णनों में ऐसी विशदता कहाँ ?

अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, अपह्नुति इत्यादि अलंकारों से सम्पन्न इस उत्कृष्ट वर्णन की सर्वोपरि विशेषता इसकी व्यापक संवेदनशीलता है। जो चरण भूमि पर पड़ने योग्य न थे, वे पदत्राण-विहीन हुए भयावह अटवी का अटन कर रहे थे ! जो शरीर कौशेय-परिधान के उपयुक्त थे, वे काषाय भी नहीं अपितु वल्कल धारण किए थे ! जो व्यक्ति राजप्रासादों को गौरव प्रदान करने वाले थे, वे तरु के तले विराम प्राप्त करते थे ! और वे सर्वथा निर्दोष थे ! ऐसी स्थिति में, उनका अवलोकन संवेदनशीलता को स्फुटित करने का सहज अधिकारी था। तुलसी ने अधिकारी प्रकरण को उसका न्यायोचित अधिकार प्रदान करने में पूर्ण उत्साह दिखलाया है।

राम, सीता और लक्ष्मण का रूप, सौन्दर्य, वय, गौरव इत्यादि सभी कुछ ऐसा था कि उन्हें देखकर यह कहना स्वाभाविक था कि ये स्वयं प्रकट हुए हैं,

167. रामचरितमानस 2/118/2-6; 119/2, 4, 7

विधाता द्वारा निर्मित नहीं हैं, क्योंकि विधाता में इन-जैसों के सृजन का सामर्थ्य कहाँ ? यदि ऐसा सामर्थ्य होता, तो चौदहों भुवनों में एक उपमान तो प्राप्त हो ही जाता !

कविकुलगुरु कालिदास के वटु-रूपधारी शिव पार्वती से उनके रूप, सौन्दर्य और वय के अनुकूल आभूषण त्यागकर वल्कल धारण करने का कारण पूछते हैं, एक अन्य प्रश्न करते हैं—बताओ तो सही, कहीं चमकते हुए चन्द्रमा और तारों से भरी रात प्रारम्भ में ही प्रभात में परिणत हो सकती है ? तुम्हारी आयु, तुम्हारा रूप, तुम्हारा सौन्दर्य, तुम्हारा सर्वस्व ऐश्वर्योपभोग के उपयुक्त है, तपश्चर्या के नहीं। फिर, यह-सब क्यों ? —

किमित्यपस्याभरणानि यौवने
धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम् ?
वद, प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका
विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ?[168]

तुलसी के राम, सीता और लक्ष्मण का वनगमन यहाँ सर्वविज्ञात है। अतएव, ऐसे प्रश्न नहीं किए-कराए गए। फिर भी, ऐसे प्रश्नों का स्मरण हो ही आता है।

यह अवसर विधाता के प्रत्याख्यान के सर्वथा उपयुक्त था। भावुक-सम्राट् तुलसी ने वर्ण्य के औचित्य के अनुरूप पर्याप्त प्रत्याख्यान कराके काव्य-न्याय का सम्यक् परिचय दिया है। विधाता का युक्तियुक्त प्रत्याख्यान मनोवैज्ञानिक परितोष प्रदान करता है। मानव-मनस् का आलोचक-संकाय अतीव गतिविधि-सम्पन्न रहता है। मानव जन्मजात आलोचक है। फिर, कवि तो मानवों में मानव होता है ! कवि-सम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की दुर्दैव-आलोचना भी अतीव सजीव है—

काले, कुत्सित कीट का कुसुम में कोई नहीं काम था।
काँटे से कमनीय कंज-कृति में क्या है न कोई कमी ?
पोरों में कब ईख की विपुलता है ग्रन्थियों की भली ?
हा ! दुर्दैव-प्रगल्भते ! अपटुता तूने कहाँ की नहीं ! ![169]

32. वनपथ पर राम-सीता-लक्ष्मण

आगें रामु, लखनु बने पाछें। तापस बेष बिराजत काछें ॥
उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म-जीव बिच माया जैसें ॥

168. कुमारसम्भवम् 5/44
169. प्रियप्रवास 4/20

बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु-मदन मध्य रति लसई॥
उपमा बहुरि कहउँ जियँ जोही। जनु बुध-बिधु बिच रोहिनि सोही॥[170]

वनपथ पर राम-सीता-लक्ष्मण का प्रस्तुत वर्णन अनुभूति एवं अभिव्यक्ति उभय पक्षों की दृष्टि से बहुत सुन्दर है। पहली चौपाई में उत्प्रेक्षा और यथासंख्य (क्रम) अलंकारों का सहज सुन्दर प्रयोग प्राप्त होता है। दूसरी में अक्रमत्व दोष के बावजूद दो बार उत्प्रेक्षा का पूर्ववत् सुन्दर प्रयोग किया गया है। हिन्दी के सूर, तुलसी इत्यादि अनेक महाकवियों ने सर्वत्र उत्प्रेक्षा का प्रयोग उपमा कहकर किया है। उपमा प्राचीनतम एवं व्यापकतम अलंकार है—सहजालंकार है। उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीप, व्यतिरेक, दृष्टांत, उदाहरण, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगिता इत्यादि अलंकार उपमा के ही परिवर्तित अथवा विकसित रूप हैं। इसीलिए, सूर, तुलसी इत्यादि ने इस प्राविधिक बिन्दु पर ध्यान देना उचित नहीं समझा है। किन्तु वस्तुतः इसे आलोच्य माना जा सकता है।

माया का शाब्दिक अर्थ है, जो (या) न (मा) हो, किन्तु फिर भी प्रभावित करती हो—माया अर्थात् नहीं है जो तत्त्वतः, किन्तु प्रभावित करती है वस्तुतः। शंकराचार्य ने माया को गुणत्रय से युक्त अविद्यारूपिणी माना है। "उसका पता उसके कार्य से चलता है। वही इस जगत् को उत्पन्न करती है। माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और अभयरूप भी नहीं है। वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाऽभिन्न उभयरूप है। न अंगसहित है और न अंगरहित है और न उभयात्मिका ही है, किन्तु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीय है।"[171] डॉ० उमेश मिश्र के शब्दों में, "शंकराचार्य माया को 'तुच्छ' कहकर परित्याग करने को प्रस्तुत नहीं हैं। इससे यह कहा जा सकता है कि शांकरवेदान्त को वस्तुतः माया से छुटकारा नहीं है। वह ब्रह्म के समान, किसी-न-किसी रूप में, 'अनिर्वचनीया' ही होकर रहती है अवश्य।"[172] स्पष्टतः, शंकराचार्य का मायावाद जटिल एवं विरोधयुक्त है, "ब्रह्म सत्य, माया मिथ्या है, ऐसा कहने पर प्रकारांतर से द्वैताभास आ ही जाता है। जिस अवस्था में माया मिथ्या है, उस अवस्था में ब्रह्म भी मिथ्या है, क्योंकि माया को मिथ्या अनुभव करते ही माया की सत्ता का स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है और माया को स्वीकार करने से ही उस अवस्था में जो ब्रह्मबोध होता है, वह मायाकल्पित वस्तु है। यह बात वेदांती को भी किसी-न-किसी प्रकार स्वीकार करनी पड़ती है। इधर माया को सत्य समझने में ब्रह्म भी

---

170. रामचरितमानस, 2/112/1-4
171. श्री शंकराचार्य, पृष्ठ 249
172. भारतीय दर्शन, पृष्ठ 374-75

सत्य हो जाता है।···माया अथवा तत्प्रसूत जगत् का त्याग करके नहीं, वरन् उसको साक्षात् ब्रह्मशक्ति और उसके विकासरूप में अनुभव करने से, आलिंगन करने से ही जीवन की सार्थकता सम्भव हो सकती है।"[173] मेरा अनुमान है कि सरल-सहज जीवन-यापन करने वाले आर्यों ने शिल्प-चमत्कारपूर्ण जीवन-यापन करने वाले दानववर्गीय 'मय'-जन की कृतियों का पहले तो 'माया' कहकर विरोध किया होगा, किन्तु कालांतर में कुछ तो पारस्परिक सम्पर्क तो कुछ सुविधा के कारणों से, ननु-नच के साथ ही सही, सम्मान प्रदान किया होगा—दोनों तथ्य सर्वथा स्वाभाविक हैं, जो जातिविद्वेष एवं जातिसमन्वय के क्रम से मानवजाति के इतिहास में भरे पड़े हैं। माया शब्द के प्रशस्य एवं निंद्य उभय प्रयोग आदिग्रंथ ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। इसीलिए, शंकराचार्य का दृष्टिकोण भी उभयात्मक रहा। आज भी, कोटि-कोटि भारतीय जन माया को यथासमय प्रशस्य एवं यथासमय निंद्य बतलाते मिलते हैं। शंकराचार्य के अद्वैतवाद में व्याप्त मायावाद की प्रतिक्रिया में काश्मीरीय शैव दर्शन के आनन्दवाद, भास्कर के भेदाभेदवाद, रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद, मध्व के द्वैतवाद और वल्लभ के शुद्धाद्वैतवाद दर्शन उद्भूत और विकसित हुए, जिनमें जगत् और जीवन को गौरव और प्रेम प्रदान किया गया, माया को परमात्मा की बीजशक्ति माना गया। तुलसी ने शंकराचार्य और परवर्ती रामानुजाचार्य इत्यादि के विचारों में समन्वय करते हुए रामचरितमानस में माया के विद्या और अविद्या दो रूपों का प्रतिपादन किया है।[174] वैष्णव दर्शनों में माया-ब्रह्म, लक्ष्मीनारायण, सीता-राम, राधा-कृष्ण की समान प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। अतएव, तुलसी का प्रस्तुत अलंकरण सर्वथा सार्थक है। इससे सीता के गौरव की संरक्षा होती है, उसका ह्रास नहीं होता। अन्यत्र भी उन्होंने ठीक ऐसा ही अलंकरण किया है—

आगें राम अनुज पुनि पाछें। मुनिबर बेष बने अति काछें॥
उभय बीच सिय सोहति कैसी। ब्रह्म-जीव बिच माया जैसी॥[175]

स्पष्टतः तुलसी माया को, कम-से-कम सीता के सन्दर्भ में, अथवा प्रकारांतर से विद्या माया को, जीव को ब्रह्मलीनता के साधना में व्यवधान नहीं मानते। यों, सीता के सन्दर्भ में माया का उपमान एक आलोच्य बिन्दु माना जा सकता है।

तुलसी ने राम-लक्ष्मण के मध्य सीता के लिए यदि "ब्रह्म-जीव के मध्य माया" का दार्शनिक अलंकरण प्रस्तुत किया है, तो "मदन-मधु के मध्य रति" और

173. वही, पृष्ठ 389
174. रामचरितमानस, 3/14/4
175. रामचरितमानस 3/6 ख/2-3

"चन्द्र-बुध के मध्य रोहिणी" का कलात्मक और काव्यात्मक अलंकरण प्रस्तुत करना भी नहीं भूले। रामचरितमानस में दर्शन और कविता का जैसा अर्द्धनारीश्वर रूप दृष्टिगोचर होता है, वैसा पदमावत और कामायनी में भी नहीं, क्योंकि पदमावत की कथा में दर्शन अपना पृथक् अस्तित्व बराबर घोषित करता रहता है और कामायनी का दर्शन "दर्शन के लिए दर्शन" प्रतीत होता है, कथा का सहज अंग नहीं।

राम-सीता-लक्ष्मण के लिए ब्रह्म-माया-जीव, मदन-रति-मधु और चन्द्र-रोहिणी-बुध का अलंकरण तीनों की अन्योन्यता का गहन प्रतिपादन अनायास ही कर डालता है।

रामचरितमानस का वनगमन-वर्णन कविता, कला, शील, मर्यादा, दर्शन इत्यादि सभी में रामायण, अध्यात्म-रामायण, रामचन्द्रिका, साकेत इत्यादि से श्रेष्ठतर है। साकेत में तो यह वर्णन न पर्याप्त है, न अच्छा। रामचन्द्रिका में यह वर्णन अलंकृत शैली में प्राप्त होता है, जो आकर्षक तो है किन्तु गम्भीर नहीं। अध्यात्म-रामायण की आकारगत लघुता में इसे सम्यक् महत्त्व नहीं मिल सका। रामायण में कथावाद की प्रधानता है, रामचरितमानस में भाववाद की। अतएव, यह वर्णन रामचरितमानस में सर्वोपरिता से सम्पन्न हो गया है।

33. वाल्मीकि की राम-वास-अनुशंसा

सुनहु राम, अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय, लखन समेता।।···
लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस-जलधर अभिलाषे।।
निदरहिं सरित, सिंधु, सर भारी। रूपबिंदुजल होहिं सुखारी।।
तिन्हकें हृदय-सदन सुखदायक। बसहु बंधु-सिय-सह रघुनायक।।···
काम, कोह, मद, मान, न मोहा। लोभ, न छोभ, न राग, न द्रोहा।।
जिन्हकें कपट, दंभ, नहिं माया। तिन्हकें हृदय बसहु रघुराया।।···
जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेहु।।[176]

राम के स्वयं, सीता और लक्ष्मण के हेतु उपयुक्त आवास पर प्रश्न के उत्तर में वाल्मीकि जो विशद और पावन उत्तर देते हैं, उसमें भक्ति, ज्ञान, योग और कर्म को सम्यक् महत्त्व प्रदान किया गया है, यद्यपि भक्ति का विशेष प्रतिपादन स्वाभाविक है, क्योंकि तुलसी सबसे पहले और सबसे अन्त में भक्त मात्र हैं। इस

176. रामचरितमानस, 2/127/3, 6-8; 129/1-2; 131

अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन में साधना के समग्रत्व का सम्मान किया गया है। तुलसी का विराटवाद यहाँ भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है। तुलसी का भक्ति-दर्शन समग्र जीवन-दर्शन का प्रतीक है।

तीन पृष्ठों में प्रसरित इस प्रकृष्ट उद्गार में सर्वप्रथम वाल्मीकि राम के ब्रह्मत्व पर प्रकाश डालते हैं। तदनन्तर वे चातक को भक्ति का आदर्श मानते हुए रूपक के माध्यम से अनन्य भक्तों के हृदय में निवास की अनुशंसा करते हैं। चातक को भक्ति का प्रतीक माना गया है। काव्य के मीन, सारस, चकोर, हंस, चातक इत्यादि प्रतीक भारत की भावुकता के महान् द्योतक हैं। ऐसे और इतने प्रतीक संसार में अन्यत्र दुर्लभ हैं। कबीर और तुलसी ने चातक-भक्ति के प्रभावी वर्णन किए हैं। तुलसी ने मानस में यत्र-तत्र-सर्वत्र चातक को भक्ति की अनन्यता का उपमान बनाया है। दोहावली में चातक-भक्ति का स्फीत निरूपण प्राप्त होता है। तुलसी के वाल्मीकि ने सर्वप्रथम भक्तों के हृदय में निवास की अनुशंसा की है, तदनन्तर कर्मियों के, तदनन्तर ज्ञानियों और योगियों के, अन्ततोगत्वा पुनः भक्तों के—आदि में भक्ति, अन्त में भक्ति; भक्ति के दो छोरों के मध्य में कर्म, ज्ञान, योग, सबकुछ। इस प्रकार, उन्होंने बड़े कौशल से पथचतुष्टय का समाहार प्रस्तुत कर दिया है। तुलसी की यह विशेषता है कि वे भक्ति, कर्म, ज्ञान, योग में किसी को हेय नहीं मानते, भले ही युग के अनुरूप और सरल होने के कारण भक्ति का प्रतिपादन करते हों। इसी प्रकार, वे समग्र पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की समग्र प्रतिष्ठा करते हैं और राम से इसके समग्र तत्त्वों को संपृक्त कर देते हैं—"सकल राममय जानि" की स्थापना को सर्वव्याप्त ही रखते हैं।

यह वर्णन अध्यात्म-रामायण में भी प्राप्त होता है। अन्तर केवल इतना है कि तुलसी ने वाल्मीकि का स्वकथित जीवन-वृत्त अंकित नहीं किया; केवल दर्शन और काव्य के उपयुक्त उद्गारों को ही स्थान प्रदान किया है।[177] रामायण में प्रस्तुत प्रकरण है ही नहीं। उसमें भरद्वाज राम से पहले तो प्रयाग में ही निवास का आग्रह करते हैं, किन्तु उनके यह कहने पर कि यहाँ से अवध अत्यन्त निकट है और इस कारण से आगन्तुकों की भीड़ लगी रहा करेगी, जबकि मैं एकांत में वनवास तपश्चरण चाहता हूँ, वे चित्रकूट का परामर्श देते हैं। यदि अध्यात्म-रामायण रामचरितमानस-परवर्ती ग्रंथ माना जाए, तो तुलसी ने यहाँ भी प्रकरण-वक्रता का प्रयोग किया है।[178]

---

177. अयोध्याकांड, सर्ग 6
178. अयोध्याकांड, सर्ग 54

34. कोल-किरातों का राम-प्रेम

यह सुधि कोल-किरातन्ह पाई। हरषे जनु नवनिधि घर आई।।
कंद, मूल, फल भरि-भरि दोना। चले रंक, जनु लूटन सोना।।
तिन्ह महँ जिन्ह देखे दोउ भ्राता। अपर तिन्हहिं पूँछहिं मगु जाता।।
कहत-सुनत रघुबीर-निकाई। आइ सबन्हि देख रघुराई।।
करहिं जोहारु, भेंट धरि आगे। प्रभुहिं बिलोकहिं अति अनुरागे।।
चित्र लिखे जनु जहँ-तहँ ठाढ़े। पुलक सरीर, नयन जल बाढ़े।।[179]

तुलसी जीवन के विराटवादी द्रष्टा थे। उनके राम सबके हैं—दशरथ और जनक जैसे विशदयश राजाओं के, कौशल्या और सुनयना जैसी गौरवशाली रानियों के, निषादराज गुह के, वानरराज सुग्रीव के, राक्षसराज विभीषण के, दीन-दरिद्र कोलों और किरातों के, क्रूरकर्मा आभीरों और खसों के, हिंस्र यवनों और म्लेच्छों के, अविकसित वानरों और भल्लों के, गृद्धजातीय जटायु और शबर-जातीय शबरी के। वस्तुतः गृद्ध, वानर, भल्ल इत्यादि भी प्राचीन आदिवासियों के वर्ग ही थे, जो स्वयं को सम्बद्ध पक्षी अथवा पशु से सम्भूत मानते रहे होंगे। विश्व के अनेक आदिवासियों में ऐसी मान्यताएँ अब तक विद्यमान हैं। प्राचीनतम मानवता में वृषभ, सिंह, भल्ल, वानर, वृक, नाग, श्येन, गृद्ध, क्षेमकरी इत्यादि पशुओं और पक्षियों का बहुत सम्मान था, जिसे ऋग्वेद, रामायण, महाभारत, इलियड और ओडिसी के समादृत उपमानजगत् में आज भी देखा जा सकता है। सिंहलवासी आज भी अपने पूर्वपुरुष राजकुमार विजय को सिंहोद्भूत मानते हैं। राजदूत अपने नाम के अंत में सिंह शब्द का प्रयोग किया करते थे और अब भी करते हैं। राजपूतों के अनुकरण में सिख और जाट, यादव और गूजर इत्यादि भी समग्रतः अथवा अंशतः ऐसा करने लगे थे और अब भी करते हैं। सिख आज के विकसित युग में भी "शेराँ दी औलाद" कहते नहीं थकते। पश्चिम में भी लायन, टाइगर, वुल्फ, फॉक्स, बुल, मेयर, स्वान, हॉक, ईगल इत्यादि पशुओं अथवा पक्षियों से सम्बद्ध अभिधान अथवा विशेषण प्राप्त होते हैं, यहाँ तक कि नितांत नवीन आधुनिकता भी उनका सम्पूर्ण बहिष्कार नहीं करा सकी। भारतीय साहित्य में प्राप्त वानर, भल्ल, गृद्ध इत्यादि जातियों के सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान्, जटायु इत्यादि वस्तुतः महामानव थे, जिनका अलंकृत प्रयोग किया गया है। गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, नाग इत्यादि प्रशस्य एवं असुर, राक्षस, दानव, पिशाच इत्यादि निंद्य जातियों के शत-शत प्राचीनोल्लेख उनके आर्यों के साथ सौमनस्य

179. रामचरित मानस 2/134/1-6

एवं वैमनस्य का इतिहास विवृत करते हैं। द्रविड़, शक इत्यादि जातियों के कहीं अनुकूल एवं कहीं प्रतिकूल उल्लेख अतीतरस की निष्पत्ति कर सकते हैं। हिंदी के महाकवियों में तुलसी ने विभिन्नवर्गीय नरकोटियों का सर्वाधिक उल्लेख किया है और समन्वय की दृष्टि से किया है। इस दृष्टि से, वे मनु, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य इत्यादि से बहुत अधिक उदार हैं। अपने विशद भक्तिधर्म में सुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग, कोल, किरात, खस, भिल्ल, वानर, भल्ल, शबर, यवन, म्लेच्छ इत्यादि सभी को समाहित करने वाले तुलसीदास सच्चे अर्थों में 'भिन्नता में एकता, अथवा 'एकता में भिन्नता' के प्रतिपादक गौरवशाली राष्ट्रकवि थे, विश्वकवि थे। उनका भक्तिधर्म प्रत्येक नर-नारी का दोनों बाँहें फैलाकर स्वागत करता है। खेद है कि इतिहास की जटिलताओं और तुलसी की उदारता से अपरिचित तत्त्व इतने बड़े मानवतावादी विश्वकवि की प्रत्यालोचना करते हैं।

हिंदी-गद्य में पाश्चात्य लेखकों, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, क्षितिमोहन सेन इत्यादि की प्रेरणा से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्राचीनतम जातियों एवं उनके जीवन-मूल्यों के व्यापक समावेश से सम्पन्न हुई विराट् राष्ट्रीय संस्कृति के विकास, परिवर्तन इत्यादि का अपने 'अशोक के फूल', 'आम फिर बौरा गए' इत्यादि ललित-निबंधों में प्रभावी अंकन किया है, किंतु उसमें तुलसी के रस और प्रसाद-गुण के दर्शन नहीं हो पाते, जिसका कारण नेता के सदृश एकता एवं क्रांति का संस्तवन है। हजारीप्रसाद जी का लगभग सारा साहित्य नेता की नियोजित भाषणवृति का स्मरण कराते रहने के कारण सहजरस अथवा सहजानंद के स्तर तक नहीं पहुँचा पाता। वे युगलेखक बहुत अधिक हैं, चिरलेखक बहुत कम। किंतु उन्होंने अपने ललित-निबंधों में प्राचीनतम जातियों का राष्ट्रीय एकता एवं मानवीय विकास की उभय दृष्टियों से बहुत ही विद्वतापूर्ण एवं प्रशस्य अंकन किया है। उनका मानवतावाद सर्वथा स्तुत्य है।

हिंदी के महाकवियों में तुलसी ने ही आदिवासियों के प्रत्यक्ष एवं पौराणिक दोनों प्रकार के वर्णन किए हैं। वे इन भोले-भाले प्राकृतिक जीवन यापन करने वाले जनवर्गों के प्रति अपार संवेदन रखते हैं। आदिवासियों में महानता के प्रति श्रद्धा आज तक पाई जाती है। पाश्चात्य राजनीति-उपजीवी तथा उच्चसुविधा-भोगी ईसाई-धर्मप्रचारकों इत्यादि ने इससे अनुचित लाभ भी उठाए हैं, भयावह रक्तपात तक कराए हैं। आदिवासी प्रेम के भूखे होते हैं। वे अतीव उदार होते हैं। मुझे अपने भील इत्यादि जनवर्गों के छात्र बहुत ही अच्छे लगे हैं। प्रोफेसर पवनकुमार नागा, डाफला, मीरी इत्यादि जनवर्गों के छात्रों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। तुलसी ने आदिवासियों की प्रेमभावना, निष्कपटता, उदारता इत्यादि प्रवृत्तियों का मार्मिक चित्रण किया है, जो सर्वथा अतुलनीय है। तुलसी ने रवीन्द्र के सदृश ("पंजाब, सिंध, गुजरात, मराठा" इत्यादि या "हिंदू, बौद्ध,

सिख जैन," इत्यादि) नाम नहीं गिनाए, प्रयत्नज ऐक्य-संस्थापन की ओर गमन नहीं किया। इसीलिए, वे सहज ऐक्य-संस्थापन में अधिक सफल हुए हैं। इसीलिए प्रत्येक वर्ग के असंख्य पाठकों ने उन्हें ऐसी अगाध श्रद्धा प्रदान की है, जैसी संसार के किसी कवि को नहीं प्रदान की। तुलसी विशुद्ध भावात्मक एकता के महाकवि हैं।

राम-सीता-लक्ष्मण की अनुपम त्रयी को कोल-किरात विह्वल होकर देख रहे हैं। उनका गहन सौंदर्यबोध एवं अखण्ड श्रद्धाभाव उन्हें अतीव कलात्मक चित्र-लिखित स्वरूप प्रदान करता है। वे बड़े भोलेपन के साथ अपनी समग्र सेवाएँ अर्पित करते हैं—

हम सब भाँति करब सेवकाई। करि, केहरि, अहि, बाघ बराई।।
बन, बेहड़, गिरि-कंदर, खोहा। सब हमार प्रभु, पग-पग जोहा।।
जहँ-तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब। सर, निरझर, भल-ठाउँ देखाउब।।[180]

तुलसी का कोल-किरात-भील इत्यादि आदिवासियों से सम्बद्ध वर्णन अतीव स्वाभाविक एवं अतीव हृदयहारी है। उनके कोल-किरातादि जितने भावुक हैं, उतने ही चतुर भी। वे जानते हैं कि राजकुमारों की आखेट एवं सौन्दर्यस्थल-दर्शन में गहरी रुचि होती है। इसलिए, वे इन बिंदुओं पर जोर देते हैं। उनका दुर्गम वनप्रदेश की पूरी जानकारी का दावा गर्वोक्ति नहीं, स्वभावोक्ति है। तुलसी का विशद मानवतावाद ऐसे स्थलों पर सुन्दरतम रूप में विवृत हुआ है।

कोल, किरात, भील इत्यादि आदिवासी अपने सरल-सहज शिष्टाचार में अतीव कुशल होते हैं। भेंट और जोहार इत्यादि में वे अतीव उदार और नम्र होते हैं। तथाकथित सभ्य जन अपने शोषण-प्रपीड़न के कारण, इधर की कुछ शताब्दियों में, उनमें आशंका और आक्रोश उत्पन्न कर चुके हैं। किंतु तुलसी के समय स्थिति भिन्न थी, जिसका अनुमान आज भी लग जाता है। तुलसी ने राम-चरित मानस के हृदय अयोध्याकांड में ही उनकी उक्त प्रवृत्तियों का एक अन्य अंकन भी किया है—

कोल, किरात, भिल्ल बनबासी। मधु सुचि, सुंदर, स्वाद सुधा-सी।।
भरि-भरि परनपुटीं अति रूरी। कंद, मूल, फल, अंकुर जूरी।।
सबहि देहिं करि बिनय, प्रनामा। कहि-कहि स्वाद, भेद, गुन, नामा।।
देहिं लोग बहु मोल, न लेहीं। फेरत, राम-दोहाई देहीं।।[181]

180. रामचरितमानस 2/135/5-7
181. रामचरितमानस 2/249/1-4

इस अवतरण में स्वाभाविकता का अपूर्व सौंदर्य विद्यमान है, जो मधु तथा मधु की पर्णपुटियों से आरम्भ होकर कंद-मूल-फल की अंटियों में विकास प्राप्त करता है तथा "कहि-कहि स्वाद, भेद, गुन, नामा", में चरमसीमा। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने तुलसी के व्यापक देशाटन का उल्लेख किया है।[182] हिमालय के अंक में स्थित मानसरोवर (मानसरोवर, जो तिब्बत को हथिया लेने के कारण अब चीन में है) के उदात्त परिवेश एवं अनिर्वचनीय सौंदर्य ने उन्हें अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ के नामकरण की प्रेरणा प्रदान की होगी। सागर-स्थित रामेश्वरम् का पावन वर्णन तो उन्होंने किया ही है। आसेतुहिमाचल समग्र भारत के अटन ने उनके वर्णन के आयामों को अतीव स्फीत कर दिया है। कालिदास के अतिरिक्त भारत के किसी महाकवि ने विराट् भारत का वैसा सहज एवं विशद दर्शन एवं अंकन नहीं किया जैसा तुलसीदास ने। नाना स्थानों एवं नाना जातियों के सहज-सुन्दर वर्णन इस कथन के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। राजशेखर एवं देव प्रभृति कवियों ने नायिका-संदर्भ एवं विलास-प्रकरण में भारत के अनेक राज्यों के नाम गिनाए हैं। कल्हण ने राजतरंगिणी में यथासंदर्भ राज्योल्लेख किए हैं। रवीन्द्र ने 'जनगण-मन अधिनायक' शीर्षक गीत में राज्यों एवं धर्मों की नाम-तालिका प्रस्तुत की है। किंतु जो सहज-अकृत्रिम एवं प्रशांत-गहन राष्ट्र-वैराट्य कालिदास एवं तुलसीदास में दृष्टिगोचर होता है, वह किसी में नहीं। अपने ऐतिहासिक भूदान यज्ञ के सिलसिले में पदयात्रा करते हुए आचार्य विनोबा भावे जब तुलसी के जन्मस्थान राजापुर (जिला बांदा, उत्तर-प्रदेश) गए थे, तब उन्होंने प्रभावी श्रद्धांजलि अर्पित की थी—आजकल मैं थोड़ा-बहुत घूम लेता हूँ तो लोग बहुत प्रशंसा करते हैं, लेकिन तुलसीदास तो लगातार बहुत घूमे थे; कोल, किरात इत्यादि आदिवासियों का उन्होंने कितना सुन्दर वर्णन किया है !

ऐसे अनुभवसम्पन्न एवं स्वाभाविक वर्णन तुलसी के महान् जनकवि होने के गौरव के प्रधान के कारण माने जा सकते हैं। क्या द्विज तो क्या अंत्यज, क्या राजा तो क्या रंक, क्या नागर तो क्या ग्रामीण, क्या बनवासी तो क्या गिरिवासी, सबका चित्रण वे पूरे अधिकार, पूरे संवेदन एवं पूरी तन्मयता से करते हैं। जीवनरस से सराबोर ये वर्णन उनकी विशद भावुकता के शाश्वत प्रमाण हैं। और ये वर्णन उनके अपने हैं। ऐसे वर्णन न रामायण में हैं, न अध्यात्म-रामायण में। रामायण वृत्तप्रधान महाकाव्य है, रामचरितमानस व्रतप्रधान महाकाव्य है। तुलसी का व्रत था, राम को समग्र जीवन में व्याप्त करना। उन्होंने अपने व्रत को सफलतापूर्वक पूर्ण कर लिया है।

---

182. 'गोस्वामी तुलसीदास' ग्रंथ में।

35. अश्वों का राम-प्रेम

देखि दखिनदिसि हय हिहिनाहीं । जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं ।।
नहिं तृन चरहिं, न पिअहिं जलु, मोचहिं लोचन बारि ।
ब्याकुल भए निषाद सब रघुबर-बाजि निहारि ।।···
चरफराहिं, मग चलहिं न घोरे । बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे ।।
अढुकि परहिं, फिरि हेरहिं पीछें । राम-बियोग-बिकल, दुख तीछें ।।
जो कह रामु, लखनु, बैदेही । हिंकरि-हिंकरि हित हेरहिं तेही ।।[183]

अश्व मानव का अतीव पुरातन सुहृद् रहा है। मानव के लिए अश्व क्षिप्रता एवं गति का प्रतीक रहा है। आज के वैज्ञानिक युग में भी ऊर्जा का आकलन एवं अंकन अश्व-शक्ति से ही किया जाता है। यह अश्व के उज्ज्वल अतीत का द्योतक है। अश्व एक सुंदर एवं स्वामिभक्त, चतुर एवं वीर पशु है। संसार-साहित्य में उसकी महिमा, शोभा एवं प्रवृत्ति-सौंदर्य के शत-शत वर्णन प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में अश्व का देवत्व, मेधांतर स्वर्गयात्रा, देवताओं द्वारा स्वागत इत्यादि अतीव उत्साह से वर्णित हैं। वैदिककाल में अश्वपति प्रभृति अश्वपरक अभिधान रखे जाया करते थे। वाजि से वाजपेय एवं अश्व से अश्वमेध का अन्योन्य सम्बन्ध शब्दसिद्ध है ही। पुराणादि में अश्वमेध यज्ञ के बहुत-से वर्णन प्राप्त होते हैं। तुलसी ने राजा राम से "कोटिन बाजिमेध" यज्ञ कराए हैं, जो उन पर पौराणिक प्रभाव का एक सूचक-बिंदु है। तुलसी पर पौराणिक प्रभाव एक स्वयंसिद्ध एवं सर्वविज्ञात तथ्य है, जिसकी सूचना "नानापुराण" का प्राथमिक उल्लेख भी देता है। डॉ० विजयबहादुर अवस्थी ने 'रामचरितमानस पर पौराणिक प्रभाव' विषय पर शोधप्रबंध लिखा है। 'भक्ति का विकास' शीर्षक गहन-गम्भीर प्रबंध में सुविख्यात विद्वान् डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' ने रूपक-शैली में कबीर को वेद, जायसी को ब्राह्मण, सूर को उपनिषद् और तुलसी को पुराण बतलाया है। पाश्चात्य साहित्य में भी, आरम्भ से ही, अश्व का गौरवशाली अंकन हुआ है। होमर के इलियड में अनेक स्थलों पर अश्वपालन एवं अश्वहरण इत्यादि के वर्णन किए गए हैं, बड़े-बड़े महारथियों को 'अश्वपालक' विशेषण से जोड़ा गया है। आर्यनृवंशीय पश्चिम में, भारत के ही सदृश, अश्व का देवत्व एवं अतिप्राकृतिक पराक्रम प्रायः सर्वस्वीकृत तथ्य रहा है। वहाँ अश्व की उत्पत्ति नेप्च्यून द्वारा मानी गई है, जो सम्भवतः अश्वधावन एवं रथधावन के आदिसंरक्षक कहे जा सकते हैं। उनके अश्वों की दिव्य शोभा के वर्णन ऋग्वेद के सजातीय वर्णनों का स्मरण

---

183. रामचरितमानस 2/141/8; 142, 5-7

कराते हैं। वहाँ के सूर्यरथ के अश्वों का वर्णन भी भारतीय साहित्य के मर्मियों को जाना-पहचाना लगता है। कलादेवियों (म्यूज़ेज़) के अश्व पेगासस का वर्णन युग-युग के अनेक कवि करते रहे हैं, जिनमें शेक्सपीयर ('हेनरी फ़ोर्थ' में) भी सम्मिलित हैं।[184] पश्चिम में भी अश्वपति अथवा अश्वप्रिय के पर्यायवाची फ़िलिप जैसे नाम रखे जाते थे, रखे जाते हैं। सिकंदर महान् के पिता अभिधान एवं अभिरुचि दोनों ही दृष्टियों से फ़िलिप थे और उनके पुत्र का बाल-व्यसन-प्रतीक अश्व ब्यूसीफेलस अतीव विख्यात रहा है, जो वन्य एवं बिगड़ैल पशु था किंतु सिकंदर ने उसे पालित एवं स्वामिभक्त बनाया था।[185] जिस प्रकार भारोपीय भाषा-परिवार प्राच्य-पाश्चात्य आर्यनृवंशमूलकता स्पष्ट करता है, उसी प्रकार ऋग्वेद, रामायण, महाभारत, इलियड, ओडिसी, ऐनीड (ऐनियड) का साहित्य-परिवार भी, भारत-यूनान का प्राचीन इतिहास-परिवार भी।

बाण भट्ट ने अपनी महान् औपन्यासिक कृति कादम्बरी में अश्व की चेष्टाओं का हृदयहारी वर्णन किया है, जो तुलसीदास के रामचरितमानस के अश्व की चेष्टाओं के हृदयहारी वर्णन के सदृश करुणा-कलित न होने पर भी वैश्विक स्तर का है। (धन्य हैं मराठी-भाषी, जो 'नॉवेल' या 'उपन्यास' के लिए 'कादम्बरी' शब्द का सुंदर एवं गौरवशाली प्रयोग करते हैं!)

हिंदी-कविता में परमालरासो के परिवर्तित-रूप आल्हखंड (आल्हा) में वीरवर ऊदल के घोड़े बेंदुला और वीरवर मलखान की घोड़ी कबुतरी के प्रभावी वर्णन प्राप्त होते हैं। आधुनिककाल में श्याम नारायण पाण्डेय ने अपने प्रबंधकाव्य 'हल्दीघाटी' में राणा प्रताप के घोड़े चेतक का सुंदर वर्णन किया है। धर्मवीर भारती ने 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' शीर्षक उपन्यास में इस महान् पशु का प्रतीक से सम्पन्न प्रयोग किया है।

तुलसी का उपर्युक्त अश्व-वर्णन संसार-साहित्य के श्रेष्ठतम अश्व-वर्णनों में एक है। इसमें न अतिप्राकृतिक अश्व-वर्णन किया गया है, न अतिरंजित अश्व-वर्णन। इसमें अश्व के पालक के प्रति सहज प्रेम एवं तज्जन्य चेष्टाओं का एकदम स्वाभाविक चित्रण किया गया है, जो अपनी प्रभावान्विति में चिरंतन है। हिंदी के अश्व-काव्य में इस वर्णन को सरलतापूर्वक सर्वश्रेष्ठ माना जा सकता है। पशु केवल देखता है—"पश्यतीति पशुः।" वह कल्पना नहीं करता, प्रत्यक्ष के आधार पर चलता है। अपने ऊपर कृपालु पालक पर वह प्राणोत्सर्ग तक कर देता है। यही

---

184. मेरे पास अंग्रेज़ी का एक मोटा काव्य-संकलन है, जिसका शीर्षक ही 'साँग्स ऑफ़ हॉर्सेज़' (अश्वगीत) है। प्रकाशक 'हॉफ्टन मिफ्लिन कम्पनी', कैम्ब्रिज; संस्करण 1920 ई०

185. हीरोज़ ऑफ़ यूरोपियन हिस्ट्री, पृष्ठ 27

कारण है कि जिन व्यक्तियों को सहज-पावन स्वजन-प्रेम अथवा परिजन-प्रेम यथेच्छ परिमाण में नहीं प्राप्त हो पाता, वे किसी-न-किसी पशु से प्रेम करने और प्रेम पाने लगते हैं। कुत्ता या बिल्ली या बंदर इत्यादि पालने के मूल में मार्मिक मनोविज्ञान छिपा रहता है। तोता या मैना या बुलबुल इत्यादि पालने के मूल में भी मार्मिक मनोविज्ञान विद्यमान रहता है। अनेक अवसरों पर पशु अथवा पक्षी अथवा दोनों के पालन के मूल में अनुकरण अथवा प्रदर्शन अथवा प्रतिद्वंद्विता का मनोविज्ञान क्रियाशील रहता है। अत्युच्च वर्ग में सामर्थ्य की विपुलता के कारण पशु-पक्षी-पालन एवं प्रेम जीवन का एक सहज अंग बन जाता है। राजकुमार राम सर्वभूतप्रेम के विग्रह थे। वे अपने अश्वों को भी भरपूर प्यार करते थे। अतएव, उनसे वियुक्त होने पर अश्व प्रवृत्या विकल रहे थे। उनके राम की प्रस्थान-दिशा को देख-देख कर हिनहिनाने, तृण न चरने, जल न पीने, तड़फड़ाने, अवध की दिशा में न चलने, मुड़-मुड़ कर पीछे देखने, किसी के भी द्वारा राम या सीता या लक्ष्मण अथवा तीनों के नामोल्लेख करने पर हिंकर-हिंकर कर प्रेमपूर्वक उसको देखने इत्यादि का वर्णन नितांत स्वाभाविक एवं नितांत मर्मस्पर्शी है। पशुचेष्टाओं के महान् मर्मी तुलसीदास ही ऐसा उत्तम वर्णन कर सकते हैं! उन्होंने जीवन के प्रत्येक मार्मिक पक्ष का अवलोकन, अध्ययन और अनुशीलन किया था। तभी तो वे कोटि-कोटि मानवों के जीवन पर आकाशवत् छा सके!

गीतावली में भी अश्व-चेष्टाओं का सुंदर वर्णन प्राप्त होता है, यद्यपि शब्द-चयन एवं बिम्बालेखन में रामचरितमानस के वर्णन के समकक्ष नहीं सिद्ध हो पाता—

> बार-बार हिहिनात हेरि उत जो बोलै कोउ द्वारे।
> अंग लगाइ लिए बारें तें करुनामय सुत प्यारे।।
> लोचन सजल, सदा सोवत-से, खान-पान बिसराए।
> चितवत चौंकि नाम सुनि, सोचत राम-सुरति उर आए।।[186]

रामायण, अध्यात्म-रामायण इत्यादि में अश्वों की रामविरहव्यथा का वर्णन नहीं प्राप्त होता। अतएव, अनेकानेक अन्य वर्णनों के सदृश, यह वर्णन भी तुलसी की मौलिकता का एक उत्कृष्ट निदर्शन है। जो लोग रामायण के रामचरितमानस पर प्रभाव की दृष्टि से तुलसी की मौलिकता पर संदेह व्यक्त करते हैं, वे न रामायण के सम्यक् अध्ययन की सूचना देते हैं, न रामचरितमानस के। जहाँ तक अध्यात्म-रामायण के रामचरितमानस पर प्रभाव का सम्बन्ध है, उसे रामचरित-मानस के अध्यात्म-रामायण पर प्रभाव के रूप में भी विवेचित किया जा सकता है,

186. गीतावली 2/86/3-6

क्योंकि अध्यात्म-रामायण की प्रामाणिकता एवं उसकी रचना-तिथि सर्वथा विवादास्पद है। यों भी, अध्यात्म-रामायण एक अपेक्षाकृत लघु कृति है।

हर्ष का विषय है कि 'वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन' (डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल), 'वाल्मीकि-रामायण एवं रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन' (डॉ० विद्या मिश्र) प्रभृति ग्रंथों ने इन दोनों विश्वकवियों की तुलनात्मक समीक्षा की दिशाएँ खोल दी हैं। कम्बन् (कम्बर) और तुलसी पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा चुका है। अन्य रामायणों से रामचरितमानस की तुलना के अग्रणी विद्वान् डॉ० रमानाथ त्रिपाठी ने असमिया (माधव कंदलि), बँगला (कृत्तिवास) तथा उड़िया (बलरामदास) रामायणों एवं रामचरितमानस के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में अतीव प्रशस्य एवं स्फीत कार्य किया है। अन्य भारतीय भाषाओं की रामायणों के साथ भी रामचरितमानस के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में कार्य हुआ है, हो रहा है, होता जाएगा, क्योंकि यह विषय स्फीत भी है, गम्भीर भी। 'स्वयंभू-रामायण और रामचरितमानस', 'दशरथ-जातक और रामचरितमानस' जैसे कार्य भी होने चाहिए। थाई, कम्बोडियाई, इंडोनेशियाई, चीनी (वस्तुतः दशरथ-जातक) इत्यादि रामायणों अथवा राम-कथाओं के साथ रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित एवं वरेण्य है। ऐसे अध्ययनों से अप्रतिम राष्ट्रपुरुष राम एवं अप्रतिम विश्वपुरुष राम का महतो-महीयान् व्यक्तित्व स्पष्टतर होगा, इसमें संदेह नहीं। ऐसे अध्ययनों से रामचरित-मानस की महानता स्पष्टतर होगी, इसमें भी संदेह नहीं।

36· दशरथ-मरण

धरि धीरजु उठि बैठ भुआलु। कहु सुमंत्र, कहँ राम कृपालू॥
कहाँ लखनु, कहँ रामु सनेही। कहँ प्रिय पुत्रबधू बैदेही॥
बिलपत राउ, बिकल बहु भाँती। भइ जुग-सरिस, सिराति न राती॥
तापस-अंध-साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई॥
भयउ बिकल बरनत इतिहासा। रामरहित धिग जीवनआसा॥
सो तनु राखि करब मैं कहा। जेहिं न प्रेमपनु मोर निबाहा॥
हा रघुनंदन प्रानपिरीते! तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥
हा जानकी, लखन, हा रघुबर! हा पितुहितचितचातक-जलधर॥
राम-राम कहि, राम कहि, राम-राम कहि, राम।
तनु परिहरि रघुबर-बिरहँ, राउ गयउ सुरधाम॥[187]

187. रामचरितमानस 2/154/1-8; 155

करुणरस की निष्पत्ति की दृष्टि से तुलसी का दशरथ-मरण वर्णन अत्यंत उच्चकोटि का है। रामायण में दशरथ-मरण से पूर्व कौशल्या का विलापपूर्ण उपालम्भ, दशरथ की करबद्ध क्षमा-याचना और कौशल्या का उनके चरणों पर गिरना वृत्तात्मक स्वाभाविकता की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है, किन्तु रस की दृष्टि से नहीं। दूसरे, उसमें उद्यान ऋषि एवं उनके महान् पुत्र श्रवणकुमार की कथा का सविस्तार वर्णन भी रस-विक्षेप उत्पन्न करता है। मरणासन्न व्यक्ति के द्वारा सुदीर्घ आख्यान-निरूपण औचित्य के अनुरूप भी नहीं है।[188] अध्यात्म-रामायण में भी कौशल्या का उपालम्भ एवं श्रवण-कथा संक्षिप्त रूप में विद्यमान हैं।[189] इनके विपरीत, रामचरितमानस की कौशल्या म्रियमाण पति को समय के अनुसार धैर्य बँधाती हैं, राम-सीता-लक्ष्मण के पुनरागमन पर मिलन की आशा की ओर संकेत करती हैं, जिससे दशरथ आँखें खोलकर उठ बैठते हैं। निस्संदेह, रस-दृष्टि से तुलसी का वर्णन सर्वश्रेष्ठ है। उनका शब्दचयन अतीव रसानुकूल है। "उस शरीर को रखकर क्या करूँ, जिसने मेरे प्रेम के प्रण का निर्वाह नहीं किया है? हा प्राणप्रिय राम, तुम्हारे बिना जीते बहुत दिन बहुत व्यतीत हो चुके हैं—मुझे तुम्हारे जाने के क्षण ही प्राण त्याग देने चाहिए थे!" इन शब्दों की करुणा अप्रतिम है, जो दशरथ के महान् चरित्र का सम्यक् परिचय भी कराती है।

तुलसी ने दशरथ की मरणपूर्वस्थिति का भी हृदयद्रावक वर्णन किया है, जिसमें उत्प्रेक्षा अलंकार का बारम्बार प्रयोग अतीव गहन एवं प्रसंगानुकूल है—

> जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। अमियरहित जनु चंद्र बिराजा।।
> आसन-सयन, बिभूषण हीना। परेउ भूमि, तनु निपट मलीना।।
> लेइ उसासु, सोच एहि भाँति। सुरपुर तें जनु खसेउ जजाती।।
> लेत सोच भरि छिनु-छिनु छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती।।
> राम-राम कह, राम सनेही। पुनि कह राम, लखन, बैदेही।।[190]

37. भरत की ग्लानि

> कुल-कलंकु जेहि जनमेहु मोही। अपजस-भाजन, प्रियजन-द्रोही।।
> को त्रिभुवन मोहि-सरिस अभागी? गति असि तोरि मातु जेहि लागी।।

---

188. अयोध्याकांड, सर्ग 61-64
189. अयोध्याकांड, सर्ग 7
190. रामचरितमानस 2/147/4-8

पितु सुरपुर, बन रघुकुलकेतू। मैं केवल सब अनरथ-हेतू ।।
धिग मोहि, भयउ बेनुबन-आगी। दुसह दाह-दुख-दूषन-भागी ।।[191]

भरत का चरित एवं चरित्र संसार के समग्र इतिहास एवं साहित्य का सर्वाधिक निष्कलंक चरित एवं चरित्र है। क्रियागत स्फीतता के कारण ही सही, राम, कृष्ण, व्यास, बुद्ध, महावीर, सुकरात, ईसा, मुहम्मद इत्यादि मानवजाति के सीमांतों में प्रत्यालोचना का एक-न-एक बिंदु मिल ही जाता है, भले ही उस पर विवाद किया जा सकता हो—राम का वालिवध, कृष्ण की द्रोणवधप्रेरणा, व्यास का पांडव-पक्षपात, बुद्ध का पलायन, महावीर की अव्यावहारिता, सुकरात की पत्नी-उपेक्षा, ईसा का जेरूसलम-देवस्थान-अपमान (जिसके कारण उन्हें मृत्युदंड प्राप्त हुआ), मुहम्मद की हिंसा इत्यादि इसके सुविख्यात निदर्शन कहे जा सकते हैं। किंतु भरत के चरित्र में प्रत्याख्यान का एक भी वास्तविक बिंदु नहीं प्राप्त होता । सीता तक के चरित्र में मारीच-वध के प्रकरण में लक्ष्मण से विवेकशून्य कथन का सर्वथा आलोच्य बिंदु प्राप्त हो जाता है । लक्ष्मण-रेखा की परवर्ती कल्पना नारी-मर्यादा की प्रतीक है। रामायण, अध्यात्म-रामायण एवं रामचरितमानस में इसका वर्णन नहीं है । भरत के महत्तम चरित्र की महत्तम समीक्षा रामचरितमानस में ही महर्षि भरद्वाज के शब्दों में प्राप्त हो जाती है—

सुनहु भरत, हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं ।।
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन, राम, सिय दरसन पावा ।।
तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा ।।[192]

भरत के चरित्र की सर्वप्रथम विशेषता उनकी सहज आत्मग्लानि है । आत्मग्लानि आत्मपरिष्कार की प्रतीक होती है। यह चित्र की उत्कृष्टता की दुहिता है, जो चरित्र को उज्ज्वलतम रूप प्रदान करती है । विश्व-स्तरीय महान् निबंधकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, "अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकांत अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे ग्लानि कहते हैं। इसे अधिकतर उन लोगों को भोगना पड़ता है जिनका अन्तःकरण सत्वप्रधान होता है, जिनके संस्कार सात्त्विक होते हैं, जिनके भाव कोमल और उदार होते हैं । जिनका हृदय कठोर होता है, जिनकी वृत्ति क्रूर होती है, जो सिर से पैर तक स्वार्थ में निमग्न होते हैं, उन्हें सहने के लिए संसार में इतनी बाधाएँ, इतनी कठिनाइयाँ, इतने कष्ट होते हैं कि ऊपर से और इसकी भी न उतनी

191. रामचरितमानस 2/163/5-8
192. रामचरितमानस 2/209/3-5

ज़रूरत रहती है, न जगह।"[193] आचार्य शुक्ल ने इस निबंध में भरत का उल्लेख भी किया है।[194] अन्यत्र, भरत की विशुद्ध एवं पावनकर ग्लानि का विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं, "भरत ने इतना सब क्या लोकलज्जावश किया? नहीं, उनके हृदय में सच्ची आत्मग्लानि थी, सच्चा संताप था। यदि ऐसा न होता तो अपनी माता कैकेयी के सामने वे दुःख और क्षोभ न प्रकट करते। यह आत्म-ग्लानि ही उनकी सात्त्विक वृत्ति की गहनता का प्रमाण है।"[195]

उपर्युक्त अवतरण में महामना भरत कौशल्या की दशा, दशरथ की मृत्यु एवं राम के वनगमन के त्रिविध अनर्थ का मूल स्वयं को ही घोषित करते हैं। वे कौशल्या को रामवनगमन के कांड से अपने किंचिन्मात्र सम्बन्ध के न होने का प्रत्यय दिलाने में ही पूर्णतः सफल नहीं होते, कौसल्या का संवेदन भी प्राप्त करते हैं, क्योंकि उनका उद्गार निश्छल था और अंतःकरण पावनतम। अध्यात्म-रामायण में यह प्रसंग बहुत ही छोटा है।[196] रामायण में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।[197] रामायण और अध्यात्म-रामायण दोनों में ही, क्रमशः समास और व्यास शैलियों में, भरत को देखकर कौशल्या का सहज आवेश आक्रोश भी व्यक्त हुआ है। किन्तु तुलसी को कौशल्या में न आवेश के दर्शन होते हैं, न आक्रोश के। तुलसी की कौशल्या विश्वकवि के उदात्त मानववादी चरित्र-चित्रण की एक स्वतंत्र उद्भूति है। भरत का चरित्र रामायण, अध्यात्म-रामायण रामचंद्रिका, साकेत इत्यादि में प्रायः सर्वत्र एकरस पावन एवं एकरस महान् है। रामचरितमानस में इसी प्रशस्य परम्परा का 'प्रायः' से भी रहित रूप में निर्वाह किया गया है। बारम्बार भरत की प्रशस्ति रामचरितमानस की मौलिक विशेषता है—कौशल्या, वसिष्ठ, गुह, भरद्वाज, राम, जनक, सभी उनके महतो-महीयान् चरित्र की मुक्तकंठ से स्तुति करते हैं और यह स्तुति सर्वथा युक्तियुक्त है; किन्तु उतनी नहीं जितनी डॉ० विद्या निवास मिश्र के भरत के सर्वथा निर्दोष महान् चरित्र के कारण रामचरितमानस के शीर्षकौचित्य पर मुझसे प्रश्न के उपयुक्त, क्योंकि राम क्रिया हैं, भरत इत्यादि प्रतिक्रिया, राम अंगी हैं, भरत इत्यादि अंग। क्रिया की सदोषता भी निष्क्रियता की निर्दोषिता से महत्तर हो सकती है। कर्म महत्तम है।

---

193. चिंतामणि, लज्जा और ग्लानि, पृष्ठ 58

194. चिंतामणि, लज्जा और ग्लानि, पृष्ठ 62

195. गोस्वामी तुलसीदास, शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण, पृष्ठ 120

196. अयोध्याकांड 7/82-91

197. अयोध्याकांड, सर्ग 75

38. राम का भरत को परामर्श

पितु-आयसु पालिहिं दुहु भाईं। लोक-बेद भल, भूप भलाईं ।।
गुरु-पितु-मातु-स्वामि-सिख पालें। चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें ।।
अस बिचारि, सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भरि जाई ।।[198]

तुलसी ने रामचरितमानस में भरत को स्वर्गीय पिता के प्रण-पालन एवं गौरव-रक्षण के आधार पर ही अयोध्या वापस जाने के लिए प्रस्तुत हुआ चित्रित किया है। रामायण और अध्यात्म-रामायण में भी ऐसा ही है। न तो भरत के बनवास और राम के अयोध्या लौटने से पितृप्रण की पूर्ति होती है, न भरत के राम के साथ वन में रहने से। राम परम पावन पिता के प्रण का अक्षरशः पालन चाहते हैं। इस सबल तर्क के समक्ष भरत का विनत होना सर्वथा उचित है। रामायण में राम भरत को दशरथ द्वारा कैकेयी को दिए गए वरदानों का स्मरण कराते हुए उनके अवध के राजा और स्वयं के वनराज्य के सम्राट् होने का गंभीर किंतु विनोद सम्पन्न उद्‌गार व्यक्त करते हैं—

तव राज्यं नर व्याघ्र, मम प्रव्राजनं तथा।
तच्च राजा तथा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरम् ।। ···
त्वं राजा भरत, भव स्वयं नराणां,
वन्यानामहमपि राजराजाण्मृगानाम् ।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य संप्रहृष्टः,
संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान् प्रवेक्ष्ये ।।[199]

अध्यात्म-रामायण में भी राम, इसी तर्क को प्रस्तुत करते हुए, अन्यथा करने पर असत्य के भागी होने की चर्चा करते हैं—

पिता दत्तं तवैवैतद्राज्यं, मह्यं वनं ददौ।
व्यत्ययं यद्यहं कुर्यामसत्यं पूर्ववत् स्थितम् ।।[200]

महाकवि केशवदास ने इस पर अतीव मार्मिक कविता की सृष्टि की है, जो उन पर हृदयहीनता के अतिरंजित आरोप के खंडन का एक बिंदु बन सकती— है—

राज दियो हमको बन रूरो,
राज दियो तुमको सब पूरो।

---

198. रामचरितमानस 2/314/4-6
199. अयोध्याकांड 107/6, 17
200. अयोध्याकांड 9/38

सो हमहूँ तुमहूँ मिली कीजै,
बाप क बोलु न नेकहु छीजै ।।[201]

तुलसी का राम-भरत-संवाद उदात्तता की दृष्टि से सर्वोत्तम है। भरत की जैसी संरक्षा और संरचना मानस में की गई है, वैसी रामायण एवं अध्यात्म-रामायण में भी नहीं। रामायण के भरत शोषित ब्राह्मण के सदृश अनशन की धमकी देते हैं, जिससे राम पहले तो चकित होकर उनका मुख देखने लगते हैं और इसके बाद राजतिलकधारी क्षत्रियों के संदर्भ में इस व्रत के विधिविहीन होने का उल्लेख करते हैं।[202] अध्यात्म-रामायण के भरत खेद के अतिरेक में दशरथ के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करते हुए उनके भ्रांत वाक्यों पर ध्यान न देने का तर्क प्रस्तुत करते हैं—

भरतस्त्वब्रवीद्रामं कामुको, मूढधीः पिता।
स्त्रीजितो, भ्रान्तहृदय, उन्मत्तो यदि वक्ष्यति।
तत्सत्यमिति न ग्राह्यं भ्रान्तवाक्यं यथा सुधीः ।।[203]

यों तो रामचरितमानस के अयोध्याकांड में संवादों का बहुत ही गम्भीर वैभव कैकेयी-मंथरा-संवाद और दशरथ-कैकेयी-संवाद में भी दृष्टिगोचर होता है, किंतु कौशल्या-भरत-संवाद, वसिष्ठ-भरत-संवाद और राम-भरत-संवाद में उनका स्तर हिंदी-साहित्य में अतुलनीय हो जाता है। मानस के अयोध्याकांड के संवाद संसार-साहित्य के श्रेष्ठ संवादों में परिगणित किए जा सकते हैं। ये संवाद रामायण, महाभारत और इलियड जैसे संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों के उत्तम संवादों की समता करते हैं। रोचकता और लोकप्रियता की दृष्टियों से प्रसिद्धतर मानस के ही परशुराम-लक्ष्मण-संवाद और अंगद-रावण-संवाद इन संवादों के समक्ष खिलवाड़ से लगते हैं। रामचंद्रिका और साकेत के संवाद इनके समक्ष प्रयत्नज संवाद-कला के कृतित्व प्रतीत होते हैं। यह ठीक है कि केशव और मैथिलीशरण हिंदी-कवियों में सर्वोत्तम संवादकार हैं, किंतु इसमें संदेह नहीं कि तुलसी के रामचरितमानस में अयोध्याकांड के संवाद गुणदृष्टि से कम-से-कम हिंदी-कविता में अतुलनीय हैं।

---

201. 'रामचंद्रिका' में
202. अयोध्याकांड 111/13-18
203. अयोध्याकांड 9/33

39. भक्तिविग्रह सुतीक्ष्ण

निर्भर प्रेम-मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि, पंथ नहिं सूझा। को मैं, चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि, पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम-भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु-ओट लुकाई॥[204]

विश्वकवि तुलसीदास ने अपने विश्वकाव्य रामचरितमानस में अनेक सफलतम भक्ति-बिम्ब अंकित किए हैं। सुतीक्ष्ण को उन्होंने भक्ति के एक विग्रह के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रत्येक वर्ण उनके सुतीक्ष्ण के वर्णन में चित्रमय हो गया है। प्रेमनिमग्नता की दशा अनिवर्चनीय होती है, इसे क्या क़बीर तो क्या दादू, क्या जायसी तो क्या मंझन, क्या सूर तो क्या तुलसी, सभी ने स्वीकार किया है। किंतु केवलमात्र अनिवर्चनीय कह देने से तो श्रोता या पाठक या भक्त का रसज्ञ या द्रष्टा को परितोष नहीं प्राप्त हो सकता। उस अनिर्वचनीयता को अनुभूत कराना ही स्रष्टा महाकवि का लक्ष्य है। यहाँ नवधाभक्ति को सुतीक्ष्ण में मूर्तिमंत कर दिया गया है—प्रेमनिमग्नता में स्वसमेत संसार का लय हो गया है। स्वलोह अहंब्रह्मास्मि की अनुभूति का मूल है। सर्वविस्मृति आत्मस्मृत्ति की पर्याय है। पंथविस्मृति लक्ष्यप्राप्ति की संकेतक है। नृत्यलास चिद्विलास का उद्गम है। चैतन्य महाप्रभु का चित्र अनायास उभर आता है। मीराँबाई के दर्शन अनायास ही हो जाते हैं। तभी तो द्रष्टा दृश्य को छिप-छिपकर देखता है! तभी तो स्रष्टा सृष्टि का रसपान करता है! समग्र भक्ति-साहित्य में इतना सम्पूर्ण भक्ति-अंकन दुर्लभ है। यथासंख्य (क्रम) अलंकार की महान् सम्पन्नता से युक्त, गलदश्रु भावुकता के प्रभावी प्रतिपादक निम्नलिखित दोहे तक में ऐसा सहज भक्तिरस परिप्लावित नहीं होता—

हिय फाटहु, फूटहु नयन, जरहु सो तन, केहि काम।
द्रवहिं, स्रवहिं, पुलकहिं नहीं तुलसी सुमिरत राम॥[205]

यदि तुलसी राम के पुरुषोत्तम रूप मात्र पर अधिक रीझते, तो ऐसे भक्ति-बिम्बों का आलेखन कैसे होता! यदि तुलसी राम के परब्रह्म रूप मात्र पर अधिक रीझते, तो "तरु ओट लुकाई" की अनुराग क्रीड़ा कैसे सम्भव होती! रामायण और अध्यात्म-रामायण के समन्वय की अद्भुत मौलिकता के कारण रामचरित मानस में राम का 'समग्र' व्यक्त हो गया है। एक उदाहरण प्रस्तुत प्रसंग के रूप

---

204. रामचरित मानस 3/9/10-13
205. दोहावली 41

में ही प्राप्त हो जाता है। सुतीक्ष्ण का उल्लेख रामायण एवं अध्यात्म-रामायण दोनों में है, किंतु प्रेम का यह पावनतम दृश्य इसमें से किसी में नहीं प्राप्त होता। पता नहीं कैसे, मानस-मंथन (भाग 1-2), मानस-चिंतन (भाग 1-2) मानस-चरितावली (भाग 1-2), मानस-मुक्तावली (भाग 1-2-3-4) प्रभृति अनेकानेक त्वरित-ग्रन्थों के वक्ता-लेखक (क्योंकि अधिकांश ग्रंथ भावुक भक्तों के समूहों के दिए गए भाषणों के संग्रह मात्र हैं) कथावाचक श्री रामकिंकर उपाध्याय ऐसा कह बैठे हैं, "कहा जाता है कि रामचरितमानस की रचना को चार सौ वर्ष पूरे हो रहे हैं, किंतु इस धारणा में थोड़ा संशोधन अपेक्षित है। चार सौ वर्ष पहले गोस्वामी जी ने रामचरितमानस का अनुवाद किया, उसकी रचना नहीं की। इसका आग्रह गोस्वामी ने प्रारम्भ में ही कर दिया। गोस्वामीजी कहते हैं कि इस मानस के रचयिता भगवान् शंकर से यह कथा काकभुशुंडि को प्राप्त हुई। काकभुशुंडि से वह याज्ञवल्क्य को मिली और मुझे अपने गुरु से। मैंने निर्णय किया कि —'भाषाबद्ध करबि मैं सोई' (1/30/2)। और तब संवत् 1631 में रामचरित मानस के रूप में गोस्वामी जी ने भगवान राम के चरित का प्राकट्य किया।'[206] इन पंक्तियों में पौराणिक शैली, जिसमें वक्ता और श्रोता दिव्य अथवा ऋषि-मुनि होते हैं, को अनपेक्षित वरीयता प्रदान की गई और स्वयं गोस्वामी जी के "नानापुराणनिगमागमसम्मत" तथा इससे भी बढ़कर "क्वचिदन्यतोऽपि"[207] आधार की शत-प्रतिशत उपेक्षा कर दी गई है, जिससे उन्होंने लगभग सबसे पहले स्पष्टत: व्यक्त कर दिया है। यह कथावाचकपन है! धन्य है टेप-रिकॉर्डर, जिसने रामकिंकर और रजनीश जैसे धर्मोपजीवियों को लेखक भी बना दिया है! इसकी कृपा का लाभ नेता, उपन्यासकार इत्यादि भी उठाने लगे हैं! किन्तु श्रीरामकिंकर उपाध्याय ने, शब्द बाहुल्य और शब्द-व्यय के बावजूद, गोस्वामी जी के राम को ब्रह्म के रूप में प्रस्तुत करने का अतीव प्रशस्य एवं तर्क संगत समर्थन किया है, "कुछ वर्ष पूर्व बम्बई में एक सम्मेलन हुआ जिसमें उद्घाटन करने के लिए एक मन्त्री महोदय पधारे। उन्होंने भाषण करते हुए तुलसीदास जी की प्रशंसा तो की, किन्तु उन्होंने एक आलोचना करना भी आवश्यक माना। उन्होंने कहा कि तुलसीदास जी का काव्य बहुत सुन्दर है, बहुत श्रेष्ठ है, परन्तु यदि वे श्री राम का वर्णन मनुष्य-रूप में करते तो हम उससे अधिक लाभ लेते; उन्होंने श्री राम को ईश्वर बनाकर उन्हें हमसे दूर कर दिया; यह मैं गोस्वामी जी की त्रुटि मानता हूँ। उस दिन मुझे भी बोलना था। इसका उत्तर देते हुए मैंने कहा कि हमारे इतिहास में केवल श्रीराम ही तो नहीं हैं। हमारे देश का इतिहास बड़ा

---

206. मानस-मंथन 1/2, पृ० 23-24
207. रामचरितमानस 1/7

लम्बा है जिसमें मनु से लेकर हरिश्चन्द्र हैं: दधीचि हैं, रंतिदेव हैं, बलि हैं; इतने ऐतिहासिक पात्र हैं कि उनकी कोई गिनती नहीं है। श्रीराम को अगर हम इतिहास से अलग भी कर दें तो हजारों व्यक्ति ऐसे हैं जिनका वर्णन इतिहास में मनुष्य के रूप में किया गया है, ईश्वर के रूप में रहीं। और साथ-साथ मैंने यह भी जोड़ दिया कि अभी वर्तमान युग में महात्मा गांधी हुए हैं, उन्हें भी आप मनुष्य ही मानते हैं। जब इतने मनुष्य से आप कुछ नहीं सीख पाए, तो एक राम ही यदि मनुष्य बन जाते तो आप सब कुछ सीख लेते ? यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? यदि आप इतिहास के व्यक्तियों से कुछ सीखना चाहते हैं तो कोई रोक है क्या ?··· सत्य तो यह है कि तुलसीदास जी ने श्रीराम के ईश्वरत्व का प्रतिपादन कर उन्हें हमारे निकट पहुँचा दिया।···मनुष्य के रूप में श्रीराम···इतिहास के एक युग की बीती गाथा मात्र होते। इतिहास के अनेक पात्रों में वे एक और पात्र जुड़ जाते।"[208]

40. माया

मैं अरु मोर, तौर-तें माया। जेहिं बस कीन्हे जीव-निकाया।।
गो-गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।
तेहिकर भेद, सुनहु तुम सोऊ। बिद्या, अपर अबिद्या दोऊ।।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा।।
एक रचइ जग, गुन बस जाकें। प्रभु-प्रेरित, नहिं निजबल ताकें।।[209]

तुलसी ने माया की बहुत ही उत्कट परिभाषा की है—"मैं-मेरा और तू-तेरा" यही माया है। तुलसी ने सोलह मात्राओं में माया जैसी शंकराचार्य जैसे विश्व के एक महानतम दार्शनिक को भी उलझन में डाल देने वाली समस्या का समाधान कर दिया है। "मैं-मेरा तू-तेरा" रूपी माया ने समग्र जीवन समूह को वशीभूत कर रखा है। इस त्रिलोकव्यापिनी माया के विद्या तथा अविद्या दो भेदों का समर्थन कर तुलसी ने उदारता का परिचय भी दिया है, व्यावहारिकता का भी। माया का कोरा प्रत्याख्यान परिणाम-व्यर्थता के कारण अव्यावहारिक है। माया का कोण संस्तवन श्रेयप्रधान जीवन-दर्शन के प्रतिपादन की दृष्टि से वरेण्य नहीं है। अतएव विद्या अविद्या माया-भेद, श्रेय-प्रेय में संगति स्थापित करते हैं तथा यही उचित भी है। कबीर ने भी माया का निरूपण किया

208. मानस-मंथन 1/1, पृ० 3-4
209. रामचरितमानस 3/14/2-6

है, जगत् पर उसकी सत्ता स्वीकार की है, उसे सन्त की दासी भी माना है, अपनी सहज अहंवादी शैली में उसके काटने का दावा किया है। "माया महाठगिनी हम जानी" प्रभृति पदों की तुलना में दोहों में व्यक्त यह निरूपण अधिक समीचीन भी है। किन्तु सामान्य विचारों पर आधृत होने और लट्ठमार शैली के कारणों से कबीर का माया निरूपण स्थूल और प्रवाहहीन रह गया है—

जग हटावड़ा, स्वाद ठग, माया बेसां लाइ।
रामचरन नीकां गही, जिनि जाई जनम ठगाइ॥
कबीर माया पापणीं, फंध ले बैठी हाटि।
सब जग यौ फंधैं पड़्या, गया कबीरा काटि॥
कबीर माया मोहिनी, माँगि मिलै न हाथि।
मनह उतारी झूठ करि, तब लागी डोलै साथि॥
माया दासी संत की, ऊँभी देइ असीस।
बिलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि-सुमरि जगदीस॥[210]

यदि कोई चाहे तो "सब जग तौ फंधै पड़्या" में अविद्या माया तथा "ऊ भी देइ असीस" में विद्या माया की प्रतीति कर सकता है। तुलसी ने "एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा" में अविद्या माया और "एक रचइ जग, गुन बस जाकें" में विद्या माया परिभाषित की है। वेद-शास्त्र-मर्मज्ञ होने के कारण तुलसी ने धक्के से माया को सन्त की दासी कहने में स्वाभाविक झिझक का अनुभव किया है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् इत्यादि में "विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढ़े" का निरूपण प्राप्त होता है, किन्तु माया शब्द के साथ नहीं। अतएव तुलसी का माया-निरूपण उपनिषद्-सम्मत अथवा श्रुतिसम्मत है। भक्ति माया को अशक्त कर देती है। भक्त पर माया का प्रभाव नहीं पड़ सकता, क्योंकि उसे राम अपना लेते हैं, माया जिसकी दासी है—

तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥[211]

डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र के शब्दों में, "विद्या माया में सृष्टि, स्थिति, प्रलय अथवा यों कहिए कि रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण का तारतम्य चला करता है। इसी से क्षिति, जल, नभ, पावक, पवन की रचना होती है। इन्हीं पंचतत्त्वों से शरीर बनते हैं और शरीर में चैतन्यवत्ता का विकास होने से जीवों का संगठन होता है। शरीर-सम्बद्ध होने के कारण जीव अपने को शरीर-परिछिन्न और इस प्रकार व्यक्ति-विशिष्ट मानने लगता है। इसी मानने लगने का नाम अविद्या है।

210. कबीर-ग्रन्थावली (डॉ० श्यामसुन्दर दास) 16/1-2, 9-10
211. रामचरितमानस 7/88/3

इसी के कारण जीव संसारी बन जाता है।...अविद्या के परिवार की तो कोई सीमा ही नहीं। मोह, काम, तृष्णा, क्रोध, लोभ, मद (धनमद, प्रभुत्वमद, गुणमद मानमद, यौवनमद), ममत्व, मत्सर, शोक, चिन्ता, मनोरथ, ईर्षणा (पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा) इत्यादि के नाम गिनाकर गोस्वामीजी कहते हैं कि माया का यह परिवार प्रबल भी है और अमित भी है।"[212]

हिन्दी-साहित्य में तुलसी की माया-निरूपण सर्वाधिक स्फीत, विशद एवं गम्भीर है। अनेक कांडों में अनेक अवतरण प्राप्त होते हैं, जिनमें माया पर प्रकाश डाला गया है। उनके अनन्तर कबीर का नाम ही लिया जा सकता है। किन्तु कबीर के माया-निरूपण में तात्विकता अल्प है, अस्मिता अधिक।

मेरे व्यक्तिगत मत से माया भारतीय चिन्तन एवं दर्शन के मूल तत्त्वों में नहीं है। ऋग्वेद इत्यादि में माया शब्द का प्रशस्य-निंद्य दोनों ही रूपों में प्राप्त है, किन्तु माया-निरूपण नहीं प्राप्त होता। ऐसा प्रतीत होता है कि माया का शाब्दिक उद्‌गम दिति से उत्पन्न 'मय' जाति में है, जो कुशल शिल्पियों की प्रसिद्ध जाति थी। अपने युग के सर्वाधिक कुशल शिल्पी अथवा विश्वकर्मा (इंजीनियर) को मय कहा जाता था। रामायण-काल में मय विद्यमान था। उसने लंका को बनाया-सजाया था। मन्दोदरी मय की पुत्री थी।[213] महाभारत-काल में मय विद्यमान था। युधिष्ठिर की राज्य सभा मय ने ही बनाई थी।[214] सम्भवतः कुशल शिल्पी एवं विश्वकर्मा मय लोग मदिरापान एवं सुखोपभोग में पर्याप्त रुचि लेते थे। फारसी का मय या मै मदिरावाची शब्द उनके पुरातन मदिरा-निर्माण होने की सूचना देता है। मै और मैखाना फारसी और उसकी अनुगामिनी उर्दू कविताओं में बहुत समादृत हैं। किन्तु अदिति के पुत्र स्वयं को देवता और दिति के पुत्रों को असुर कहते थे। पारस्परिक शत्रुता की स्थिति में, वे अदिति पुत्रों अथवा देवताओं की संतति से सम्बद्ध व्यक्ति या व्यक्तियों को भी असुर कह डालते थे। वह और बात थी। किन्तु देवासुरों में भारी वैमनस्य था। देवासुर संग्रामों के ऋग्वेद, अस्वेता, रामायण, महाभारत, पुराण, शाहनामा इत्यादि ग्रंथों में अनेकानेक वर्णन प्राप्त होते हैं। असुर मय जाति की शिल्प एवं अन्य कलाओं को आर्यों ने उपेक्षित किया। माया, मायावी, मायानगर इत्यादि शब्द एवं इनके अर्थ आज तक इस तथ्य की सूचना देते हैं। किन्तु कलागत ऐश्वर्य की एकान्त उपेक्षा चिरकाल तक नहीं की जा सकती। अतएव, आर्यों ने धीरे-धीरे माया की अनुकूल व्याख्या भी करनी आरम्भ की। फिर भी, आरम्भिक प्रभाव के कारण

212. तुलसी-दर्शन, विरति-विवेक, पृ० 188, 194
213. रामायण 7/12/19
214. महाभारत 2/1, 3-5

माया भौतिकता की ही प्रतीक बनी रही और बनी है। 'माया' नाम भी आधुनिक काल से ही समादृत हुआ है। यों प्राचीनकाल में भी बुद्ध की माता का नाम माया मिलता है। आधुनिक काल से पूर्व माया का सम्मान यदि होता भी था, तो विष्णु पुत्री के रूप में। यह असुर माया का सुरीकरण था, जो समन्वय का द्योतक है।

शंकराचार्य ने माया को सदसदविलक्षण एवं अनिर्वचनीय कहकर वस्तुत: न उसका सम्मान ही किया है, न असम्मान ही। उनका यह दृष्टिकोण दुरूह होने पर भी यत्किंचित् व्यावहारिक है। तुलसी ने विद्या और अविद्या के उभय माया भेदानिरूपण द्वारा शंकराचार्य की यत्किंचित् व्यावहारिकता को स्पष्टता प्रदान की है। मेरे मत से, अपने मूल ऐश्वर्योपभोगमूलक अथवा मयजातिगत रूप में माया अविद्या माया है तथा उदात्तीकृत ब्रह्मशक्तिमूलक अथवा आर्य जातिगत रूप में माया विद्या माया है।

41. नवधा भक्ति

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरी रति मम-कथा प्रसंगा।
गुरु-पद-पंकज-सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम-गुन-गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।
छठ दम-सील-बिरतिबहुकरमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम, मोहि-मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ-संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल, सब सन छलहीना। मम भरोस हिय, हरष न दीना॥[215]

तुलसी की नवधा भक्ति के तत्त्व हैं—सत्संग, कथारति, गुरुसेवा, गुणगान, मंत्रजाप, विरति, आराध्यमयता, संतोष, सारल्य। अध्यात्म-रामायण के अयोध्या कांड के दशम सर्ग में, शबरी-प्रकरण में ही, नवधा का ठीक ऐसा ही निरूपण प्राप्त होता है—

तस्माद्भामिनी सङ्क्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम्।
सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्॥
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्॥

215. रामचरितमानस 3/34/8; 35, 1-5

आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्धयामायया सदा ।
पञ्चमं, पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च ।।
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम् ।
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते ।।
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषुमन्मतिः ।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शामादिसहितं तथा ।।
अष्टमं, नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि ।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा ।।

नवधा भक्ति के ये तत्त्व भागवत के श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्यभाव, सख्यभाव एवं आत्मनिवेदन से यत्र-तत्र मिलते भी हैं, यत्र-तत्र भिन्न भी हैं ।

श्रवणं, कीर्तनं, विष्णोः स्मरणं, पादसेवनम् ।
अर्चनं, वंदनं, दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम् ।।[216]

महर्षि शाण्डिल्य के अनुसार, "सम्मानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सा-महिमख्याततदर्थप्राणस्थानतदीयतासर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्",[217] अर्थात् सम्मान, बहुमान, प्रीति, विरह, विचिकित्सा, महिमावर्णन, जीवनधारा, तदीयता, तद्भाव, अप्रतिकूलता में से यदि सम्मान-बहुमान को एक मान लिया जाए, तो भक्ति सूत्र में भी नवधाभक्ति का ही निरूपण किया गया है । सम्मान-बहुमान वस्तुतः एक हैं भी । इस सूत्र की विद्वद्वर, टीकाकार,-शिरोमणि, पण्डित रामनारायण दत्त शास्त्री 'राम' ने इस प्रकार व्याख्या की है, "अर्जुन की भांति भगवान् के प्रति सम्मान की बुद्धि, इक्ष्वाकु की भाँति भगवत्सदृश नाम वर्ण के प्रति अधिक आदर (उसके दर्शन से भगवत्प्रेम का उदय होना), विदुर आदि की भाँति भगवान् या भगवद् भक्त के दर्शन से प्रीति, गोपीजनों की भाँति भगवान् के विरह की अनुभूति, उपमन्यु तथा श्वेतद्वीपवासियों के समान भगवद् भिन्न वस्तुओं से स्वभावतः अरुचि होना भीष्म एवं व्यास आदि की तरह निरंतर भगवान् की महिमा का वर्णन, ब्रजवासियों तथा हनुमान्जी की भाँति भगवान् के लिए जीवन धारण करना, बलि आदि की भाँति मैं तथा मेरा सब कुछ भगवान् का ही है, यह भाव रखना, प्रह्लादजी की तरह सब में भगवद्भाव होना, भीष्म, युधिष्ठिर आदि की भाँति कभी भगवान् के प्रतिकूल आचरण न करना—

216. श्रीमद्भागवतमहापुराण 7/5/23
217. भक्तिसूत्र 2/44

आदि बहुत-से भक्ति सूचक चिह्न स्मृतियों (इतिहास-पुराणों के वर्णन) से भी प्राय: लक्षित होते हैं।"[218]

42. मित्र

जे न मित्र-दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।।
निज दुख गिरि-सम रज करि जाना। मित्र क दुख-रज मेरु समाना।।...
कुपथ निवारि, सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै, अवगुनन्हि दुरावा।।
देत-लेत मन संक न धरई। बल-अनुमान सदा हित करई।।[219]

यद्यपि कविता में मित्र पर प्रभूत सृजन प्राप्त होता है, तथापि तुलसी ने जैसा लिखा है। वैसा कम-से-कम हिंदी में दुर्लभ है। मैत्री में शैथिल्य प्रदर्शित करने वाले की तुलसी कठोर विगर्हणा करते हैं। उन्होंने मित्र के लक्षण भी स्पष्ट किए है—अपने बड़े-से-बड़े दु:ख को छोटे-से-छोटा मानते हुए मित्र के छोटे-से-छोटे दु:ख को बड़े-से-बड़ा मानना, कुपथ से हटाकर सुपथ पर लगाना, अवगुण-गोपन तथा गुण-प्रकटीकरण, लेन-देन में संशय-संदेह न करना, यथाशक्ति सतत-हित-साधन। वस्तुत: उत्तम मैत्री के ये आधार शाश्वत हैं। अंग्रेज़ी की एक कविता में कहा गया है, जो तुम्हारा सच्चा मित्र है वह तुम्हारी आवश्यकता पर सहायता करेगा, यदि तुम दुखी होगे तो वह रोएगा, यदि तुम जगे हो तो वह सो नहीं सकता। महान् मैत्री में स्व एवं पर का अंतर मिट जाता है। एक पाश्चात्य दार्शनिक ने कहा है, मैत्री दो शरीरों में एक मस्तिष्क को कहते हैं। महान् मैत्री अद्वैतानुभूति की वाहक हो सकती है। राम-हनुमान्, कृष्ण-सुदामा, मार्क्स-एंजेल्स इत्यादि की मैत्रियों ने मानवजाति के इतिहास को पुलकित किया है, प्रकाशित किया है।

तुलसी के राम ने मित्र की जो परिभाषा की है, उसका निर्वाह किया है। उन्होंने वालि का छिपकर वध किया, जिसके लिए यत्र-तत्र उनकी कठोर आलोचना की गई, यद्यपि वह साधार नहीं है, क्योंकि मित्र का मित्र अपना मित्र होता है और मित्र का शत्रु अपना शत्रु तथा शत्रु का किसी भी प्रकार से वध क्षत्रिय का परम कर्तव्य है। राम क्षत्रिय थे, राजकुमार थे, योद्धा थे—आज तक जयपुर-राजपरिवार, मेवाड़-राजपरिवार, नेपाल-राजपरिवार इत्यादि से लेकर लक्ष-लक्ष

218. भक्तिसूत्र (गीता प्रेस), पृ० 24-25
219. रामचरित मानस 4/6/1-2, 4-5

व्यक्ति उनके वंशज होने पर गर्व करते हैं; यहाँ तक की पाकिस्तान के शोधकर्ता अपने महानतम नेता कायदेआज़म मुहम्मद अली जिन्ना को, स्वयं उनके तथा उनकी भगिनी फातिमा जिन्ना के उद्‌गारों के संदर्भ में, राम पुत्र लव के वंशधर होने का सगर्व प्रतिपादन करते हैं। जिन्ना के पुरखे खत्रियों (क्षत्रिय) से मुसलमान बने थे और मूलतः लवपुर (लाहौर) जनपद के कुशपुर (कसूर) नगर से सम्बद्ध थे, ऐसा माना जाता है। सामान्य नैतिकता, जिसका पालन बहुत कम होता है और जो केवल वायवीय आदर्शवादिता के प्रदर्शन की वस्तु है, की लाठी से राम को हाँकना विशुद्ध अविवेक होगा। छिपकर वालि वध करने से एक अन्यायी का सरलतापूर्वक संहार हो गया, विशाल युद्ध की विशाल हिंसा नहीं हुई, अपरिसीम विनाश लीला नहीं हुई, राम चौदह वर्षों की अवधि के अनन्तर अयोध्या पहुँचने में सफल हो गए जिससे भरत-शत्रुघ्न का आत्मदाह एवं शोकातिरेक में अनेक स्वजन-परिजन की प्राणहानि अथवा मानसिक क्षति इत्यादि का कुअवसर नहीं आ पाया। शत्रु की किसी भी प्रकार से मृत्यु या क्षति ही राजनीति का ध्येय है। इस ध्येय के विस्मरण से ही भारत का पतन हुआ। राम के वालि वध, कृष्ण के द्रोणवध कराने इत्यादि को युद्ध का आदर्श मानना ही उचित है। ऋग्वेद, बाइबिल, इलियड, कुरान इत्यादि विश्व के महानतम ग्रंथों में इन्द्र, मूसा, आगा मेम्नॉन, मुहम्मद इत्यादि ने युद्ध की विशेषता को ध्यान में रखकर जो विशेष कार्य किए हैं या जो विशेष कार्य करने के परामर्श दिए हैं, वे ही व्यावहारिक एवं वरेण्य हैं।[220] जो जीवन में महान् कार्य करते हैं, उनमें अवसर-विशेष के अनुरूप निर्णय-विशेष की क्षमता आ जाती है। इस क्षमता का अनुभव या अनुमान साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता। अभावगत वस्तु के प्रति एक विशेष काल्पनिक ललक एक चिरंतन मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसकी वितुलना स्वप्न से की जा सकती है, जिसमें व्यक्ति की आहत इच्छाएं पूरी होती हैं, भले ही वे सामाजिक दृष्टि से विगर्हणीय हों। उक्त सत्य को जागृति का स्वप्न कहा जा सकता है। जिन मनुष्यों को न कुछ-विशेष करना होता है, न सोचना, वे नैतिकता की स्फीत वाग्धारा में यथार्थ को बहाया करते हैं। इससे उनकी रिक्तता को मनोवैज्ञानिक परितोष प्राप्त होता है। ऐसे मनुष्य यदि वालि वध के लिए राम की निंदा करते हैं, तो उसे सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। ऐसे मनुष्यों के उद्‌गार नवीन नहीं हैं—रामायण, रघुवंशम्, उत्तर रामचरितम् इत्यादि तक में इन्हें किसी-न-किसी रूप में स्थान प्राप्त हुआ है। किंतु यह प्रस्तुतीकरण भावना-विशेष का प्रस्तुतीकरण है, साधारणीकरण का एक अंग है जो संदर्भगत है अथवा अर्थवादगत है न कि

220. विशेष अध्ययन के लिए देखें, मेरा 'विश्व कवि होमर और उनके काव्य', पृ० 43-45

उपपत्ति अथवा स्थापना। जिसने ऋग्वेद, बाइबिल, रामायण, महाभारत, इलियड, कुरान इत्यादि सर्वोच्च ग्रंथों का अनुशीलन किया है अथवा इतिहास का सजग रह कर अध्ययन किया है अथवा जो विवेक के साथ निर्णय करने की शक्ति रखता है, वह राम की वालिवध के लिए निन्दा नहीं कर सकता। युगनेता गांधी ने आदर्शवाद के अतिरेक से अभिभूत होकर कह मारा था कि छिपकर वालि का वध करने वाले राम को मैं भगवान् तो क्या एक अच्छा मनुष्य भी नहीं मान सकता, किंतु जब उन पर उत्तरदायित्व आया और 1947 ई० में कश्मीर पर पाकिस्तान के कूटनीति-ब्रलित आक्रमण के संदर्भ में जवाहरलाल नेहरू परामर्श के लिए गए तब उन्होंने न केवल कश्मीर में सेनाएँ भेजने अपितु लाहौर पर आक्रमण करने का भी सर्वथा उचित एवं प्रशस्य परामर्श ही दिया। इससे युगनेता गांधी और चिरनेता राम का संकीर्ण और सार्वभौम नेतृत्व स्पष्ट हो जाता है। आश्चर्य है कि साहित्य के मर्मी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ऐसा कैसे लिख गए, "राम के चरित्र की इस उज्ज्वलता के बीच एक धब्बा भी दिखाई देता है। वह है वालि को छिपकर मारना। वाल्मीकि और तुलसीदासजी दोनों ने इस धब्बे पर कुछ सफेद रंग पोतने का प्रयत्न किया है। पर हमारे देखने में तो यह धब्बा ही सम्पूर्ण रामचरित को उच्च आदर्श के अनुरूप एक कल्पना मात्र समझे जाने से बचाता है। यदि यह एक धब्बा न होता तो राम की कोई बात मनुष्य की सी न लगती और वे मनुष्यों के बीच अवतार लेकर भी मनुष्यों के काम के न होते।"[221] आचार्य शुक्ल यहाँ अपने युग पर आकाशवत् छाए गांधी के आदर्शवादी प्रभाव की लपेट में आ गए हैं—यद्यपि प्रायः सर्वत्र वे इससे मुक्त रहे हैं। उनका वालि वध को राम के चरित्र की उज्ज्वलता के बीच धब्बा बताना और फिर उसकी उपयोगिता सिद्ध करना प्रच्छन्न विरोधाभास की सूचना देता है। वालिवध के अतिरिक्त राम की कोई बात मनुष्य की सी न लगती, यह मानना भी गलत है। सीता के वियोग, यथासमय सुग्रीव के न आने, लक्ष्मण को शक्ति लगने इत्यादि-इत्यादि के अनेकानेक प्रकरण इस कथन का सुस्पष्ट खंडन करते हैं।

43. राम का विरह-संदेश

नवतरु किसलय मनहूँ कृसानू। कालनिसा सम निसि, ससि भानू॥
कुबलय बिपिन कुंतबन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥

---

221. गोस्वामी तुलसीदास, शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण, पृष्ठ 119

जे हित रहे, करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा।।
कहेहु ते कछु दुख घटि होई। काहि कहौं, यह जान न कोई।।
तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया, एक मन मोरा।।
सो मनु राहत सोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं।।[222]

पारम्परिक एवं रूढ़ होते हुए भी, प्रस्तुत वर्णन कलात्मक एवं काव्यात्मक है—कलात्मक अपनी ऊहात्मकता एवं अलंकृति में, काव्यात्मक अपनी सहजता एवं तदीयता में। "कहने से दुःख कम होता है। किन्तु मैं अपनी विरह-वेदना किससे व्यक्त करूँ? ऐसा कोई समवयस्क सखा भी नहीं है! अतएव, मेरी पीड़ा कोई नहीं जानता।" यह सहजता है। "प्रिये, मेरे और तुम्हारे प्रेम का तत्त्व, केवलमात्र मेरा हृदय जानता है और वह सदैव तुम्हारे पास रहता है। अतएव तुम मेरी विरह-व्यथा स्वयं समझती हो! विस्तृत संदेश अनावश्यक है, संकेत-संस्फुरण पर्याप्त से पर्याप्त अधिक है।" यह तदीयता है। यह प्रेम का अद्वय है। यहाँ प्रेमयोगी घन आनंद का "या मन की जु दसा घन आनंद जीव की जीवनि जान ही जानै" का स्मरण अनायास ही आ जाता है—सम्भव है, घनआनंद को इस पंक्ति की प्रेरणा तुलसी से प्राप्त हुई हो! तुलसी का यह विरह-वर्णन प्रत्येक दृष्टि से उच्चकोटि का है। अपनी संक्षिप्तता में भी यह पर्याप्त है।

'तुलसी का विरह-वर्णन' एक प्रबन्ध का विषय है। अरण्यकांड में, सीता-हरण के अनंतर, उन्होंने रामायण, अध्यात्म-रामायण, कम्ब-रामायण इत्यादि के एतद् विषयक वर्णन के सदृश, उद्दीपनात्मक प्रकृति चित्रण के साथ-साथ प्रभावी विरह-वर्णन किया है। किष्किंधाकांड में भी मार्मिक विरह-बिंदु प्राप्त हो जाते हैं, जिनमें "घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा"[223] अपनी ध्वनि सम्पन्नता एवं प्रभावान्विति में अद्वितीय है। सुन्दर कांड का विरह-वर्णन तो विशेष महत्त्वपूर्ण है ही। गीतावली के किष्किंधाकांड में भी विरह-वर्णन किया गया है और वह अतीव संक्षिप्त होते हुए भी अतीव उच्चकोटि का है। सीता के पक्ष से विरह-वर्णन राम के पक्ष से भी अधिक किया है—रामचरित-मानस में भी, गीतावली में भी, बरवै रामायण में भी।

अध्यात्म-रामायण के सुन्दरकांड में राम के विरह-संदेश का वर्णन नहीं है, किंतु रामायण में यत्किंचित् है, यद्यपि रामचरितमानस में उसकी सरल शैली का अनुसरण नहीं किया गया। उसके कुछ उत्कृष्ट श्लोक प्रस्तुत हैं—

अनिद्रं सततं रामः, सुप्तोऽपि च नरोत्तमः।
सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन् प्रतिबुध्यते।।

---

222. रामचरित मानस 5/14/2-7
223. रामचरितमानस 4/13/1

दृष्ट्वा फलं वा पुष्पं वा यच्चान्यत् स्त्रीमनोहरम् ।
बहुशो हा प्रियेत्येवं श्वसंस्त्वामभिभाषते ।।
स देवि नित्यं परितप्यमान—
स्त्वामेव सीतेत्यभिभाषमाणः ।
धृतव्रतो राजसुतो महात्मा
तवैव लाभाय कृतप्रयत्नः ।।[224]

44. सीता का विरह-संदेश

मन-क्रम-बचन चरन-अनुरागी । केहिं अपराध नाथ, हौं त्यागी ।।
अवगुन एक मोर, मैं माना । बिछुरत, प्रान न कीन्ह पयाना ।।
नाथ, सो नयनन्हि को अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा।।
बिरह-अगिनि, तनु-तूल समीरा। स्वास, जरइ छन माहिं सरीरा ।।
नयन स्रवहिं जलु, नित हित लागी । जरैं न पाव देह बिरहागी ।।[225]

सीता का विरह-संदेश अतीव मार्मिक है, "प्रभु, जब मैं मन-वचन-कर्म से चरणानुरागिनी हूँ, तब मुझे किस अपराध के कारण त्याग दिया है ?" इस प्रश्न में अपना प्रेम ही नहीं व्यंजित, राम के अपार बल पर पूर्ण प्रत्यय भी व्यंजित है। सांगरूपक अलंकार "नयन स्रवहिं जलु, निज हित लागी" की निगूढ़ व्यंजना में तिरोहित-सा प्रतीत होने लगता है। नयनों का हित यह है कि उनमें राम सतत विद्यमान रहते हैं; इसलिए, वे शरीर को दग्ध नहीं होने देते, क्योंकि शरीर के दग्ध होने पर वे स्वयं भी दग्ध हो जाएँगे और तब राम का अनवरत दर्शन न कर सकेंगे—और तब उनमें बसे राम पर भी आँच आ जाएगी ! यह निगूढ़ व्यंजना तुलसी को ठीक ही अत्यधिक प्रिय थी, क्योंकि इसका प्रयोग उन्होंने किसी-न-किसी रूप में कई बार किया है—

विरह-आगि उर ऊपर जब अधिकाइ ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाइ ।।[226]

बिरह-अनल, स्वाति समीर, निज तनु जरिबे कहँ रही न कछू सक ।
अति बल जल बरसत दोउ लोचन, दिन अरु रैनि रहत एकहि तक ।।[227]

224. सुन्दरकांड 36/44-46
225. रामचरितमानस 5/30/4-8
226. बरवै-रामायण 5/36
227. गीतावली 5/9/3-4

विरहग्नि में नयनों द्वारा तन-रक्षण की एक अन्य व्यंजना पर भी विचार किया जा सकता है—इन दो नयनों को प्रियतम के दर्शन की आशा है, प्रियतम के दर्शन का विश्वास है; अतः ये अपने हित के कारण तन को नहीं जलने देते ! किसी महान् किन्तु अज्ञात लोक कवि ने किसी महान् किन्तु अज्ञात क्षण में गाया था—

> कागा, सब तन खाइयो, चुनि-चुनि खइयो माँस ।
> दो नयनाँ मत खाइयो, पिया मिलन की आस ।।

45. रथ-रूपक

> सुनहूँ सखा, कह कृपानिधाना । जेहिं जय होय सो स्यंदन आना ।।
> सौरज, धीरज तेहि रथ चाका । सत्य, शील दृढ़ ध्वजा, पताका ।।
> बल, बिबेक, दम, परहित घोरे । छमा, कृपा, समता रजु जोरे ।।
> ईस-भजनु सारथी सुजाना । बिरति चर्म, संतोष कृपाना ।।
> दान परसु, बुधि सक्ति प्रचंडा । बर बिज्ञान कठिन कोदंडा ।।
> अमल-अचल मन त्रोन-समाना । सम-जम-नियम सिलीमुख नाना ।।
> कवच-अभेद बिप्र-गुरु-पूजा । एहि सम बिजय-उपाय न दूजा ।।
> सखा, धर्ममय अस रथ जाकें । जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें ।।[228]

रूपक-सम्राट् तुलसीदास का प्रस्तुत रूपक, बालकांड के मानस-रूपक एवं उत्तरकांड के ज्ञानदीप-रूपक के साथ-साथ, उनका श्रेष्ठतम रूपक है। रामचरित-मानस एवं कवितावली में तुलसीदास ने जितने और जैसे सांगरूपक रचे हैं, उतने और वैसे संसार के किसी महाकवि ने नहीं रचे । विनयपत्रिका एवं गीतावली में भी यत्र-तत्र उत्कृष्ट रूपक-रचना प्राप्त होती है। 'तुलसी के रूपक' शोध के अच्छे विषय हैं। जहाँ तक मानस-रूपक का संबंध है, उसकी सुदीर्घता, कलासम्पन्नता, पवित्रता तथा उसका आद्यंत निर्वाह, सब-कुछ संसार-साहित्य में अतुलनीय है।

रथ-रूपक अपनी सांगोपांगता में सर्वथा सफल है । महाकवि ने इसमें सूक्ष्म पर्यालोचन-शक्ति का प्रशस्य परिचय दिया है। शक्ति, शील एवं सौंदर्य के अंगो-पांगों से रथ के अंगोपांगों की ऐसी अभेदता स्थापित की गई है कि यह रथ शाश्वत जीवन-रथ का प्रतीक कहा जा सकता है। इसका अनुशीलन कठोपनिषद् के उस महान् रथ-रूपक का स्मरण कराने लगता है, जिसमें आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को वल्गा एवं इंद्रियों को अश्व कहा गया है। यह धर्म-

228. रामचरितमानस 6/79/4-11

रथ है, जो महाभारत की "धारणात् धर्ममिति आहुः, धर्मो धारयते प्रजाः" परिभाषा की स्मृति कराता है। भारत में वीरता महत्वाकांक्षा की दासी न होकर, नीति की सखी रही है। भारतीय संस्कृति के एक मर्मी कलाकार जयशंकर 'प्रसाद' के शब्द स्मरण में आ जाते हैं, "वीरता उन्माद नहीं है, आँधी नहीं है जो उचित-अनुचित का विचार न करती हो। केवल शस्त्र-बल पर टिकी वीरता बिना पैर की होती है। उसकी दृढ़ भित्ति है न्याय।"[229]

रामायण में इंद्र द्वारा मातलि को रथ ले जाने के आदेश, मातलि के आदेश-पालन तथा राम के रथ की परिक्रमा करने के उपरान्त अद्भुत एवं रोमांचकारी द्वैरथ-युद्ध का वर्णन तो है, किन्तु रामचरितमानस के धर्मरथ-रूपक जैसा कुछ भी नहीं है।[230] अध्यात्म-रामायण में रामायण का अपेक्षाकृत संक्षिप्त अनुकरण किया गया है।[231] अतएव, रथ-रूपक तुलसी की प्रगाढ़ मौलिकता का एक उज्ज्वल उदाहरण है।

46. अयोध्या-महिमा

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद-पुरान-बिदित, जगु जाना।।
अवधपुरी-सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानै कोऊ-कोऊ।।
जन्मभूमि मम, पुरी सुहावनि। उत्तर-दिस बह सरजू पावनि।।
जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा।।[232]

राम के अयोध्या-प्रेम अथवा जन्मभूमि-प्रेम तथा सरयू-प्रेम से उनकी महानता को एक अतिरिक्त वर्ण्यबिंदु प्राप्त हो गया है। "उपसर्प मातरंभूमिम्" एवं "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" इत्यादि वैदिक-सूत्र देशभक्ति-काव्य की प्राचीनता के आदि प्रतीक हैं। इलियड एवं ओडिसी जैसे प्राचीनतम पाश्चात्य महाकाव्यों में भी देशभक्ति की मार्मिक व्यंजना प्राप्त होती है। जन्मभूमि प्राणी के अणु-अणु, परमाणु-परमाणु को सँवारती है। अतएव, देशभक्ति गौरवशाली व्यक्ति के रक्त में अनायास ही विद्यमान रहती है। राम का जन्मभूमि प्रेम इस प्रसिद्ध श्लोक में भली भाँति व्यक्त हुआ है—

---

229. स्कंदगुप्त, पृष्ठ 75
230. युद्धकाण्ड 102/6-18
231. वही, 11/19-26
232. रामचरितमानस 7/3/3-6

इयं स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण, रोचते।
जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।।

अयोध्या राम के स्पर्श से पुलकित होने के कारण सप्तपुरियों में प्रथम मानी गई है—

अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका।
पुरीद्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिका।।

अथर्ववेद में अयोध्या का प्रतीकपरक उल्लेख किया गया है। आदिकाव्य रामायण में अयोध्या के गौरव एवं उसके नागरिकों की चरित्रसम्पन्नता का विशद वर्णन प्राप्त होता है।[233] हिंदी के कवियों में केशवदास,[234] जगन्नाथदास 'रत्नाकर'[235], मैथिलीशरण गुप्त[236] इत्यादि ने अयोध्या के सुंदर वर्णन किए हैं। मैथिलीशरण ने वौद्धकाल में प्रचलित हुए 'साकेत' नाम का राम-काल में प्रयोग करके कालदोष का परिचय दिया है। किंतु उनका अयोध्या-वर्णन अच्छा है। छायावादी-युग के प्रभाव ने उन्हें अयोध्या के स्थान पर साकेत नाम रखने की प्रेरणा दी होगी, क्योंकि यह शब्द सुकुमार है, काव्यात्मक है, सरल है। 'हिंदी-कविता में अयोध्या' एक सुंदर लघुप्रबंध का विषय है।

सरयू-वर्णन अयोध्या-वर्णन से प्रायः संपृक्त रहा है। 'साहित्य और सरयू' एक सरस विषय है। आदिकाव्य रामायण में इस सरिता के उद्गम का उल्लेख एवं इसके पुण्यमय होने की चर्चा की गई है।[237] तुलसी सरयू में स्नान से अनायास ही परमात्म-प्राप्ति का प्रतिपादन करते हैं। मैथिलीशरण ने वाल्मीकि, तुलसी इत्यादि की प्रेरणा से सरयूमहिमा-वर्णन की परम्परा को अक्षुण्ण रखा है। उन्होंने व्यतिरेक अलंकार का सुंदर प्रयोग करते हुए सरयू को सुरसरिता (आकाशगंगा, पृथिवीगंगा नहीं) से भी श्रेष्ठतर बतलाया है—

स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ,
किंतु सुरसरिता कहाँ, सरयू कहाँ?
वह मरों को मात्र पार उतारती,
यह यहीं से जीवितों को तारती।[238]

---

233. बालकाण्ड, सर्ग 5-6
234. रामचन्द्रिका में।
235. गंगावतरण में।
236. साकेत में।
237. बालकाण्ड 24/8-10
238. साकेत, सर्ग 1, पृष्ठ 14-15

तुलसी के अयोध्या एवं सरयू के प्रति अगाध प्रेम से अत्यधिक प्रभावित होकर पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय ने तो अपने 'तुलसीदास' ग्रंथ में अयोध्या को तुलसी की जन्मभूमि होने की कल्पना तक कर डाली थी। यह कल्पना दोनों सोरों (एटा एवं गोंडा ज़िलों में स्थित), हाजीपुर, हस्तिनापुर इत्यादि की कल्पनाओं के सदृश ही थी!

47. राम-राज्य

बयरु न कर काहू सन कोई। राम-प्रताप बिषमता खोई ॥···
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म, निरत-श्रुति-नीती ॥···
अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर, सब बिरुज सरीरा ॥
नहिं दरिद्र कोउ, दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध, न लच्छनहीना ॥···
एकनारिब्रतरत नर झारी। ते मन-बच-क्रम पतिहितकारी ॥
दंड जतिन्ह-कर, भेद जहँ नर्तक-नृत्य-समाज।
जीतहु मनहि, सुनिअ अस रामचंद्र के राज ॥[239]

तुलसी का रामराज्य-वर्णन उनको एक उत्कृष्ट दार्शनिक सिद्ध करता है। छांदोग्योपनिषद्, रामायण, महाभारत, अध्यात्म-रामायण इत्यादि आर्ष-ग्रंथों में आदर्शराज्य (यूटोपिया) का जो निरूपण किया गया है, उसका सार तुलसी ने मौलिकतासम्पन्न काव्यात्मक-कलात्मक रूप में प्रस्तुत करके अपनी सारग्राहिणी एवं नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाओं का युगपत् परिचय दिया है। उनके रामराज्य-निरूपण का गांधी इत्यादि अनेक आधुनिक नेताओं पर प्रभूत प्रभाव पड़ा है। आज भी कोटि-कोटि भारतवासी रामराज्य को आदर्शराज्य का पर्याय मानते हैं। इस दृष्टि से भी, तुलसी का अपरिसीम प्रभाव स्वयंसिद्ध है।

पश्चिम के यूटोपिया-निरूपण पर भारत के प्रभाव के स्पष्ट दर्शन किए जा सकते हैं, क्योंकि वहाँ के आदियूटोपियाकार प्लेटो (अफ़लातून) भारत आए थे।[240] प्लेटो की 'वार्ताओं' (डायलॉग्स) पर उपनिषद् की प्रश्नोत्तर-शैली का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने गुरुभक्ति, वर्णव्यवस्था, शाकाहार, ब्रह्मचर्य इत्यादि का जो प्रतिपादन किया है, वह भारतीय प्रभाव का सुस्पष्ट द्योतन करता है। इंडोलॉजी

---

239. रामचरितमानस 7/19/8; 20/2, 5, 6; 21/8; 22

240. देखिए सुविख्यात दर्शनवेत्ता विल् ड्यूराँ के 'स्टोरी ऑफ़ फिलॉसॉफी' शीर्षक बहुमूल्य ग्रंथ में प्लेटो के जीवनवृत्त से सम्बद्ध अंश।

(प्राच्यविद्या अथवा भारतविद्या) के जनक सर विलियम जोन्स ने भारतीय-यूनानी दर्शनों-दार्शनिकों की तुलना के संदर्भ में प्लेटो को व्यास के निकट रखा है। राधाकृष्णन् ने अपने द्विभागीय ग्रंथरत्न 'इंडियन फिलॉसॉफी' के प्रथम भाग में उक्त तुलना का विवरण दिया है। स्थूल बहुदेववादी यूनान में प्लेटो का ब्रह्म एवं आत्मा का निरूपण उपनिषद् के प्रभाव की ही सूचना दे सकता है। उनका 'विश्वात्मा' ('द वर्ल्ड-सोल' अथवा 'द यूनिवर्सल स्पिरिट्') तो ब्रह्म का शत-प्रतिशत अनुवाद ही है। प्लेटो के 'गणतन्त्र' (द रिपब्लिक्) में दार्शनिक—राजा ब्राह्मण, योद्धा क्षत्रिय एवं कर्षक वैश्य के अनुवाद हैं। ये भारत के द्विज-निरूपण की सूचना देते हैं। पश्चिम में, प्लेटो के अनुकरण पर, दार्शनिकों ने आदर्श राज्य-निरूपण में अत्यधिक रुचि ली। प्राय: सभी प्राचीन-अर्वाचीन दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंगों से आदर्शराज्य का निरूपण-प्रतिपादन किया है, जिनमें अरस्तू, सर टॉमस मोर, बेकन, रूसो, मार्क्स, स्पेन्सर इत्यादि प्रमुख हैं। मार्क्स का राज्यरहित समाज (स्टेटलेस सोसाइटी) तो महाभारत में निरूपित सतयुग के राज्यरहित समाज का अनुवाद ही प्रतीत होता है—

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥
पाल्यमानास्तथानोन्यं नरा सर्वेण भारत।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत् ॥[241]

पहले (सतयुग में) न कोई राज्य था, न दण्ड था और दण्ड देनेवाला। सारी प्रजा धर्म के द्वारा ही एक-दूसरे की रक्षा करती थी। हे भरतवंशी युधिष्ठिर, सब मनुष्य धर्म के द्वारा परस्पर पालित और पोषित होते थे। कुछ दिनों बाद सब लोग पारस्परिक संरक्षण के कार्य में महान् कष्ट का अनुभव करने लगे। फिर उन सब पर मोह छा गया। इस मोह के परिणामस्वरूप शोषण का आरम्भ हुआ। मार्क्स ने अपना अंतिम लक्ष्य राज्यरहित समाज माना है। यह लक्ष्य भारतीय दर्शन से मेल खाता है। तुलसी रामराज्य में दण्डरहित-भेदरहित समाज का प्रतिपादन करते हुए व्यास और मार्क्स के बीच की कड़ी बन गए हैं। वे पारस्परिक शत्रुभावरहित समाज का उल्लेख करते हैं, जो विषमता के नष्ट होने पर ही संभव है। उनका विषमताहीन समाज समतासम्पन्न समाज का पर्यायवाची ही हो सकता है। अपने कर्तव्य पर आरूढ़ समाज में परस्पर प्रीति स्वाभाविक है। ऐसे सुव्यवस्थित एवं सर्वोत्कृष्ट समाज में अल्पमृत्यु, रोग, दारिद्रय, अशिक्षा, मूढ़ता इत्यादि का लोप सम्भव है। एकपत्नीव्रत अथवा एकपतिव्रत तुलसी के प्रगतिशील

241. शान्तिपर्व (राजधर्मानुशासनपर्व) 59/14-15

समाज-संव्यूहन का एक उत्कृष्ट प्रतीक है, उनके भविष्यद्रष्टा ऋषि होने का एक प्रभावी प्रमाण है। उनके समय एवं उनके पूर्व के समग्र अतीत में बहुपत्नीवाद गौरव-प्रदर्शन का एक लोकप्रिय उपादान था। उस समय का 'महामहिपाल' अकबर उद्दाम मांसलता का एक भयावह प्रतीक था ही! किंतु उन्होंने बहुपत्नी-वाद का प्रत्याख्यान किया है। निस्संदेह, अपने रामराज्य-निरूपण में तुलसी एक अतीव प्रगतिशील विचारक के रूप में प्रकट हुए हैं। रामराज्य-निरूपण तुलसी-दर्शन का सर्वाधिक प्रशस्य एवं प्रगतिशील अंग है।

तुलसी का रामराज्य-निरूपण पर्याप्त मौलिक भी है। रामायण में रामराज्य-वर्णन दो स्थलों पर प्राप्त होता है। किंतु एतद्विषयक केवलमात्र छह श्लोक ही रचे गए हैं और ये भी प्रशस्तिपरक हैं, सैद्धांतिक नहीं। प्रथम में भरत राम को उनके केवलमात्र एक महीने से अधिक के ही राज्यकाल में प्रजा के आरोग्य, आबाल वृद्ध नर-नारियों के सुखी होने, हृष्ट-पुष्ट दिखाई देने, सुवृष्टि, सुवात इत्यादि की अतिसंक्षिप्त सूचना मात्र देते हैं, जिसे सुनकर राम अतिशय प्रसन्नता का अनुभव करते हैं[242] और द्वितीय में केवल दो श्लोकों में लगभग इन्हीं बिन्दुओं को दुहरा दिया गया है—

> काले वर्षति पर्जन्यः सुभिक्षं विमला दिशः।
> हृष्टपुष्टजनाकीर्णं पुरं जनपदास्तथा॥
> नाकालेम्रियते कश्चिन्न व्याधिः प्राणिनां तथा।
> नानर्थो विद्यते कश्चिद् रामे राज्यं प्रशासति॥[243]

अध्यात्म-रामायण में तात्त्विक दृष्टि से रामायण-वर्णन के केवलमात्र दो श्लोक प्राप्त होते हैं। यों, कुछ कथात्मक श्लोक भी हैं। एक श्लोक राम का एकपत्नीव्रत की सूचना भी देता है। तुलसी ने समग्र समाज में एकपत्नीव्रत का वर्णन करके समष्टिपरकता का परिचय दिया है। उनका लोकमंगलवाद सर्वथा प्रशस्य है। अध्यात्म-रामायण के शुद्ध रामराज्यपरक श्लोक ये हैं—

> राघवे शासति भुवं लोकनाथे रमापतौ।
> वसुधा सस्यसम्पन्ना फलवन्तश्च भूरुहाः॥
> जनाः धर्मपराः सर्वे पतिभक्तिपराः स्त्रियः।
> नापश्यत्पुत्रमरणं कश्चिद्राजनि राघवे॥[244]

---

242. उत्तरकाण्ड 41/18-21
243. उत्तरकाण्ड 99/13-14
244. उत्तरकाण्ड 4/21-22

महाभारत में युधिष्ठिर के धर्मराज-वर्णन पर रामायण के रामराज्य-वर्णन का प्रभाव तो पड़ा है, किन्तु वह पर्याप्त विस्तृत है, अपने-आप में मौलिक है। इस वर्णन को प्रक्षिप्त भी माना गया है। इसके आरम्भ में युधिष्ठिर द्वारा मनु और राम के आदर्शों पर चलते हुए राज्य-संचालन का उल्लेख भी किया गया है —

> यथा मनुर्महाराजो, रामोदाशरथिर्यथा।
> तथा भरतसिंहोऽपि पालयामास मेदिनीम् ।।[245]

महाभारत में अनेकानेक स्थलों पर राजनीति-निरूपण विशदतम रूप में प्राप्त होता है। शान्तिपर्व के आरम्भिक बृहदंश का तो शीर्षक ही राजधर्मानुशासनपर्व है। इसके एकसौ तीस अध्यायों में से अधिकांश में राजा और राजनीति का ही निरूपण किया गया है। शान्तिपर्व के अपर आपद्धर्मपर्व के दो आरम्भिक अध्यायों में भी इसी विषय का प्रसार दृष्टिगोचर होता है। अनुशासनपर्व के एक सौ-पैंतालीस अध्यायों में छियालीसवें श्लोक के अनन्तर भी राजा और राजनीति का सुविस्तृत निरूपण प्राप्त होता है, यद्यपि यह प्रक्षिप्त माना गया है। अन्यत्र भी, अनेकानेक स्थलों पर राजनीति, कूटनीति इत्यादि के वर्णन प्राप्त होते हैं। जितना राजनीति-निरूपण महाभारत में प्राप्त होता है, उतना मनुस्मृति, शुक्रनीति, अर्थ-शास्त्र इत्यादि में भी नहीं प्राप्त होता। किन्तु इसमें आदर्श राज्य पर कोई विशेष एवं सुनियोजित प्रकाश नहीं डाला गया।

भारत में चिरकाल से साम-दान-दण्ड-भेद राजनीति के प्रधान तत्त्व माने जाते रहे हैं। सामनीति शान्तिनीति है, समृद्धिनीति है, उत्तमनीति है। दाननीति मध्यम श्रेणी की होती है। दण्ड और भेद की नीतियाँ अधम श्रेणी की होती हैं। दण्ड और भेद की नीतियों का प्रयोग शोषक और उपनिवेशवादी अधम शासक करते हैं। इसका यह अभिप्रायः नहीं है कि उत्तम शासक दण्ड और भेद की नीतियाँ जानते ही नहीं। कभी-कभी इनका प्रयोग भी करना पड़ सकता है। अतएव, ये भी राजनीति की दो अपरिहार्य दिशाएँ अवश्य हैं। तुलसी ने रामराज्य में "दण्ड जतिन्ह कर" लिखते हुए यह स्पष्ट किया कि वही राज्य आदर्श है जिसमें शासक दण्ड का प्रयोग न करें, क्योंकि इससे वस्तुपरक राजनीति का ह्रास होता है, शासक द्वारा दण्ड को आत्मपरक प्रयोग की परिधि में ले लेने की सम्भावना रहती है। कार्यपालिका, विधिपालिका एवं न्यायपालिका के पृथक्-पृथक् अधिकारों पर आधृत वर्तमान लोकतांत्रिक राजनीति वस्तुतः "दंड जतिन्ह कर" सिद्धान्त के ही निकट है। इसमें अपराधी को दण्ड न्यायपालिका देती है, कार्यपालिका नहीं, विधि-पालिका नहीं। दण्ड का प्रयोग शत्रु के लिए ही वरेण्य है। प्रजा के लिए दण्ड का

245. आश्वमेधिकपर्व (अश्वमेधपर्व), अध्याय 14, श्लोक 17 के अनन्तर।

प्रयोग शासक को आततायी बना डालता है। प्लेटो के दार्शनिक-राजा (फिलॉसॉफर-किंग) का सिद्धान्त "दण्ड जतिन्ह कर" में काव्यकला बन गया है! 'दण्ड' में श्लेष और "दण्ड जतिन्ह कर" में परिसंख्या और अलंकारों का निगूढ़ प्रयोग सर्वथा विस्मयकारी है। बाणभट्ट और केशवदास के उत्कृष्ट परिसंख्या-प्रयोग भी इसके सामने उन्नीस लगते हैं, क्योंकि इसका अर्थ अतीव गम्भीर है। हिन्दी-कविता में परिसंख्या अलंकार का सर्वश्रेष्ठ प्रयोग यहीं प्राप्त होता है। "भेद जहँ नर्तक-नृत्य-समाज" में भी परिसंख्या का ऐसा ही परमोत्कृष्ट प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। प्रजा को भेदनीति के द्वारा विश्रृंखल करना स्वार्थी शासक या उसके वर्ग के हित में हो सकता है, किंतु राष्ट्र का उससे अपार अहित होता है। पारस्परिक घृणा एवं वैमनस्य से विराट् मानवता खण्डित हो जाती है। अतएव, भेद राजनीति का प्रशस्य तत्त्व नहीं है। उसका प्रयोग शत्रु पर ही वरेण्य है। भेद नृत्य इत्यादि ललित-कलाओं में ही शोभा पाता है, क्योंकि वह विविधता अथवा रोचकता की सृष्टि करता है। अतएव, "दण्ड जतिन्ह कर, भेद जहँ नर्तक-नृत्य-समाज" का अर्थ है कि आदर्शराज्य में शासक दण्डनीति एवं भेदनीति का प्रयोग नहीं करते। दण्ड का अधिकार केवल यतियों का प्राप्त होता है, जिनका किसी से न राग होता है, न द्वेष। दण्ड अत्याचार का नहीं प्रत्युत साधना का अवलम्ब होता है। भेद राजनीति में नहीं अपितु ललित-कलाओं में प्रशस्य होता है, जिससे संस्कृति का विकास होता है, जीवन में गति आती है, प्रजा का अनुरंजन होता है—"रंजयतीति राजा" की परिभाषा सार्थक होती है।

अपने आदर्श राज्य-निरूपण में तुलसी ने यथार्थ की अवहेलना नहीं की—

पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख, बहुतन मन सोका॥
जिन्हहि सोक ते कहउँ बखानी। प्रथम, अबिद्या-निसा नसानी॥
अघ-उलूक जहँ-तहाँ लुकाने। काम-क्रोध-कैरव सकुचाने॥···
मत्सर, मान, मोह, मद, चोरा। इन्हकर हुनर न कबनिहुँ ओरा॥[246]

सत् की जय और असत् की क्षय आदर्श राज्य की पहली पहचान है। ये दोनों तत्त्वत: एक हैं, अन्योन्य हैं। सत् के लिए साम है, दान है। असत् के लिए दण्ड है, भेद है।

तुलसी ने राम को राजा-रूप में भी नितांत विनम्र चित्रित किया है। वे विचार-विमर्श करते हैं, अपना मत थोपते नहीं—

नहिं अनीति, नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु, करहु जो तुम्हहि सोहाई॥···
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तो मोहि बरजहु भय बिसराई॥[247]

---

246. रामचरितमानस 7/30/2-4, 6
247. रामचरितमानस 7/42/4, 6

राम ये उद्‌गार प्रजाजन से प्रकट कर रहे हैं। नीति भी राजा के इतने विनम्र होने की दूरी तक नहीं जाती, केवल मंत्रियों से परामर्श का प्रतिपादन करती है—

सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यापि सुमंत्रवित्।
मन्त्रिभिस्तु विना मंत्रं नैकोऽर्थं चिंत्येत् क्वचित्।।[248]

तुलसी ने राजा और राज्य के आदर्शों का जैसा गहन एवं पावन निरूपण किया है, वैसा किसी ने नहीं। संक्षिप्तता एवं सारसम्पन्नता इन वर्णनों की महती विशेषताएँ हैं। रामायण का आदर्शराज्य-निरूपण बहुत संक्षिप्त है, महाभारत का बहुत विस्तृत। तुलसी ने दोनों से ही लाभ उठाकर अपना वर्णन अद्वितीय बना लिया है। उन्होंने रामचन्द्रिका के महाकवि केशवदास के सदृश, रामायण इत्यादि का अनुकरण करते हुए, केवल सुख एवं ऐश्वर्य का वर्णन ही नहीं किया वरन् सैद्धान्तिक निरूपण भी जोड़ दिया है, जिससे रामराज्य-वर्णन की काव्य-परम्परा को एक अप्रतिम मणिकांचनयोग प्राप्त हो गया है।

48. सन्त-लक्षण

संत-असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चन्दन-आचरनी।।
काटई परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगन्ध बसाई।।
ताते सुर-सीसन्ह चढ़त जगबल्लभ श्रीखण्ड।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु-बदन यह दण्ड।।[249]

तुलसी ने, अन्यान्य मध्यकालीन कवियों एवं महात्माओं के सदृश ही, सन्त-महिमा पर बारम्बार प्रकाश डाला है। कबीर, मीरा, नरसी इत्यादि ने सन्त-भक्ति को भगवद्‌भक्ति जैसा महत्त्व प्रदान किया है। तुलसी के राम स्वयं भक्ति का आदर्श प्रतिपादित करते हैं—

सातवँ, सम, मोहिमय जग देख। मोते संत अधिक करि लेखा।।[250]

248. शुक्रनीति में।
249. रामचरितमानस 7/36/7-8; 37
250. वही, 3/35/3

प्रस्तुत अवतरण में सन्त को चन्दन के सदृश बताया गया है, जो अपने काटने वाले कुठार को भी सुगन्धित कर देता है, क्योंकि परहित उसका सहज गुण है। पाटल पुष्प तोड़ने वाले के कर को भी सुरभित कर सकता है! संसार संत-असंत को पहचानता है—चन्दन कटकर भी देवताओं के शीर्ष पर चढ़ता है, जगत् का प्रिय बन जाता है, जबकि कुठार का मुख अग्नि से दग्ध किया जाता है, घन से पीटा जाता है! सुकरात, ईसा, मंसूर, जूनो, लिंकन इत्यादि विषपान, सलीब, शूली, दाह, गोली इत्यादि से क्रूरतापूर्वक समाप्त किये जाने के बावजूद पूज्य हैं, अजर हैं, अमर हैं, जबकि इनके घातकों के नाम-निशान भी नहीं बचे—उनको केवल अपशब्द प्राप्त हुए हैं। उदाहरण, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास इत्यादि अलंकारों से सम्पन्न यह अवतरण जितना प्रेरक है, उतना कलात्मक भी। तुलसी उपदेश को भी कलात्मक रूप प्रदान करने में सक्षम हैं। यह विशेषता कबीर में नहीं है, यद्यपि उन्होंने भी प्रचुर एवं प्रभावी उपदेशात्मक काव्य की रचना की है—

व्यतिरेक अलंकार (उपमान पर उपमेय की सकारण वरीयता) के अतीव कलात्मक प्रयोग से सम्पन्न प्रस्तुत अवतरण में भी सन्त-महिमा का सुन्दर गान किया गया है—

> सन्त-हृदय नवनीत-समाना। कहा कबिन्ह पर कहै न जाना।।
> निज परिताप द्रवइ नवनीता। परदुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता।।[251]

वैराग्य-सन्दीपिनी में तुलसी ने सन्त-लक्षण एवं सन्त-महिमा पर विस्तृत प्रकाश डाला है। इस शांतरसप्रधान लघुकाव्य का प्रस्तुत दोहा उपमेय सन्त के हेतु उपमान चन्दन के सार्थक प्रयोग के कारण यहाँ अनायास ही स्मृत हो उठता है—

> निज संगी निज सम करत, दुर्जन-मन दुख दून।
> मलयाचल हैं सन्तजन, तुलसी दोषबिहून।।[252]

ऐसे ही अलंकरण से सम्पन्न कबीर का एक दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है—

> सन्त न छाड़ै सन्तई, जे कोटिक मिलैं असन्त।
> चँदन भुवंगा बैठिया, तउ सीतलता न तजंत।।[253]

सन्त का प्रधान लक्षण परहित है, फिर चाहे पात्र संसार की भाषा में श्रेष्ठ हो या नेष्ठ, कृतज्ञ हो या कृतघ्न। सन्त-स्वभाव की विशेषताएँ तुलसी के प्रस्तुत

---

251. वही, 7/125/6-7
252. वैराग्य-संदीपिनी 18
253. कबीर-ग्रन्थावली 29/2

पद में श्लाघ्य रूप में प्राप्त होती हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें सन्त-सुभाव गहौंगो।।
जथालाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहितनिरत निरन्तर, मन-क्रम-बचन नेम निबहौंगो।।
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, परगुन नहिं दोष कहौंगो।।
परिहरि देहजनित चिन्ता, दुखसुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसीदास प्रभु, यहि पथ रहि अबिचल हरिभगति लहौंगो।।[254]

तुलसी सन्त का लक्षण "शठे शाम्यं समाचरेत्" या "जैसे को तैसा" से विपरीत "अक्कोधेन जिने कोधं, असाधु साधुना जिने"[255] का आचरण मानते हैं। वे मूसा के "आँख के लिए आँख, दाँत के लिए दाँत, हाथ के लिए हाथ, पैर के लिए पैर"[256] का प्रतिपादन न करते हुए ईसा के "दाएँ गाल पर थप्पड़ मारने वाले की ओर बायाँ गाल भी घुमा देने"[257] को सन्त का लक्षण घोषित करते हैं। जीवन के समग्र आयामों में वे अव्यावहारिक अहिंसावाद अथवा कोरे क्षमावाद को वरेण्य नहीं मानते, किन्तु सन्त के सन्दर्भ में इसका ही प्रतिपादन करते हैं। इस दृष्टि से, एक सीमा में, वे महावीर, बुद्ध, सुकरात और ईसा के निकट हैं।

49: महान् मानव-शरीर

बड़े भाग मानुष-तनु पावा। सुरदुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा।।
साधनधाम, मोच्छ कर द्वारा। पाई न जेहिं परलोक सँवारा।।···
नरतनु पाइ, बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं।।
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुँजा ग्रहइ, परसमनि खोई।।···
कबहुँक करि करुना नर-देही। देत ईस बिनु-हेतु सनेही।।[258]

---

254. विनयपत्रिका, 172
255. धम्मपदम् में
256. द होली बाइबिल, एक्जोडस 21/24
257. वही, शिखरोपदेश 5/39
258. रामचरितमानस 7/42/7-8; 43/2-3, 6

भारतीय साधना में मानव-शरीर परम पावन एवं परम सौभाग्यमय माना गया है। जीवन का आदि, मध्य एवं अवसान सब आनन्दमय है। परमात्मा की कामना का प्रतिफलन जीवन आनन्दोद्भूत है, आनन्दमय है एवं आनन्द में ही इसका लय होगा।[259] काश्मीरीय शैवदर्शन को आनन्दवाद का अभिधान ही प्राप्त है, जिसको महाकवि जयशंकर प्रसाद ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त;
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
इसी में सब होते अनुरक्त।[260]

तुलसी ने महान् भारत, महान् भारतीय दर्शन एवं महान् मानवगरिमातत्त्व को उपयुक्त अभिव्यक्ति प्रदान की है। एक महान् आशावादी एवं एक महान् देश-भक्त होने के कारण ही उन्होंने अन्धकारपूर्ण मध्यकाल में भी "भलि भारतभूमि, भलें कुल जन्म, समाजु, सरीर भलो लहि कै"[261] एवं

दियो सुकुल जनम, सरीर सुन्दर, हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परमपद पावत पुरारि-मुरारि को॥[262]

जैसे गान गाए थे। उनके ये गान महान् भारत की महान् आशावादी परंपरा के सर्वथा अनुकूल हैं। इस कारण से भी वे महान् ऋषियों-मुनियों के महान् उत्तराधिकारी बन सके हैं। भारतवर्ष एवं इसमें उत्पन्न मानव की स्तुति देवता तक करते हैं—

गायन्ति देवाय: किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूय: पुरुषा: सुरस्वात्॥
जानीम नैनत् क्व वयं विलीने
स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धम्।
प्राप्स्याम धन्या: खलु ते मनुष्या
ये भारते नेन्द्रियविप्रहीना:॥[263]

259. तैत्तिरीयोपनिषद् में।
260. कामायनी 3/36
261. कवितावली 7/33/1
262. विनयपत्रिका 135/3-4
263. विष्णुपुराण 2/3

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् ।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः
कर्माणिभद्राण्यवतारयन्ति ।[264]

पुराणों के गहन अध्येता एवं पुराणतत्त्व के अप्रतिम प्रतिपादक तुलसी ने हमारी कविता को जो गौरवशाली जीवनास्था प्रदान की है, वह जनमानस में ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से परिव्याप्त है। बाह्यतः दीन या दरिद्र या दयनीय लगने वाले आभ्यंतरतः जीवन के पवित्र रस से सराबोर रहते हैं—

नर-तन सम नहिं कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत तेही ।।
नरक, स्वर्ग-अपवर्ग निसेनी । ग्यान, बिराग, भगति, सब देनी ।।[265]

केवल तुलसी ही नहीं, अन्य सन्तों ने भी मानव-जन्म की महानता एवं पावनता के गीत गाए हैं, क्योंकि वे भी महान् भारतीय संस्कृति के जीवनरसप्रधान दर्शन से अभिज्ञ रहे हैं। कबीर ने गाया है—

मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारम्बार ।
तरिवर थैं फल झड़ि पड़्या, बहुरि न लागै डार ।।
कबीर हरि की भगति करि, तजिया बिषिया रसचोज ।
बार-बार नहिं पाइए, मनिषा-जन्म की मौज ।।[266]

मीराँ ने भी इन्हीं स्वरों में स्वर मिलाया है—

काईं म्हारो जणम बारम्बार ।
पूरबला कांई पुन्न खूँट्याँ माणसा अवतार ।।
बढ़्या छिण-छिण, घट्या पल-पल, जात णा कछ बार ।
बिरछराँ जो पात टूट्या, लाया णा फिर डार ।।[267]

मनखा-जनम पदारथ पायो, ऐसी वहुरि न आती ।
अबके मोसर ज्ञान बिचारो, रामनाम सुख पाती ।।[268]

---

264. श्रीमद्भागवत 5/6
265. रामचरितमानस 7/120/9-10
266. कबीर-ग्रन्थावली 12/34-35
267. मीराँबाई की पदावली (सं० परशुराम चतुर्वेदी) 196/1-4
268. वही, परिशिष्ट (ग) 16/1-2

महाकवि सूर ने भी ऐसे ही उद्‌गार प्रकट किए हैं—

नहिं अस जनम बारम्बार।
पुरबलौ धौं पुन्य प्रगट्यो, लह्यो नर-अवतार ।।
घटै पल-पल, बढ़ै छिन-छिन, जात लागि न बार।
धरनि पत्ता गिरि परे तैं, फिर न लागै डार ।।[269]

व्यास (न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्) से रवीन्द्र (सबेर ऊपर मानुष सत्य) तक, सहस्राब्दियों के प्रसार में भारतीय द्रष्टा-महाकवि जीवन के विजयादि गौरव-गीत गाते आ रहे हैं और इनमें तुलसी का एक विशिष्ट स्थान है, क्योंकि उनका स्वर कोटि-कोटि मानवों का अपना स्वर बन गया है। इस महान् स्वर का उद्‌गम जीवनरस से ऊर्जस्वित् वेदों और चिंतनरस से जाज्वल्यमान् उपनिषदों में है। मरुधर्मों (यहूदी-ईसाई-इस्लाम) के अनुयायी ऐसे स्वरों में नहीं गा सकते, क्योंकि उनके मतानुसार आदम और ईव (हव्वा) के ईश्वर-वर्जित ज्ञानतरु-फल (कहीं सेव, तो कहीं गेहूँ) खाने के अपराध एवं तत्परिणामस्वरूप स्वर्ग से निष्कासन के कारण आदमी के जीवन का आरम्भ ही पाप से हुआ है। आदमी जन्म से ही अभिशप्त, पापी और नरकगामी है। केवल मूसा या ईसा या मुहम्मद (प्रत्येक धर्म में पृथक्-पृथक्) ही उसे नरक से उबार सकते हैं। यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों में एक-जैसी मान्य यह आदम-कथा[270] ही अंग्रेजी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य 'पैराडाइज़ लॉस्ट' की प्रेरक-शक्ति है, जिसमें आदमी की प्रथम अवज्ञा एवं वर्जित तरु जिसका आस्वाद संसार में मृत्यु लाया एवं सारे कष्टों का कारण बना[271] इत्यादि ही प्रमुख वर्ण्यविषय हैं। इन धर्मों का आधार भय है। आदम की ईश्वर-अवज्ञा के परिणामस्वरूप स्वर्ग-च्युत आदमी को नरक का भीषण भय दिखाकर अपने-अपने पैगम्बर द्वारा मुक्ति का लोभ ही इनका प्रधान आकर्षण है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस भय और इस लोभ के कारण इन धर्मों ने असंख्य पापी या कुण्ठित या विकृत या लोभी व्यक्तियों को प्रेरित और प्रभावित भी किया है।

तुलसी का मानवगरिमामण्डन शाश्वत भारतीय अध्यात्मवाद और आशावाद का पावन प्रतिफलन है। तुलसी के आशावाद ने कोटि-कोटि भारतवासियों को सुख, उल्लास और आनंद प्रदान किया है।

---

269. सूरसागर 88/1-4
270. द होली बाइबल, जिनेसिस 2/1-19
271. पैराडाइज लॉस्ट 1/1-3

50. भक्ति की युगानुकूलता

कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ ।।
श्रुतिसंमत हरिभक्तिपथ, संजुत-बिरति-बिबेक।
तेहि न चलहिं नर मोहबस, कल्पहिं पंथ अनेक ।।
कृतजुग, त्रेता, द्वापर पूजा, मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि-नाम ते पावहिं लोग ।।[272]

तुलसीदास ने अतीव सजग बौद्धिकता के सहयोग से ही परम भावमय भक्ति का प्रतिपादन किया है। बुद्धिहीन भावुकता कोरी कल्पना है। भावहीन बौद्धिकता कोरा तर्कव्यभिचार है। संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकवि (वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, होमर, वर्जिल, दांते, शेक्सपीयर, फिरदौसी) हों या सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक (पतंजलि, बादरायण, शंकराचार्य, प्लेटो, अरस्तू, कांट) सभी ने बुद्धि और भाव पक्षों को अन्योन्याश्रित रूप में ही प्रस्तुत किया है। इसीलिए, उनको चिरकालिक महत्व प्राप्त हो सका है। कोरी भाव की चकपका-हट या कोरी बुद्धि की विडम्बना अल्पकालिक महत्त्व ही प्राप्त कर पाती है, क्योंकि वह एकांगी होती है। बुद्धि और भाव का अर्द्ध नारीश्वर स्वरूप ही महादेव का समग्र स्वरूप है।

तुलसी ने अत्यन्त सतर्कतापूर्वक ज्ञान, योग और कर्म का स्थान-स्थान पर सम्मान करते हुए भी सम्पूर्ण तन्मयता के साथ भक्ति का प्रतिपादन किया है, क्योंकि वही युग (कलि) के अनुकूल साधन है। ज्ञान (अध्यास, विकार, विवर्त इत्यादि से मुक्त शुद्ध अहंब्रह्मास्मि अथवा तत्त्वमसि अथवा सर्वंखल्विदंब्रह्म का सहजानुभव) कामुकतामूलक जनसंकुलता से श्लथ, न्यस्तस्वार्थातिरेकजन्य विभाजन से विशृंखल एवं आवश्यकतावृद्धिपरक प्रदर्शन से आडम्बरबद्ध मानव के हेतु असम्भवप्राय है। योग (परमात्मसंपृक्तता —"संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनो:"—अथवा चित्तनिरुद्धता—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:"—अथवा स्वसम्पूर्णता का जीवनयापन) एकांतविहीन, अनुशासनहीन एवं कृत्रिम-जीवनयापनकर्ता मानव के हेतु असम्भवप्राय है। कर्म (फलासंगशून्यता—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"—अथवा समत्वजीविता—"सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ"—अथवा स्वार्थविस्मृति का अकृत्रिम निर्वाह) शोषण, संघर्ष एवं महत्त्वाकांक्षा से ग्रस्त मानव के हेतु कठिनतम है। भक्ति

272. रामचरितमानस 7/97 क, 100 ख, 102 ख

(आराध्य के प्रति दास्य या सख्य या माधुर्य या वात्सल्य या शांत भाव से सम्पूर्ण समर्पण अथवा अनुराग अथवा लय—"सा परानुरक्तिरीश्वरे") अपेक्षाकृत सुगम है। संगीत, नृत्य इत्यादि से सम्पन्न होने के कारण भक्ति आकर्षक भी है।

युग के न्यस्तस्वार्थ, दम्भ इत्यादि ने समग्र धर्मों को ग्रस लिया है। उनमें ग्रहण लगा देखकर पाखंडियों ने अपने चेले-चाटियों की सहायता से अपने-अपने कल्पित महान् रूप खड़े कराके, अपनी पूजा कराने के मोह से ग्रस्त होकर, नए-नए उपधर्म, पंथ इत्यादि चला दिए हैं, जिनके कारण एक अखंड मानवता विशृंखलित और खंडित हो रही है। अपने को ज्ञानी या योगी या कर्मी मानने वाले अनेक अल्पज्ञ भक्ति को अवैदिक अथवा वैराग्यरहित अथवा ज्ञानरहित कहकर अहंकारमूलक विचारों का प्रचार कर रहे हैं, जिससे उनको नाम या दाम या दोनों प्राप्त हो सकें। सद्ग्रंथ या तो लुप्त हो गए हैं या विकृत कर दिए गए हैं या प्रक्षिप्तांशग्रस्त रूपों में प्राप्त होते हैं। स्पष्ट है कि तुलसी अनेक धर्मों एवं धर्मग्रंथों की स्थितियों से अवगत थे। पुरातन युगों के पूजा, यज्ञ और योग इत्यादि से जो परम गति प्राप्त होती थी, वह युग की विषमता के कारण भक्ति से प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि भक्ति का स्वरूप ज्ञान-योग-कर्म-संपृक्त भी है और अपेक्षाकृत सुगम भी। तुलसी ने जो विचार प्रकट किए हैं, वे आज उनके समय से भी अधिक सत्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि वास्तविक अथवा तथाकथित लोकतन्त्र के कारण अब अपनी-अपनी ढपलियों पर अपने-अपने रागों का जोर बहुत बढ़ गया है और दर्जनों 'भगवान', 'अवतार', 'गुरु' इत्यादि दनानन अपने 'रूहानी कारखाने' खोलकर नाम-दाम-काम बनाने पर बेतरह पिल पड़े हैं। रामचरितमानस में ही नहीं, कवितावली और दोहावली में भी, उन्होंने कलिवर्णन के माध्यम से युगीन दुर्बलताओं पर प्रहार करके अपने विराट् अनुभव एवं कवि-दायित्व का प्रशस्य परिचय दिया है। धर्म बहुत हो चुके हैं। अब मानव को धर्म की अपेक्षा कर्म की अधिक आवश्यकता है। भक्ति का विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार तुलसी द्वारा प्रतिपादित तत्त्वचिंतन की समीचीनता का प्रमाण है। सम्प्रति अनेक तथाकथित 'भगवानों', 'योगियों' और 'गुरुओं' को भी भक्ति के कीर्तन, नर्तन इत्यादि की शरण लेनी पड़ रही है। इससे भी तुलसी के प्रतिपाद्य की सत्यता सिद्ध होती है।

तुलसी ने तथाकथित ब्रह्मज्ञानियों की खिल्ली उड़ाई है, क्योंकि इन्होंने मनुष्य को जोड़ा कम और तोड़ा अधिक है। तुलसी एक प्रगतिशील चिंतक थे। वे अतीत के मर्मी, वर्तमान के ज्ञाता और भविष्य के द्रष्टा थे। तभी तो वे अपने युग में ही पूजे जाने लगे थे। तभी तो उनकी पूजा के आयाम लगातार बढ़े ही हैं।

कथावाचक श्री रामकिंकर उपाध्याय के शब्दों में, "वस्तुतः यह एक मनो-

वैज्ञानिक सत्य है। साधक के समक्ष लक्ष्य और सिद्धि का एक कल्पित चित्र होता है और इस आनंद की कल्पना में ही वह वर्तमान सुख का परित्याग कर देता है। पर जब कुछ दिनों के प्रयास के बाद भी कल्पित लक्ष्य उसके समक्ष नहीं दिखाई देता है और उपलब्ध विषयों से भी जब स्वयं को वंचित पाता है, तब उसका धैर्य छूट जाता है और तब वह उन्हीं विषयों को पाने के लिए व्यग्र हो जाता है, जिनका कभी वह परित्याग कर चुका था। पर उसे प्रत्यक्ष रूप से पुनः ग्रहण करने में लोकनिंदा और उपहास का भय सताता है, और तब वह विषय-सेवन के लिए कपट और दम्भ का भी आश्रय लेता है। अनगिनत सिद्ध कहे जाने वाले साधक इसी दम्भ का आश्रय लेकर स्वयं को पतन के गर्त में डाल देते हैं। गोस्वामीजी की दृष्टि में भक्तिपथ का साधक इन समस्याओं से मुक्त रहता है।"[273]

यदि तथाकथित साधक या सिद्ध स्वयं पतित होते हैं, तो यह उतना चिंत्य नहीं, जितना उनके द्वारा समाज के असंख्य व्यक्तियों को पतित करना है। ऐसे पाखंडियों के कारण ही धर्म परिहास का विषय बनता जा रहा है और साम्यवाद इत्यादि उस पर प्रहार कर रहे हैं। भक्ति में न ब्रह्मचर्य अनिवार्य है, न यातनामय यम-नियम, न विशिष्ट परिधान, न गुरुडम। अतएव, उसमें पतन का भय अपेक्षाकृत अल्प है। भक्त भी पाखंडी हो सकते हैं, होते हैं। तुलसी ने उनकी खिल्ली भी उड़ाई है। उनके कलिवर्णन में इसे देखा जा सकता है। किंतु अनुराग-प्रवण होने के कारण भक्ति में अहं एवं दम्भ के लिए अवकाश अपेक्षाकृत अल्प ही रहता है।

तुलसी की भक्ति विरति-विवेक से संयुक्त एक समग्र जीवन-दर्शन है, एकांगी साधना-विधि मात्र नहीं। डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र के शब्दों में, "सच्ची भक्ति के लिए जिस प्रकार वैराग्य एक प्रधान अंग है उसी प्रकार विवेक भी। सब कुछ इष्टदेव का समझना और सब में इष्टदेव ही को देखना यही विवेक का प्रधान लक्षण है। जिस भक्त में ऐसा विवेक हुआ वही स्वयं तर कर दूसरों को तार सकता है और उसी से लोक का वास्तविक कल्याण होता है। ऐसा भक्त भगवान् का प्रत्यक्ष रूप है और कई दृष्टियों से वह भगवान् से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। आचार्य लोगों ने न केवल यही कहा है कि 'भक्ति, भक्त भगवंत गुरु चतुरनाम बपु एक' (नाभादास), वरन् उन्होंने यह भी कहा है कि 'मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा।। (तुलसीदास)।"[274]

---

273. मानस-मुक्तावली (भाग 4), 57/319

274. तुलसी-दर्शन, भारतीय भक्तिमार्ग, पृष्ठ 73-74

तुलसी भक्ति को श्रुतिसम्मत मानते हैं। डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र,[275] डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'[276] इत्यादि विद्वानों ने भक्ति की श्रुतिमूलकता प्रतिपादित और सिद्ध की है। वस्तुतः भक्ति एक शाश्वत मानवीय प्रवृत्ति है। मध्यकाल में उसे एक विशेष परिस्थिति प्राप्त हो गई थी,[277] किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मध्यकालीन भक्ति तत्कालीन परिस्थितियों-की अभिव्यक्ति मात्र है।[278] तुलसी में सहज एवं मनोवैज्ञानिक भक्तिभाव की प्राचीनता से समग्रसार ग्रहण करते हुए, उसको एक सम्पूर्ण भाव, एक सम्पूर्ण दर्शन का स्वरूप प्रदान किया—ऐसा सम्पूर्ण स्वरूप, जो चिर एवं युग का सेतु बन सका। उनकी यह महती उपलब्धि उन्हें एक महान् दार्शनिक का गौरव भी प्रदान करती है।

51. भक्ति का अविरोधवाद

क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अग्यान।
मायाबस, परिछिन्न, जड़ जीव कि ईस समान॥
उमा, जे रामचरनरत, बिगत-मान-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध॥[279]

ज्ञानी लोमश ने पूर्वजन्म के द्विजरूप काकभुशुंडि को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया—वही पारम्परिक तत्त्वमसिवाद पर आधृत "रूपरेखगुनजातिजुगुति" रहित निर्गुण-निराकार का प्रतिपादन! श्रोता सगुण-साकार में रसा था। उसे तृप्ति नहीं प्राप्त हुई। गुरु का अर्थ है, महान्। एक अन्य अर्थ है, अज्ञान-तम का नाश करने वाला। आदर्श गुरु वह हैं, जो शिष्य की शिष्यता समाप्त करके, उसे स्वयं गुरु बना दे। महान् गुरु शिष्य की ग्रहणशक्ति के अनुरूप मंत्र या उपदेश देता है। आधुनिक भारत के एक महान् सिद्धयोगी नित्यानंद शिष्य का सम्यक् परीक्षण करने के अनंतर, उसकी अभिरुचि एवं शक्ति के अनुरूप-अनुकल मंत्र देते थे, एक मंत्र की लाठी से सबको न हाँकते थे; ऐसा उनके विश्व-

---

275. तुलसी-दर्शन, भारतीय भक्तिमार्ग, पृष्ठ 42-43
276. 'भक्ति का विकास' शीर्षक महान् प्रबंध में। 'सूर-सौरभ' में भी।
277 हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 56
278. हिंदी साहित्य, पृष्ठ 88-89; हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 38-39
279. रामचरितमानस 7/111 ख, 112 ख

विख्यात शिष्य परमयोगी स्वामी मुक्तानंद परमहंस ने बारम्बार स्पष्ट किया है।[280] श्रोता-शिष्य के अपरितोष से वक्ता-गुरु लोमश क्रुद्ध हो उठे और द्विज को काक होने का शाप दे दिया। शिष्य ने शाप को शिरसा स्वीकार कर लिया : उसके अन्तःकरण में निर्गुण-निराकार के स्थान पर सगुण-साकार, ज्ञान के स्थान पर भक्ति तथा योग के स्थान पर प्रेम के सहज संस्कार अधिक शक्तिशाली हो गए, क्योंकि अन्ततोगत्वा मायाप्रेरित गुरु का हृदय-परिवर्तन हो गया और उन्होंने उसे भक्ति का उपदेश दिया। काकभुशुंडि-लोमश-प्रकरण तुलसी का भ्रमरगीत है, जिसमें अविचल आस्था के समक्ष प्रचंड ज्ञान पराभूत हो जाता है। रामचरितमानस में लोमश की वही स्थिति होती है, जो सूरसागर (भ्रमरगीत) भँवरगीत, उद्धवशतक इत्यादि में उद्धव की हुई है।

यदि ज्ञानी को क्रोध आता है, और वह भी बिना पर्याप्त कारण के, स्वमत-प्रतिष्ठापन के हठ से, तो वह ज्ञान के चरम प्रतिपाद्य अद्वैतवाद अथवा सर्ववाद से ही च्युत हो जाता है। तत्त्वमसिवादी अथवा सर्वंखल्विदंब्रह्मवादी क्रोध करेगा, तो किस पर ? ब्रह्म पर ? साधना के विराम पर ? परमतत्त्व पर ? सिद्धि के लक्ष्य पर ? अतः, क्रोध द्वैतबुद्धि का परिणाम है, ज्ञानविहीन है। क्रोधी ज्ञानी नहीं हो सकता। क्रोध माया का वाहन है। अतः, क्रोधी का जीव मायाभिभूत सिद्ध होता है। वह अध्यास इत्यादि से आच्छन्न है। वह सच्चिदानंद से दूर है, जड़ है। तब, वह ब्रह्म अथवा ब्रह्मवत् कैसे हो सकता है ? उसका अहंब्रह्मास्मि-वाद चिद्विलासमूलक न होकर, वाग्विलासमूलक है। उसके विपरीत, जो सच्चा भक्त है, वह प्रभुमय जगत् में किसी से विरोध नहीं कर सकता। अविरोधवाद भक्ति का प्राणतत्त्व है। उदार भक्तप्रवर तुलसी ने स्वयं किसी सिद्धांत-विशेष का कठोर विरोध न करके इसे सिद्ध भी कर दिया है। वैसे भी, ज्ञान, योग और कर्म में ज्ञानीपन, योगीपन और कर्मीपन का अहंवाद मिटा पाना अतीव दुष्कर है; जबकि भक्ति में भक्तिपन हो भी, तो विशेष अहंमय नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें प्रधानता आराध्य की रहती है। दास्यभाव की भक्ति का तो मूलोद्देश्य ही अहं का नाश रहा है। इसीलिए, तुलसी को तू बाभन, मैं कासी का जुलहा, बूझौ मोर गियाना" की सी कुंठामूलक अहंवादी ललकार से कोई सरोकार नहीं रहा। पता नहीं, कौन-सा ब्राह्मण कबीर से ज्ञान-प्रतियोगिता करने गया था ! वे सर्वेंटीज के 'डॉन क्विक्जोट' (डॉन के ऑटे) की तरह पनचक्की को योद्धा समझकर उससे जबर्दस्ती भिड़ते ही दिखाई देते हैं ! एक ओर वे स्वयं को पूर्वजन्म का ब्राह्मण कहकर गर्वित-आनंदित होते हैं, दूसरी ओर बिना कारण के ही उससे भिड़ंत करने को लपकते दीखते हैं—यद्यपि वह सामने या आगे-

---

280. 'भगवान् नित्यानंद', 'परमार्थप्रकाश', 'चित्शक्तिविलास' इत्यादि में।

पीछे कहीं है ही नहीं ! इसे 'प्रेत का आखेट' (विच-हंटिंग) ही कहा जा सकता है। कबीर को साहित्य का डान क्विक्जोट कहा जा सकता है। इसलिए, कोटि-कोटि जनता ने "अ-र-र-र कबीर !" के परिहास के साथ उन्हें जोड़ दिया है—वे जो कहें, सब माफ, क्योंकि वे कुछ भी कह सकते हैं ! जनता में प्रचलित 'हजरत', 'खलीफा' 'उस्ताद', 'गुरु', 'पोपलीला' इत्यादि शब्द कितने सार्थक हैं ! जनता सर्वोपरि आलोचक है।

तुलसी तत्त्वतः अद्वैतवादी हैं। वे समग्र जगत् को ईसावास समझते हुए, जड़-चेतन, स्वेदज-अण्डम-उद्भिज्ज-जरायुज प्राणियों, सबकी वंदना करते हैं—

जड़-चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
बंदउँ सबके पदकमल सदा जोरि जुग पानि ॥
देव, दनुज, नर, नाग, खग, प्रेत, पितर गंधर्ब।
बंदउँ किन्नर, रजनिचर, कृपा करहु अब सर्ब ॥
आकर चारि, लाख चौरासी। जाति, जीइ जल-थल-नभ बासी ॥
सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥[281]

तुलसी अद्वैतवादी साधना की चरम सिद्धि कैवल्य (केवलता, एकपन—अखंडता, अभेदता) को अतिदुर्लभ परमपद मानते हैं तथा बारम्बार उसकी सर्वोच्चता का उल्लेख करते हैं—

जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य-परमपद लहई ॥
अतिदुर्लभ कैवल्य परमपद। संत, पुरान, निगम, आगम बद ॥[282]

विनयपत्रिका में तुलसी समग्रतः अद्वैतवादी हैं। वस्तुपरक महाकाव्य रामचरितमानस में कहीं अर्थवाद के आग्रह से, तो कहीं दास्यभाव की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से, वे व्यवहारतः यत्र-तत्र विशिष्टाद्वैतवाद तथा द्वैतवाद का भी सम्मान करते प्रतीत होते हैं, किंतु आत्मपरक गीतिकाव्य विनयपत्रिका में उन्होंने अपने अद्वैतवादी होने को स्पष्टतः व्यक्त कर दिया है। कुछ उदाहरण भी पर्याप्त प्रतीत होंगे—

द्वैतरूप-तमकूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारी।[283]

---

281. रामचरितमानस 1/7 ग-7 घ, 1-2
282. रामचरितमानस 7/118/2-3
283. विनयपत्रिका 113/8

जौं निज मन परिहरै बिकारा ।
तौ कत द्वैतजनित संसृतिदुख, संसय, सोक अपारा ।।[284]
सेवत साधु द्वैतमय भागे ।
श्रीरघुबीरचरन लय लागे ।।[285]

निस्संदेह तुलसीदास अद्वैतवादी हैं किंतु, सबसे पहले समन्वयवादी होने के कारण वे उदार अद्वैतवादी हैं, कट्टर अद्वैतवादी नहीं, क्योंकि उपास्य-उपासक पर आधृत भक्ति के सीमांत का कट्टर अद्वैतवादी होना कठिन है। जहाँ वे व्यक्तिगत भाव अथवा विचार व्यक्त करते हैं, वहाँ अद्वैतवादी होने की स्पष्ट सूचना देते हैं। किंतु जहाँ अहंवाद के ह्रास का, पात्र के माध्यम से प्रयास करते हैं, वहाँ विशिष्टाद्वैतवाद ही नहीं, वरन्, यत्र-तत्र, द्वैतवाद की व्यावहारिक उपादेयता का सम्मान भी करते दृष्टिगोचर होते हैं। सैद्धांतिकता एवं व्यावहारिकता दोनों के सम्मान की उदारता के मूल में उनके संस्कार विद्यमान हो सकते हैं। प्रसिद्ध है कि वे शेष सनातन के शिष्य और मधुसूदन सरस्वती के मित्र थे। अतएव उन पर शास्त्रज्ञानजन्य अद्वैतवाद का प्रभाव संस्कारसम्पन्न था। प्रसिद्ध है कि वे आरम्भ में रामानुजाचार्य के श्रीसम्प्रदाय के अनुयायी नरहरिदास अथवा नरहरदास अथवा नरहर्यानंद द्वारा पाले पोसे गए थे, उनके भी शिष्य थे। उनका स्मार्त वैष्णव होना प्रायः सर्वविज्ञात है ही। अतएव, उन पर विशिष्टद्वैतवाद का प्रभाव भी संस्कारसम्पन्न था। तुलसी का विराट् जीवन ही उनके विराटवादी जीवन-दर्शन एवं विराटवादी काव्य-सृजन का प्रधान प्रेरकतत्त्व रहा था। उनकी उदारता और समन्वय-साधना सर्वथा साधार और सकारण थीं। वे सर्वथा सुचिंतित और सुनियोजित थीं, आकस्मिक और प्रासंगिक नहीं। अपनी असाधारण प्रतिभा के सहयोग से उन्होंने अपने जीवनगत विराटवाद को समन्वयवाद[286] का अतीव उपयोगी और प्रेरक स्वरूप प्रदान किया तथा मध्यकाल के सर्वश्रेष्ठ मानव, कवि एवं जननायक बनने में समर्थ हुए। शंकराचार्य (788-820 ई०) के अनंतर, तुलसीदास ही गत सहस्राब्दि तथा अब तक के सर्वश्रेष्ठ भारतीय जनमानस नेता हुए हैं।

52· भक्ति की विलक्षणता

भगतिहि-ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भवसंभव खेदा।।
नाथ, मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सोउ सुनु बिहंगबर।।

284. विनयपत्रिका 124/1-2
285. विनयपत्रिका 136/11/1
286. विशेष द्रष्टव्य, व्योहार राजेन्द्रसिंह कृत 'गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना' (भाग 1-2)

ग्यान, बिराग, जोग, बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहुँ हरिजाना॥···
मोह न नारि नारि कें रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥
माया-भगति सुनहु तम्ह दोऊ। नारिबर्ग जानइ सब कोई॥···
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥[287]

उदार एवं समन्वयवादी तुलसी कहीं संकीर्ण एवं कट्टरतावादी नहीं हैं। वे अणु-अणु, परमाणु-परमाणु में भक्त हैं, किंतु ज्ञान, योग एवं कर्म के प्रति पूर्वाग्रह-ग्रस्त नहीं। उनकी प्रतिभा स्वीकरण की प्रतिभा है, मण्डन की प्रतिभा है। वे 'ही' वादी नहीं, 'भी' वादी हैं। वे नकारात्मकता से मुक्त हैं। वे खण्डन में अधिक रुचि नहीं रखते। वे जीवन की बाह्य भिन्नता में आभ्यंतर एकता के द्रष्टा हैं। जिस प्रकार वे निर्गुण-निराकार एवं सगुण-साकार में कोई मूलभूत अंतर नहीं मानते, उसी प्रकार ज्ञान-योग एवं भक्ति-प्रेम में भी। यथास्थान उन्होंने कर्म का मण्डन भी किया है। अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष का ऐक्य तो उनके राम में साकार ही हो गया है। तुलसी का विराटतम स्वीकरण, व्यास के विराटतम स्वीकरण के साथ-साथ, संसार-साहित्य में सर्वथा अतुलनीय है। इसीलिए, वे सारी सुविज्ञ मानवता की श्रद्धा प्राप्त कर सके हैं।

भक्ति और ज्ञान में कोई मूलभूत अंतर नहीं है, क्योंकि दोनों का उद्देश्य मानव को सांसारिक क्लेशों से मुक्त करना है। किंतु ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग पुल्लिंगवाची हैं, पुरुषधर्मी हैं। प्रत्येक शब्द की अपनी विशिष्ट आत्मा होती है, प्रत्येक शब्द का अपना विशिष्ट अर्थ होता है। अतएव, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग पौरुषमय हैं, अहंध्वनियुक्त हैं, क्योंकि परुष पुरुष अधिकारवादी होता है, महत्त्वाकांक्षी होता है। उधर, भक्ति स्त्रीलिंगवाची है। अतएव, भक्ति कोमल है, समर्पणशीला है, सेवामयी है। यदि ज्ञान कबीर है, तो भक्ति मीराँ। यदि योग गोरखनाथ है, तो अनुरक्ति राधा। इसके अतिरिक्त, माया भी स्त्रीलिंगवाची है। स्त्री पुरुष को सहज ही मोहित कर सकती है। यह प्रकृति का अटल नियम है। अतएव, नारी-रूपा माया पुरुष-रूप ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग को तो मोहित कर सकती है, समरूपा भक्ति को नहीं। ज्ञान इत्यादि को देख माया अपने हावभाव द्वारा उन्हें मुग्ध कर सकती है, किंतु भक्ति को देखकर वह सकुचा जाती है— ठीक वैसे ही जैसे किसी ऋषिका के समक्ष कोई प्रमदा। तुलसी ने यहाँ अतीव मनोहर और, साथ ही, अतीव सार्थक कल्पना की है, जो मौलिक भी है। भक्ति को नारीवर्गीय बताकर तुलसी ने नारी के उज्ज्वल रूप के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। खेद है कि पूर्वाग्रह के कारण उन्हें नारीनिन्दक कहनेवाले आलोचकों में से किसी का भी ध्यान इस ओर नहीं गया। कामुक और विलासी न होने के कारण,

287. रामचरितमानस 7/114/13-15; 115/2-3, 7

तुलसी नारी के प्रमदा, कामिनी, बामा, अबला इत्यादि रूपों के प्रत्यालोचक अवश्य हैं, किंतु वे उसके शक्ति, श्रेयस्करी, जननी, त्यागिनी इत्यादि रूपों के प्रशंसक भी हैं, जैसाकि उनके सीता, कौशल्या, सुमित्रा, मंदोदरी इत्यादि के प्रति व्यक्त उद्‌गारों से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है ।

तुलसी का ज्ञान, योग इत्यादि से कोई वैर-विरोध नहीं है । वे केवल उन्हें भक्तिसंयुक्त देखना चाहते हैं । इसीलिए, उनके परमर्षि याज्ञवल्क्य भक्त हैं, परम-योगी शिव भक्त हैं । तुलसी साधक में नारीरूपा भक्ति के साथ संपृक्त नररूप ज्ञान या योग के विरोधी नहीं हैं । मैथिलीशरण के लक्ष्मण कहते हैं—

> नारी के जिस भव्य भाव का साभिमान भाषी हूँ मैं,
> उसे नरों में भी पाने का उत्सुक अभिलाषी हूँ मैं ।[288]

कथावाचक श्री रामकिंकर उपाध्याय के शब्दों में, "ज्ञान के साधक में जहाँ पुरुषार्थ के सदुपयोग की वृत्ति होती है, वहाँ भक्त स्वयं में असामर्थ्य की अनुभूति के कारण कृपा का ही आश्रय ग्रहण करता है ।"[289] प्रपत्ति अहंमुक्त होती है । पुष्टि त्वंयुक्त होती है । प्रपत्तिवाद मदीयता का नहीं, त्वदीयता का दर्शन है । पुष्टिवाद अहं का नहीं, त्वं का दर्शन है । भक्ति जगत् को नकारती नहीं, सकारती है । इसलिए, उसे जगत् का विशेष भय नहीं रहता । भक्ति प्रकृत्या एकनिष्ठ होती है—नारी के सदृश । प्रेमचंद के शब्दों में, "पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं, तो वह महात्मा बन जाता है । नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं, तो वह कुलटा हो जाती है ।"[290] तुलसी का नारी को भक्ति कहना प्रसाद के नारी को श्रद्धा कहने का स्मरण करा देता है—

> नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
> विश्वास रजत नग पगतल में,
> पीयूष स्रोत सी बहा करो
> जीवन के सुंदर समतल में ।[291]

तत्त्वतः तुलसी का ज्ञान पर भक्ति को वरीयता प्रदान करने का दर्शन प्रसाद के बुद्धिपक्ष पर हृदयपक्ष को वरीयता प्रदान करने के दर्शन से भिन्न नहीं है । प्रसाद निश्चित रूप से तुलसी के भक्ति दर्शन एवं सूर के भ्रमरगीतदर्शन से प्रभा-

---

288. पंचवटी 59/1-2
289. मानस-मुक्तावली (भाग 4) 59/334
290. गोदान 13/150
291. कामायनी 6/45

वित हैं, यद्यपि उन्होंने इस प्रभाव को नूतन आयामों (मनोविज्ञान, कामवाद, आनंदवाद) तक प्रसरित किया है, एक मौलिकता से निष्पन्न किया है। वे भाव-वादी हिंदी-संस्कृति के उन्नायक भी हैं, संवाहक भी।

पुरुष-स्वरूप ज्ञान, योग, कर्म से सर्वथा विलक्षण नारी-स्वरूपा भक्ति-भक्त में समर्पण, त्याग, नम्रता इत्यादि गुणों का समावेश कर देती है। राम और कृष्ण से संबंधित सखी सम्प्रदायों के संव्यूहन का मूल उद्देश्य पुरुष की परुषता का शमन ही रहा है।

कथावाचक श्री रामकिंकर उपाध्याय के शब्दों में, "ज्ञान, वैराग्य और योग के मार्ग में बहुधा संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया जाता है। किंतु यह मिथ्यात्व का ज्ञान उसे बहुत दिनों तक रोके नहीं रख सकता है। इसलिए पौरा-णिक गाथाओं में अनेकों ऐसे मुनियों के दृष्टांत सामने आते हैं, जो प्रारम्भ में त्याग और वैराग्य का जीवन व्यतीत करने के बाद भौतिक सुख के लिए लालायित हो उठे हों। काकभुशुंडिजी की दृष्टि में भक्त के समक्ष ऐसी समस्या नहीं आनी चाहिए। सृष्टि के मिथ्यात्व और त्याग-वैराग्य को वह एक सीमा तक ही महत्त्व देता है। उसकी दृष्टि में ईश्वर को पाने के लिए गृहत्याग की कोई आवश्यकता नहीं है। उसका जीवन निषेध के स्थान पर विधि से सम्बद्ध है। उसके लिए सांसारिकता सौंदर्य के मिथ्यात्व की तुलना में भगवान् का नित्य सौंदर्य विद्यमान है। इसलिए मायिक सौंदर्य उसे अपनी चमक-दमक से ललचाने में असमर्थ है। माया के पास आकर्षण की जो वस्तुएँ हैं, भक्त के पास वे पहले से ही विद्यमान हैं। इसलिए माया उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाती।"[292]

53. ज्ञान-दीप

जड़-चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा, छूटत कठिनई॥···
जीव-हृदयँ तम-मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी॥···
सात्त्विक-श्रद्धा-धेनु सुहाई। जौं हरिकृपाँ हृदयँ बस आई॥···
परमधर्ममय-पय दुहि भाई। अवटै अनल-अकाम बनाई॥···
मुदिता मथै बिचार मथानी। दम अधार, रजु सत्य-सुबानी॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग-सुपुनीता॥

292. मानस-मुक्तावली (भाग 4) 57/320-21

जोग-अगिनि करि प्रगट तब, कर्म-सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान-घृत, ममता-मल जरि जाइ ॥
तब बिग्यानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त-दिया भरि धरै दृढ़, समता-दिअटि बनाइ ॥
तीनि अवस्था, तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल-तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि ॥···
'सोहमस्मि' इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा ॥···
तब सोइ बुद्धि पाय उँजियारा। उर-गृहँ बैठि ग्रंथि निरुआरा ॥
छोरन ग्रंथि पाव जौं कोई। तब यह जीव कृतारथ होई ॥[293]

तुलसी का ज्ञानदीप-रूपक उनके महर्षि-महाकवि उभय-रूपों का परमोत्कृष्ट प्रतीक है। वे स्वीकार करते हैं कि ज्ञान द्वारा भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, कैवल्य प्राप्त किया जा सकता है। जीव ईश्वरांश है। अतएव, स्वभावतः अविनाशी, चेतन, अमल एवं सहजानंदराशि है। किंतु माया के वश में होकर वह नलिनी के शुक एवं संकीर्णमुखपात्र के वानर के सदृश स्वमेव बद्ध हो गया है। नलिनी का शुक, उलटने पर, अपने पंजों को छोड़ दे, तो उड़ सकता है, मुक्त-का-मुक्त बना रह सकता है। किंतु वह पंजों को जकड़े रहता है। सुराही में रखे लड्डू को छोड़ने पर वानर अनायास मुक्त-का-मुक्त बना रह सकता है। किंतु वह लड्डू से बँधा रहता है। अतएव, जीव स्वयं बद्ध रहता है। वह स्वयमेव माया का क्रीड़ा-कंदुक बना रहता है। इसका कारण चित् (ब्रह्मांश) जीव और जड़ (माया) की ग्रंथि है। चिज्जड़ग्रंथि जीव का सहज चेतन स्वरूप विवृत नहीं होने देती। तम के परिवेश में ग्रंथि खोलने के हेतु प्रकाश की अपरिहार्य अपेक्षा रहती है। यह प्रकाश ज्ञान-दीप प्रदान कर सकता है। इस दीपक का प्रावधान प्रस्तुत है। सात्त्विक श्रद्धा की गौ ज्ञानदीप का प्रथम तत्त्व है। राजसिक एवं तामसिक श्रद्धाएं यहाँ व्यर्थ हैं।[294] श्रद्धा का शब्दार्थ है—श्रत् अर्थात् ऋत् अर्थात् सत्य की ओर जानेवाली और ले जानेवाली शक्ति। इसलिए, मार्कण्डेयपुराण (दुर्गा-सप्तशती मार्कण्डेयपुराण की गीता है) में द्रष्टा ऋषि इस शक्ति को बारम्बार नमस्कार करता है—"या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धा रूपेण संस्थिता।" श्रद्धा वह शक्ति है, जो सत्य अथवा ब्रह्म अथवा ज्ञान की प्राप्ति कराती है—"श्रद्धावांल्लभते

---

293. रामचरितमानस 7/116/4, 7, 9, 13, 15-16; 117 क-ख-ग; 117 घ/1, 4-5

294. देखिए, 'श्रीमद्भगवत्गीता' का 'श्रद्धात्रयविभागयोग' शीर्षक सप्तदश अध्याय।

ज्ञानम् ।" इसे ध्यान में रखकर, तुलसी का ज्ञानदीप के संदर्भ में श्रद्धा को प्रथम तत्त्व के रूप में प्रस्तुत करना सर्वथा समीचीन है। "यो यच्छ्रद्धः स एव सः" को ध्यान में रखकर तुलसी का कैवल्य के लक्ष्य के प्रतिपाद्य ज्ञानदीप के संदर्भ में श्रद्धा को प्रथम तत्त्व के रूप में प्रस्तुत करना नितांत युक्तियुक्त है—पुराणसम्मत है, गीतासम्मत है। प्रकाश-प्राप्ति की सुदीर्घ प्रक्रिया के एक-एक बिंदु को तुलसी ने इतनी युक्ति, इतने कौशल एवं इतने विवेक के साथ प्रस्तुत किया है कि सम्यक् अनुशीलन से प्राण पुलकित हो जाते हैं। अपने समग्र अवयवों की समग्र परिपूर्णता के कारण ज्ञानदीप-रूपक, मानस-रूपक के अनंतर, तुलसी का सर्वश्रेस्ठ रूपक बन गया है। रथ-रूपक तक इसके अनंतर आता है, क्योंकि इसकी रचना विशदतर है। ऋग्वेद में घृत को यज्ञ का चक्षु कहा गया है। घृत-निर्माण की भौतिक प्रक्रिया का आद्यंत सूक्ष्म-पर्यवेक्षणजन्य निर्वाह एवं उसकी आत्म-प्रकाश के उत्पादन-तत्त्व के साथ सम्पूर्ण संगति इतनी विलक्षण है कि ज्ञानदीप-रूपक संसार के आध्यात्मिक काव्य की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियों में एक बन गया है। इसकी रचना में तुलसीदास उपनिषद् के महर्षि प्रतीत होने लगते हैं।[295]

वस्तुतः ज्ञान, योग की ब्रह्मानंद प्राप्ति-प्रक्रिया अतीव जटिल है भी। अतः, तुलसी ने जटिल प्रक्रिया के अनुरूप सुदीर्घ रूपक-रचना की है, जिसमें वर्ण्य के साथ पूर्ण न्याय किया गया है। ज्ञानी अथवा वेदांती, योगी इत्यादि इस ज्ञानदीप-रूपक को पढ़कर गहन परितोष का अनुभव कर सकते हैं। तुलसी का ज्ञानदीप-रूपक उनकी मौलिक सृष्टि है। यों, अग्नि तथा दीपक का आध्यात्मिक निरूपण उपनिषद्, गीता, कबीर-वाणी इत्यादि में भी प्राप्त होता है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा, प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढ़वत्॥[296]

अपनी देह को अरणि (नीचे का काष्ठ) तथा प्रणव (ॐ) को ऊपर की अरणि करके, तथा ध्यान ही निर्मन्थन है, उस निर्मन्थन के अभ्यास से देव (ज्योतिस्वरूप परमात्मा) का साक्षात्कार किया जाए।

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं, ध्रुव, सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥[297]

---

295. 'तुलसीकृत रामायण में उपनिषद्' (शीला शर्मा) में एतद्विषयक निरूपण किया गया है।
296. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/14
297. वही, 2/15

जिस समय योगी दीप के समान प्रकाश-स्वरूप आत्मभाव से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है, उस समय अजन्मा, निश्चल और समस्त तत्त्वों से विशुद्ध देव को जानकर वह सम्पूर्ण बंधनों से मुक्त हो जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।[298]

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, उसी प्रकार की उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित की कही गई है।

दीपक पावक आँणिया, तेल भी आँण्या संग।
तीन्यूँ मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि-उड़ि पड़ै पतंग ।।[299]
प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुख कसतूरी महमहीं, बाँणी फूटी बास ।।[300]
जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाँहि।
सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि ।।[301]

साधनात्मक रहस्यवाद में दीपक एक प्रभावी प्रतीक के रूप में प्राप्त होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् एवं श्रीमद्भगवद्गीता प्रवृति आर्षग्रंथों तथा कबीर एवं तुलसी प्रभृति उत्कृष्ट कवियों की वाणी ने दीपक का एकरस सम्मान से प्रयोग किया है। काल्पनिक रहस्यवाद में भी दीपक का मनोहारी प्रयोग प्राप्त होता है। महादेवी दीप-कवयित्री हैं। कवयित्री के रूप में नीहार, रश्मि इत्यादि से दीपशिखा तक तो उन्होंने दीपक का भरपूर प्रतीकात्मक प्रयोग किया ही है, चित्रकरी के रूप में भी उन्होंने दीपक को सर्वाधिक प्रस्तुत किया है। साधनात्मक रहस्यवाद प्रेरक होता है, काल्पनिक रहस्यवाद भावविह्वलकारी। कल्पना में 'मैं' और 'मेरा' इत्यादि मायात्मक शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि वह 'स्व' के प्रतिष्ठापन में मूलबद्ध होती है। अतएव, सामान्य व्यक्ति काल्पनिक रहस्यवाद से अभिभूत हुए बिना नहीं रहता। ईषत्-साधनात्मक तथा ईषत्-काल्पनिक रहस्यवाद उभय रहस्यवादों के मध्य सेतु का कार्य सम्पादित करता है। कबीर का रहस्यवाद मुख्यतः एवं मूलतः साधनात्मक है। जायसी एवं

298. श्रीमद्भगवद्गीता 6/19
299. कबीर-ग्रंथावली 4/1
300. वही, 5/14
301. वही, 5/35

रवींद्र का रहस्यवाद ईषत्-साधनात्मक तथा ईषत्-काल्पनिक है। प्रसाद एवं महादेवी का रहस्यवाद मुख्यतः एवं मूलतः काल्पनिक है। यों तो, सारे रहस्यवादी अल्पाधिक दीपक-प्रयोग करते हैं, किंतु महादेवी, इस दिशा में, अग्रणी हैं—

चिंता क्या है, हे निर्मम!
बुझ जाए दीपक मेरा;
हो जाएगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा!![302]

यहाँ 'निर्मम' शब्द भौतिकता की सूचना अनायास ही दे देता है। उर्दू शायरी के सय्याद, जल्लाद जैसे रूढ़ प्रयोगों का स्मरण अनायास ही आ जाता है। गिला-शिक़वा की नोंक-झोंक बरबस कौंध जाती है। महादेवी का "पीड़ा का चसका"[303] तो प्रसिद्ध है ही।

प्रिय मेरा चिरदीप जिसे छू
जल उठता जीवन,
दीपक का आलोक शलभ
का भी इसमें क्रंदन![304]

यहाँ दीपक, शलभ इत्यादि का प्रयोग फारसी, उर्दू इत्यादि की कविता में भरी पड़ी शमा, परवाना इत्यादि की परिपाटी पर हुआ है, जो रहस्यवाद की स्थूलता की सूचना देता है। किंतु महादेवी का दीपक यत्र-तत्र, उनके संस्कृत की विदुषी होने के कारण, उपनिषद् इत्यादि की प्रेरणा से उच्च रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति भी करता है—

मधुर मधुर मेरे दीपक जल!
युग युग, प्रतिदिन, प्रतिक्षण, प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर।[305]

उपनिषद् से आधुनिक कविता तक दीपक पर जितना सृजन हुआ है, उसमें तुलसी के ज्ञानदीप का गहनता, दार्शनिकता एवं कलात्मकता के अतीव सम्पन्न त्रियोग के कारण सर्वोत्कृष्ट स्थान बन गया है। 'हिंदी का दीपक-काव्य' एक प्रबंध

302. नीहार 8/12
303. हिंदी साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल) पृष्ठ 665
304. सांध्यगीत 39/3
305. नीरजा 14/1

का विषय है, क्योंकि उसके आयाम प्रकाश-काव्य तक तो प्रसरित हैं ही, उसके विलोम अंधकार-काव्य तक भी देखे जा सकते हैं—'निशा-निमंत्रण' (बच्चन) और 'विभावरी' (नीरज) तक, 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' (मुक्तिबोध) की 'अँधेरे में' कविता और 'अंधा युग' (धर्मवीर भारती) तक। प्रकाश के कवि कबीर, तुलसी, महादेवी इत्यादि और अंधकार के कवि मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती इत्यादि एक-दूसरे के पूरक हैं।

कथावाचक श्री रामकिंकर उपाध्याय ने लगभग ठीक लिखा है, "ज्ञान-दीपक वस्तुतः बुद्धि के शोधन की प्रक्रिया है।"[306] 'लगभग' से अभिप्राय ज्ञानदीप के प्रज्ज्वलन की प्रक्रिया में प्रयुक्त भावतत्त्वों के भरपूर साहाय्य से है। तुलसी विचार और भाव में अनावश्यक भेद अथवा द्वैत स्थापित करने में रुचि नहीं रखते। ऐसा भेद-स्थापन वैज्ञानिक दृष्टि से निराधार होता। तुलसी अभेद के द्रष्टा हैं, भेद के नहीं। आधुनिक विचार-भाव-द्वैत से ज्ञात अथवा अर्द्धज्ञात रूप से प्रभावित होकर तुलसी के तत्त्व-चिंतन का विवेचन करना समीचीन नहीं माना जा सकता। तुलसी ने ज्ञानदीप की सृष्टि में ज्ञान के गौरव का पूरा ध्यान रखा है, उसका एकांगी निरूपण नहीं किया। श्री रामकिंकर उपाध्याय की रामचरितमानस की प्रतीकपरक व्याख्या कामायनी से अत्यधिक प्रभावित है। उसमें तुलसी के रूपक-प्रयोग को प्रतीक-प्रयोग बना दिया गया है। आज के प्रतीक की धूम के ज़माने में श्री रामकिंकर उपाध्याय भी बहती गंगा में हाथ धो रहे हैं। फिर भी, उन्होंने रामचरितमानस के अनुशीलन के एक नूतन आयाम का उद्घाटन किया है, इसमें संदेह नहीं।

54. भक्ति चिंतामणि

राम-भगति-चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़, जाके उर-अंतर ॥
परम-प्रकास-रूप दिन-राती। नहिं कछु चहिअ दिया-घृत-बाती ॥
मोह-दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ-बात नहिं ताहि बुझावा ॥
प्रबल अविद्या-तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ, समुदाई ॥[307]

ज्ञान-दीपक ज्ञान के सदृश गहन-गम्भीर है। सुदीर्घ-स्फीत है। भक्ति चिंता-मणि भक्ति के सदृश ऋजु-सरल है, लघु-संक्षिप्त है। चिन्तामणि शब्द में स्मरण-

306. मानस-मुक्तावली (भाग 4) 58/327
307. रामचरितमानस 7/119/2-5

चिन्तन अथवा जाप का श्लिष्ट प्रयोग अतीव स्तुत्य है। 'चिन्तामणि' शब्द 'ज्ञान' की विरोधिनी भी नहीं है। इस सांगरूपक के "उर-अंतर" में पुनरुक्तवदाभास एवं ज्ञानदीप पर भक्ति चिन्तामणि की सकारण ("दिन-राती" एवं "नहिं कछु चहिअ दिया-घृत-बाती") वरीयता में व्यतिरेक अलंकारों का प्रयोग भी बहुत ही गूढ़ है। रूपक सुंदर एवं अलंकृत है। भक्तिचिन्तामणि "नैंषा तर्केण मतिरापनेया" अथवा "विश्वासं फलदायकम्" अथवा "संशयात्मा विनश्यति" के सहारे ही समझा जा सकता है। इस पर भक्ति के प्रति पक्षपात का आरोप लगाया जा सकता है। कथावाचक श्री रामकिंकर उपाध्याय के शब्दों में, "जब वे निष्पक्षता का प्रयास करते हुए भी पक्षपात का परित्याग नहीं कर पाते, तब इसके भक्त के सच्चे स्वभाव का परिचय ही प्राप्त होता है। भक्त को अपने पक्षपात में भी निष्पक्षता का ही दर्शन होता है। यदि उसे अपनी निष्ठा के पीछे पक्षपात का दर्शन होने लगे, तब तो उसकी आस्था में यत्किंचित् न्यूनता आ ही जाएगी। अपने पक्षपात को भी निष्पक्षता समझकर ही वह अपनी आस्था में सुदृढ़ रह सकता है। इसलिए भुशुंडिजी द्वारा की गई ज्ञान और भक्ति की तुलना को निष्पक्षता की कसौटी पर कस कर नहीं देखना चाहिए। इस प्रसंग का आनन्द लेने के लिए इतना ही यथेष्ट है कि श्रोता अथवा पाठक केवल यह हृदयंगम करने का प्रयास करे कि वे अपने पक्ष को किस रूप में प्रस्तुत करते हैं। काक-भुशुंडि के विश्लेषण को भी इसी सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए।"[308]

तुलसी के मतानुसार ज्ञान जटिल है, "कहत कठिन, समुझत कठिन, साधन कठिन बिबेक।"[309] और भक्ति सरल—

> सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
> तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर-प्रेम-प्रसूति ॥[310]

ज्ञान की कठिनता और भक्ति की सरलता ही ज्ञानदीप और भक्तिचिन्ता-मणि रूपकों का प्रधान प्रतिपाद्य है। श्री रामकिंकर उपाध्याय ने ठीक ही लिखा है, "ज्ञान-दीपक में पुरुषार्थ-प्रधानता है किन्तु भक्ति-मणि सर्वथा कृपा-साध्य है।"[311] ज्ञान में मदीयता से मुक्ति असम्भवप्राय है, जबकि भक्ति में तदीयता का ही बोलबाला रहता है। इसलिए, भक्त स्वतः सुरक्षित रहता है। वह अपनापन मिटाकर पूर्णतः आराध्याश्रित हो जाता है। संसार में ज्ञानियों एवं योगियों की ही पतनकथाएँ श्रुतिगोचर होती हैं, भक्तों एवं प्रेमियों की नहीं।

---

308. मानस-मुक्तावली (भाग-4) 59/331-32
309. रामचरितमानस 7/118ख/1
310. दोहावली 152
311. मानस-मुक्तावली (भाग 4) 59/333

55. भक्ति की सार्वभौमता

ब्रह्म-पयोनिधि, मंदर-ध्यान, संत-सुर आहिं।
कथा-सुधा मथि काढ़हिं, भगति-मधुरता जाहिं ॥
बिरति-चर्म, असि-ज्ञान, मद-लोभ-मोह-रिपु मारि।
जय पाइय सो हरि-भगति, देखु खगेस, बिचारी ॥[312]

ज्ञानदीप एवं भक्तिचिन्तामणि रूपकों में तुलसी ने ज्ञान में श्रद्धा-विश्वास ("सात्विक श्रद्धा-धेनु" एवं "पात्र-बिस्वासा") इत्यादि का एवं भक्ति में ज्ञान-वैराग्य ("ज्ञान-बिराग-नयन उरगारी) इत्यादि का उत्कट समन्वय किया है। वे भक्तिरहित ज्ञान अथवा ज्ञान रहित भक्ति के द्वयतामूलक सिद्धांत का प्रचार नहीं करते। इसलिए उनकी भक्ति कोरी भावना न होकर एक समग्र जीवन-दृष्टि है। वे भक्ति के सार्वभौम स्वरूप के आख्याता एवं व्याख्याता हैं। उपर्युक्त दो दोहों में प्रथम में निरूपित कथासुधा-रूपक भक्ति की सार्वभौमता का परमोत्कृष्ट सूत्र है। ब्रह्म एवं ध्यान निर्गुण एवं ज्ञान तथा निराकार एवं योग के प्राविधिक शब्द हैं, जिनका कथा सुधा एवं भक्ति मधुरता के सन्दर्भ में सादर प्रयोग करके तुलसी निर्गुण एवं सगुण, निराकार एवं साकार, ज्ञान एवं भक्ति तथा योग एवं प्रेम में अद्वय स्थापित कर रहे हैं। ऐसा अद्वय वे यत्र-तत्र-सर्वत्र स्थापित करते हैं—उनके श्रेष्ठतम ग्रन्थद्वय रामचरितमानस एवं विनय पत्रिका में इस तथ्य के शत-शत प्रमाण उपलब्ध हैं। दूसरे दोहे के जय-रूपक में भी तुलसी ने विरति एवं ज्ञान को सम्यक् मान प्रदान किया है और दूसरे यहाँ भी सन्दर्भ भक्ति का है।

उपासना अथवा भक्ति परमात्मा की प्राप्ति का पुरातन साधन रही है—

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः
परस्त्रिकालदकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं
देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥[313]

वह सबका कारण, शरीरसंयोग की निमित्तभूता अविद्या का हेतु, त्रिकालातीत और कलाहीन देखा गया है। अपने अन्तःकरण में स्थित उस सर्वरूप देव की ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व उपासना कर। यह शंकरभाष्य का अर्थ है। वे ज्ञानमार्गी थे, यद्यपि उन्होंने भी भक्तिमार्ग की उपेक्षा नहीं की, जैसाकि "भज गोविन्दम्" एवं गंगालहरी इत्यादि से स्पष्ट होता है। फिर भी, यदि कोई यथाशब्दवादी चाहे,

---

312. रामचरितमानस 7/120 क-ख

313. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/5

तो "उपास्य पूर्वम्" का अर्थ "सर्वप्रथम उपासना करो" लगा सकता है और वह अनर्गल भी न होगा। इसी प्रकार, "संयोगनिमित्तहेतुः" का अर्थ "शरीर संयोग के निमित्त का भी हेतु" लगाया जा सकता है। उपनिषद् में कामतत्त्व को सम्यक् महत्त्व प्रदान किया गया है।

महाभारत की आत्मा श्रीमद्भगवद्गीता के सप्तम, अष्टम, नवम, दशम, अष्टदश प्रभृति अनेक अध्यायों में भक्ति-निरूपण प्राप्त होता है तथा इस विश्व की महानतम दर्शनगीतिका के द्वादश अध्याय का तो शीर्षक ही 'भक्तियोग' है। इस ग्रंथरत्न के अनेकानेक भक्तिपरक उद्‌गार अतीव पावन एवं प्रेरक हैं। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥[314]
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेता स्ते मे युक्तमा मताः ॥[315]
मय्येव मन आधत्स्व, मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव, अत उर्ध्वं न संशयः ॥[316]
यो न हृष्यति, न द्वेष्टि, न शोचति, न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥[317]

अतएव, तुलसी ने ज्ञान-योग-कर्म-समन्वित सार्वभौम भक्ति का प्रतिपादन वैदिक, औपनिषदिक, महाभारतीय एवं पौराणिक परम्परा के अनुरूप ही किया है, यद्यपि उनकी मध्यकालीन परिस्थिति एवं परिवेश से स्वभावतः सम्बद्ध भक्ति प्रधान स्वयंसिद्ध है। मानवजाति यों तो सदैव बुद्धिबल से हृदयबल को अधिक महत्त्व देती रही है, क्योंकि वह सरल एवं अकृत्रिम होता है, उसके अन्तर्बाह्य स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होता है, किन्तु मध्यकाल में हृदयवाद का और भी अधिक बोलवाला रहा है, जिसका कारण इसका अत्यधिक रक्ताक्त स्वरूप है। रामानुज, निम्बार्क, मध्व, रामानन्द, चैतन्य, वल्लभ इत्यादि हृदयवादी दार्शनिक तथा तुलसी, सूर, कबीर, नन्ददास, रसखान इत्यादि हृदयवादी कवि इस तथ्य को ही स्पष्ट करते हैं। आधुनिककाल में भी गांधी इत्यादि चिंतकों ("बुद्धिबल से हृदयबल सहस्रः अधिक है")[318] तथा प्रसाद इत्यादि कवियों ("सिर चढ़ी रही,

314. श्रीमद्भगवद्गीता 8/22
315. श्रीमद्भगवद्गीता 12/2
316. श्रीमद्भगवद्गीता 12/8
317. श्रीमद्भगवद्गीता 12/17
318. धर्मपथ, पृ० 121

विनयपत्रिका

रामचरितमानस के अनंतर विनयपत्रिका तुलसी की सर्वश्रेष्ठ कलाकृति है। हिन्दी के आत्मपरक काव्य में विनयपत्रिका का स्थान अन्यतम है। गीतिकाव्य में निबद्ध यह एक मुक्तक रचना है। जैसाकि शीर्षक से ही स्पष्ट है, यह राम को लिखी गई आवेदनपत्रिका या अर्जी है, जो गणेश, सूर्य, शिव, हनुमान्, सीता इत्यादि के सम्यक्-क्रमानुसार या 'थ्रू प्रॉपर चैनल' भेजी गई है। यह आवेदनपत्र इतना अधिक तथ्यपरक, संगत एवं क्रमानुसार-प्रस्तुत है कि अंततोगत्वा राम इस पर हस्ताक्षर द्वारा स्वीकृति प्रदान कर देते हैं।[1] संसार-साहित्य में विनयपत्रिका के स्तर का कोई बृहत्, दर्शन सम्पन्न, काव्यात्मक एवं संगीतमय आवेदनपत्र नहीं रचा गया। यह है भी तो विश्व-इतिहास के एक सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति कवि एवं जनोन्यायक का स्वयं भगवान् को लिखा गया आवेदनपत्र !

विनयपत्रिका रामचरितमानस के भक्तिपरक अंशों, सूरसागर की विनयावली एवं बीजक के साथ-साथ हिंदी की सर्वोत्कृष्ट भक्ति-रचना है। भक्तितत्व का गहनतम प्रतिपादन विनयपत्रिका को दर्शन-काव्य बना देता है। महाकवि केशवदास की विज्ञानगीता एवं कविराज सुखदेव मिश्र का अध्यात्मप्रकाश उत्कृष्ट वेदांतमूलक दर्शन-काव्य हैं, किंतु गहन एवं मौलिक दार्शनिकता तथा गहन एवं मौलिक काव्यकला में विनयपत्रिका इनसे बहुत आगे है। प्रपत्तिवाद अथवा शरणागतिवाद विनयपत्रिका में चरम उत्कर्ष प्राप्त करता है। दास्यभक्ति के निरूपण में विनयपत्रिका अद्वितीय है। इसमें तुलसीदास अद्वैतवाद एवं दासभक्ति का समन्वय करने में पूर्णत: सफल सिद्ध हुए हैं। विनयपत्रिका हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों में एक है।

अध्ययन की सुविधा के लिए इस ग्रंथरत्न के दो भाग माने जा सकते हैं— स्तोत्रभाग, पदभाग। स्तोत्रभाग में अनेक देव-देवियों की वन्दना है, जो हमारी सनातन संस्कृति के सर्वथा अनुरूप है। यह बहुमुखी वन्दना रामोन्मुख होने के

---

1. विशेष अध्ययन के लिए देखें 'विश्वकवि तुलसी और उनके प्रमुख काव्य' ग्रंथ का 'विनयपत्रिका' शीर्षक निबन्ध।

कारण तत्त्वतः एकमुखी है। डॉ० रामरतन भटनागर ने, इस संदर्भ में, ठीक लिखा है, "तुलसी ने बहुदेववाद को रामोन्मुख करके एकदेववाद (रामवाद) बना दिया है।"[2] पदभाग में महान् आत्मपरक भक्ति-प्रपत्ति-काव्य की सर्जना प्राप्त होती है, जिसका साहित्यिक गौरव परमोच्च कोटि का है।

तुलसी-ग्रन्थावली (भाग 2) में इस ग्रंथरत्न का यह विवरण सर्वथा उल्लेखनीय है, "इसमें विनय के 279 पद हैं। यह गोस्वामी जी की अन्तिम रचना ज्ञात होती है और इसमें इनकी कवित्वशक्ति पूर्णरूप से प्रकट हुई है। इसमें इनके अगाध पाण्डित्य, शब्दकोष, काव्यकौशल आदि का पूरा परिचय मिलता है। यह पत्रिका प्रार्थना के रूप में सजाई गई है और इतनी हार्दिक आस्था से लिखी गई है कि अवश्य ही भगवान श्री रामचन्द्र ने इसे स्वीकार कर लिया होगा।"[3] विनय-पत्रिका को तुलसी की अंतिम रचना मानने का यह अभिप्राय नहीं है कि इसके सारे स्तोत्र एवं पद विश्वकवि ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में ही लिखे थे। मुक्तककाव्य होने के कारण इसके अनेक स्तोत्र एवं पद पूर्ववर्ती भी हो सकते हैं। हाँ, इसका अन्तिम बहुलांश निस्संदेह जीवन के अन्तिम वर्षों में रचा गया प्रतीत होता है।

1. वपुष-ब्रह्माण्ड रूपक

वपुष-ब्रह्माण्ड, सुप्रवृत्ति-लंकादुर्ग, रचित मन-दनुज-मय-रूपधारी।···
मोह-दशमौलि, तद्भ्रात-अहंकार, पाकारिजित-काम विश्रामहारी।···
अमितबल, परम-दुर्जय निशाचर-निकर सहित षड्वर्ग गो-यातुधानी।।
जीव भवदंघ्रि-सेबक विभीषण बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित-चिंता।···
ज्ञान-अवधेश-गृह, गेहिनी-भक्ति-शुभ, तत्र अवतार भूभार-हर्ता।···
कैवल्य-साधन अखिल भालु-मर्कट, विपुल-ज्ञान-सुग्रीव-कृत जलधिसेतू।
प्रबल-वैराग्य-दारुणप्रभंजनतनय, विषय-वन-भवनभिव धूमकेतू।।[4]

प्रस्तुत सांगरूपक विनयपत्रिका का उदात्तसम्पन्न अतिश्रेष्ठ सृजन है। कथा-वाचक श्री रामकिंकर उपाध्याय की रामचरितमानस की प्रतीकपरक व्याख्या का

---

2. तुलसीदास 8/154
3. सम्पादक रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदीन, ब्रजरत्नदास। प्रकाशक काशी नागरी प्रचारिणी सभा। द्वितीय संस्करण, 2004 वि० पृष्ठ 4
4. विनयपत्रिका 58/3, 7, 10-11, 13, 15-16

आधार यही गौरवशाली सांगरूपक है। विश्वकवि का एक सांगरूपक एक कथा-वाचक को उच्च गौरव प्रदान कर देता है! यद्यपि वस्तुत: तुलसी का 'सूधेमन-सूधेवचन'-वाद प्रतीकपरक व्याख्या के अनुरूप नहीं है, तथा रूपकालंकार और रूपककाव्य दो भिन्न वस्तुएँ हैं, तथापि कल्पना के बल पर भी रामचरितमानस की प्रतीकपरक व्याख्या करना इस विश्वकाव्य के अनुशीलन की एक नई दिशा खोलना अवश्य है। मानस के इस प्रकार के कल्पनामूलक अनुशीलन पर प्रसाद की कामायनी का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव भी सम्भव है। आधुनिक-काल में कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना इत्यादि साहित्य की अधिकांश विधाओं पर प्रतीक का बोलबाला स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है, जिसकी प्रेरणा का एक स्रोत पाश्चात्य प्रभाव भी है। अतएव, कथावाचन में प्रतीकवाद का समावेश युगानुकूल अवश्य है। यों, प्रतीक का जन्म भारत में मानवजाति के प्रथम ग्रंथ ऋग्वेद के साथ हुआ था। गिल्गमेश, इलियड, बाइबिल इत्यादि प्राचीन-तम विदेशी महाकाव्यों तथा धर्मग्रंथों में प्रतीक के दर्शन नहीं होते। महाकाव्य गिल्गमेश में नायक, वीर, योद्धा, गिल्गमेश का सीधा-सादा वृत्त प्राप्त होता है; महाकाव्य इलियड में इलियम (ट्रॉय) के भीषण युद्ध का सजीव वृत्त प्राप्त होता है; बाइबिल (ग्रन्थ) में पुराने सामी पैगम्बरों और राजाओं के अतिप्राकृतिक वृत्त प्राप्त होते हैं—तीनों महान् ग्रन्थ वृत्त प्रधान हैं। अतएव, मानस की प्रतीकपरक व्याख्या विजातीय नहीं कही जा सकती। और, आलोचना में जातीय विजातीय का विवाद तभी समीचीन हो सकता है, जब आलोच्य के साथ अन्याय होता हो। श्री रामकिंकर उपाध्याय ने तो रामचरितमानस की सेवा ही की है। वे आलोचक नहीं हैं, विद्वान नहीं हैं, किंतु मानस के प्रभावी व्याख्याता अवश्य हैं।

मानस की प्रतीकवादी विवेचना कोई एकदम नई चीज़ भी नहीं है। एक दूसरे तरीके से, ऐसा विवेचन बहुत पहले से होता चला आ रहा है, जिसे दार्शनिक डॉ० भगवानदास ने 'सुंदर' माना है, "रावण और राक्षसों के चरित्र को जो अपने समय के मुसलमानों के हिंदुओं पर अत्याचारों पर घटाया है, वह बहुत सुन्दर बना है, यद्यपि तुलसीदास के समकालीन अकबर के समय में यह अत्याचार बहुत कम हो गया था और रामजी के स्थानीय शिवाजी का अवतार उनके बहुत पीछे औरंगजेब के समय में हुआ।"[5] अवतार और सन्त का विश्लेषण करते हुए व्योहार राजेन्द्रसिंह ने लिखा है, "सनातन सत्यों के सामने की बाधाओं को दूर कर उनका पुन:स्थापन करने में अवतारों का कार्य समाप्त हो जाता है, किंतु उनको समया-नुकूल रूप देना, उन सत्यों को प्राचीन जर्जर नियमों के कलेवर से निकालकर अपने समय की परिस्थितियों के अनुकूल नवीन कलेवर पहनाना संतों का कार्य है।

5. 'गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना' की भूमिका में।

जहाँ अवतारों का कार्य समाप्त होता है वहीं संतों का कार्य प्रारम्भ होता है।"[6] व्योहार जी ने स्पष्ट लिखा है, "रावणादि राक्षसों के अत्याचारों के रूप में उन्होंने उस समय के अत्याचारों का वर्णन किया है।"[7] व्योहार राजेन्द्रसिंह ने रामचरित मानस में ऐतिहासिक प्रतीक-योजना का प्रतिपादन किया है, श्री रामकिंकर उपाध्याय ने मनोवैज्ञानिक प्रतीक-योजना का। तुलसी द्वारा अवतार-कारण-निरूपण एवं कलि-वर्णन ऐतिहासिक प्रतीकवाद के आधार हैं। ये आधार अधिक व्यापक एवं अधिक यथार्थ सम्पन्न हैं। तुलसी का वपुष-ब्रह्माण्ड रूपक मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद का आधार है। यह आधार अधिक गम्भीर एवं अधिक काव्यात्मक है। 'रामचरितमानस में ऐतिहासिक प्रतीकवाद' एवं 'रामचरितमानस में मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद' शोध के उत्कृष्ट विषय हैं।

विनयपत्रिका का स्तोत्रभाग धार्मिक दृष्टि से अतीव उत्कृष्ट है। वह स्तोत्रों के लिए संस्कृत-निर्भरता को समाप्त करने वाला गौरवशाली सृजन है। देववाणी के प्रति शाश्वत श्रद्धा को ध्यान में रखते हुए लोकसंग्रही महाकवि ने इसे यत्र-तत्र अत्यन्त संस्कृतनिष्ठ रूप में प्रस्तुत किया है। इस संस्कृतनिष्ठता से स्तोत्रत्व की सम्यक् रक्षा हुई है। सांस्कृतिक दृष्टि से इसका देवताओं, देवियों, गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट इत्यादि का समन्वय अतीव मनोहारी है। काव्य की दृष्टि से भी उच्चकोटि का अलंकरण, गूढ़-गुम्फित समास-नियोजन एवं प्राणवान शब्दचयन इसे सर्वथा प्रशस्य सिद्ध करता है। आश्चर्य है कि डॉ० रामरतन भटनागर त्वरा में यह कैसे लिख गए! —"यह संस्कृत स्तोत्रों का संस्कृत-हिन्दी मिला खिचड़ी रूप है। धर्म-भावना की दृष्टि से यह चाहे कितना ही महत्त्वपूर्ण हो, यदि तुलसी इसकी रचना नहीं करते तो उनका साहित्यिक महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता।"[8] यहाँ डॉ० भटनागर यह भूल गए कि यदि ये स्तोत्र न होते, तो स्तोत्रकार तुलसी केवल मानस में सीमित रह जाते। यदि डॉ० भटनागर ने जगद्धर भट्ट की स्तुति-कुसुमांजलि, पुष्पदंत का शिवमहिम्नस्तोत्र, रावण का शिवताण्डव-स्तोत्र, 'सोम' की स्तोत्र-सुधा (डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' कृत नवीन संस्कृत-काव्यकृति जो विस्तृत भी है) ग्रंथों का अनुशीलन किया होता, तो वे स्तोत्र-रचना को साहित्य-रचना के अजिर से निष्कासित करने में रुचि न ले पाते। और, ऐसी 'आलोचना' तो रामचरितमानस पर भी चस्पाँ की जा सकती है! तुलसी जीवन के विराट् द्रष्टा थे—उनके लिए जीवन का प्रत्येक पक्ष काव्यमय था। वे धर्म और साहित्य में अद्वय के प्रतीक हैं। अतएव, द्वैत दृष्टिसंकीर्ण आलोचना उन पर

6. गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना, 1/5
7. वही, 1/6-7
8. तुलसीदास 9/158

फिट नहीं बैठ सकती।

वपुष-ब्रह्माण्ड रूपक में तुलसी ने जो प्रस्तुत-अप्रस्तुत-संगति स्थापित की है, वह प्रासंगिक अधिक है, सुनियोजित कम, क्योंकि इसमें कई बिन्दु सर्वथा आलोच्य हैं—लंका के साथ केवल वृत्ति शब्द पर्याप्त होता, जैसे योगदर्शन के "योगश्चित्त-वृत्तिनिरोध:" में 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग प्रकृष्टतापूर्ण अर्थ में आना चाहिए, उसमें भी 'सु' लगा है जो नितांत अनावश्यक है; रावण को मोह और मेघनाद को काम के रूप में प्रस्तुत करना भी विवादास्पद माना जा सकता है क्योंकि काम प्रधान एवं मूल वृत्ति है; 'ज्ञान-अवधेश' तथा 'ज्ञान-सुग्रीव' के दो प्रयोग स्पष्टत: त्वरा के परिणाम हैं और द्वितीय तो सर्वथा चिन्त्य भी है। वृत्तियों का जो सोपान-क्रम श्रीमद्भगवद्गीता में प्रस्तुत किया गया है, वह अधिक व्यवस्थित और अधिक मनोवैज्ञानिक है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः, संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥[9]

चूँकि वृत्तियाँ एक-दूसरे से गुँथी होती हैं, शतशः अन्योन्याश्रित होती हैं, अतः वपुष-ब्रह्माण्ड रूपक का औचित्य सिद्ध करना असम्भव नहीं है। कुल मिलाकर, राम और रावण के दोनों पक्षों की सत् और असत् से सम्बद्ध वृत्तियों से जो एक-रूपता स्थापित की गई है, वह अतीव गम्भीर और कलात्मक है एक अन्य सांग-रूपक में भी तुलसी ने वृत्तियों का इससे मिलता-जुलता प्रयोग किया है। इसे संसार-कांतार रूपक कहा जा सकता है तथा यह वपुष-ब्रह्माण्ड रूपक के तुरन्त बाद में प्राप्त होता है—

संसार-कांतार अतिघोर, गंभीर, घन, गहन तरु-कर्म संकुल मुरारी।
वासना-वल्लि खर-कंटकाकुल विपुल, निबिड़ विटपाटवी कठिन भारी ॥
विविध चित्तवृत्ति-खगनिकर श्येनोलूक-काक-वक-गृध्र आमिष-अहारी।...
क्रोध-करि मत्त, मृगराज-कंदर्प, मद-दर्प वृक-भालु अति उग्रकर्मा।
महिष-मत्सर क्रूर, लोभ-शूकर-रूप, फेरु-छल, दंभ-मार्जार-धर्मा ॥[10]...

यह रूपक मनोविज्ञान एवं प्राणिविज्ञान की दृष्टियों से अधिक समीचीन सिद्ध होता है।

---

9. श्रीमद्भगवद्गीता 2/62-63
10. विनयपत्रिका 59/3, 4-5, 7-8

तुलसी ने रामचरितमानस, कवितावली, गीतावली इत्यादि में भी मनोवैज्ञानिक वृत्तियों को अपने अप्रस्तुत-विधान में सोत्साह प्रयुक्त किया है। 'तुलसी-काव्य में मनोवैज्ञानिक वृत्तिपरक अलंकरण' एक ठोस शोध-विषय है।

2. तुम और मैं

तू दयालु, दीन हौं; तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी।।
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मो-सो?
मो-समान आरत नहिं, आरतिहर तो-सो।।
ब्रह्म तू, हौं जीव; तू है ठाकुर, हौं चेरो।[11]...

भगवान् और भक्त या प्रियतम और प्रेमी में अन्योन्य सम्बन्ध है। दास्य, सख्य, शृंगार (माधुर्य), वात्सल्य और शान्त भावों के उपास्य-उपासक या प्रियतम-प्रेमी के अन्योन्य सम्बन्ध यत्किंचित् भिन्नता के बावजूद अन्योन्यता के ही सूचक रहते हैं। तुलसी का प्रस्तुत सम्बन्ध-निरूपण दास्यभाव की भक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है। अन्यत्र भी, वे ऐसा ही सम्बन्ध-निरूपण करते हैं—

राम-सों बड़ो है कौन, मो-सों कौन छोटो?
राम-सों खरो है कौन, मो सों कौन खोटो?[12]

मैं पतित, तुम पतित-पावन; दोउ बानक बने![13]

हौं जड़ जीव, ईस रघुराया। तुम मायापति, हौं बस-माया।।[14]

कबीर, मीराँ, मंझन इत्यादि भक्ति अथवा प्रेम की विभिन्न शाखाओं के वैतालिकों ने 'तुम और मैं' के अन्योन्य सम्बन्ध को नाना रूपों में गाया है। रूप चाहे जो हो, प्राण एक ही है—उपास्य या स्वामी या प्रियतम की महत्तमता। ऐसे अध्यात्मिक सम्बन्ध-गान हमारी विश्व-स्तरीय महान् कविता के गौरवशाली अंश हैं—

11. वही, 79/1-5
12. वही, 72/3-4
13. वही, 160/2
14. वही, 177/3

हरि मेरा पीव, मैं हरि की बहुरिया।
राम बड़े, मैं छुटक लहुरिया॥[15]

तुम जलनिधि, मैं जलकर मीनाँ।
जल मैं रहौं, जलहि बिन षीनाँ॥
तुम प्यँजरा, मैं सुबनाँ तोरा।
दरसन देहु भाग बड़ मोरा॥
तुम्ह सतगुर, मैं नौतम चेला।[16]···

तुम गुणवंत, बड़े गुणसागर; मैं हूँ जी, औगणहारा।
मैं निगुणी, गुण एको नाहीं; तुम में जी, गुण सारा॥[17]

तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं, जैसे सूरज-घामा।[18]

एकै हम, दुइ कै औतारे। इक मंदिल, दुइ किए दुवारे॥···
तैं जौ समुँद, लहरि मैं तोरी। तैं रबि, मैं जग किरनि-अँजोरी॥[19]

आधुनिक कवियों में सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने आत्मा-परमात्मा की अद्वैयता अथवा अन्योन्यता का विशद एवं बहुविध निरूपण किया है—

तुम तुंग हिमालय श्रृंग और मैं चंचलगति सुरसरिता;
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कांत-कामिनी कविता।···
तुम मृदु मानस के भाव और मैं मनोरंजिनी भाषा;···
तुम भवसागर दुस्तर, पार जाने की मैं अभिलाषा।···
तुम आशा के मधुमास और मैं पिक-कल-कूजन तान;
तुम मदन पंचशरहस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान!···[20]

जयशंकर 'प्रसाद' तुम-और-मैं सम्बन्ध के निरूपण से हटकर मूल प्रेम की उदारता चाहते हैं—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ?
इसमें क्या है धरा, सुनो।

---

15. कबीर-ग्रंथावली 117/3-4
16. वही, 120/3-7
17. मीराँबाई की पदावली 112/3-4
18. वही, 114/3
19. मधुमालती (डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित) 117/5; 118/1
20. परिमल, 'तुम और मैं' कविता में।

मानस जलधि रहे चिर चुम्बित—
मेरे क्षितिज ! उदार बनो।[21]

परमात्मा से आत्मा जैसा चाहे वैसा सम्बन्ध स्थापित कर सकती है, क्योंकि दोनों मूलतः एवं तत्त्वतः एक होते हुए भी व्यवहारतः एवं बाह्यतः अनेक जैसे हो गए हैं तथा दोनों का प्रसार अपरिसीम है। किन्तु दास्यभाव में जो विनम्रता, शालीनता एवं निश्चिन्तता रहती है, वह अन्यत्र दुर्लभ लगती है। जहाँ तक आधुनिक कवियों में से अधिकांश के काल्पनिक रहस्यवाद का सम्बन्ध है, मुझे प्रसिद्ध विद्वान और साहसी आलोचक पण्डित कृष्णशंकर शुक्ल के (परस्पर वार्तागत) एक व्यंग्य-वाक्य का स्मरण हो आता है—"प्रभु जी, तुम इंजन, हम डब्बा !" कबीर इत्यादि की माधुर्यमूलक तथा तुलसी इत्यादि दास्यमूलक अन्योन्यता में 'तुम और मैं' का सम्बन्ध साधना-संपुष्ट होने के कारण अतीव सशक्त है। काल्पनिक रहस्यवाद में वह शक्ति कहाँ ! काल्पनिक रहस्यवाद अध्ययनमूलक रहस्यवाद भी कहा जा सकता है। उसमें तड़क-भड़क ज्यादा रहती है, शक्ति कम। इसीलिए, उसका व्यावहारिक प्रभाव नहीं पड़ सका। वह किसीको प्रेरणा नहीं दे सका। हाँ, काव्यास्वाद की दृष्टि से उसका अपना महत्त्व अवश्य है। उसकी कलात्मकता भी प्रशस्य है।

3. हरिपदबिमुख लह्यो न काहु सुख !

सुनु मन मूढ़ ! सिखावन मेरो।
हरिपदबिमुख लह्यो न काहु सुख, सठ ! यह समुझ सबेरो॥
बिछुरे ससि-रबि मन-नैननि तें, पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमत स्रमित निसि-दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो॥
जद्यपि अतिपुनीत सुरसरिता, तिहुँपुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहू केरो॥
छुटै न बिपति भजे बिनु रघुपति, श्रुति संदेहु निबेरो।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि होहु राम को चेरो॥[22]

लोकोक्ति, दृष्टान्त, यथासंख्य (क्रम), विनोक्ति इत्यादि अनेक अलंकारों से सम्पन्न इस प्रशान्त-गहन पद में रामचरणसंपृक्त रहने का प्रतिपादन किया गया

21. लहर, द्वितीय कविता में।
22. विनयपत्रिका 87

है। श्रुति का प्रयोग केवल मात्र व्यावहारिक है। तुलसी का वेद के प्रति सश्रद्ध मानस यत्र-तत्र-सर्वत्र उसका उल्लेख करता चलता है, क्योंकि वह महान् भारतीय संस्कृति को उसके सर्वप्राचीन एवं सर्वोत्कृष्ट आधार से विच्छिन्न नहीं करना चाहता। चन्द्रमा और सूर्य को ब्रह्म के मन और नेत्र से उत्पन्न कहना ऋग्वेद (यजुर्वेद में भी) के सुविख्यात पुरुष-सूक्त के अनुरूप है, "चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो सूर्यो अजायत।"[23] स्पष्ट है कि तुलसी वैदिक वाङ्मय से अनभिज्ञ न थे और उसका यथास्थान प्रयोग भी करते थे।

भक्तिरस और शांतरस में अन्तर है, "हिन्दी के भक्तिकाव्य में ईश्वर के प्रति जिन अनुरागात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति मिली है, वे शांत रस की निर्वेदात्मक या विरागात्मक परिभाषा में समाहित नहीं की जा सकती।"[24] पण्डितराज जगन्नाथ ने सम्भवतः हिन्दी-भक्तिकाव्य को ध्यान में रखकर ही लिखा था, "न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावमर्हति अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्।"[25] हाँ, यदि कोई पद विशुद्ध निर्वेदात्मक हो, तो वह शांतरस का ही माना जायेगा। कबीर, मीराँ, सूर, तुलसी इत्यादि ने ऐसे पद भी रचे हैं। सामान्य दृष्टि से ऐसे पद भी भक्ति के ही माने जाते हैं। इसका भी एक कारण है, "एक स्वतन्त्र रस के रूप में भक्तिरस की प्रतिष्ठा हो गई, यही नहीं भक्ति ही प्रमुख रस माना गया। वात्सल्य, सख्य, दास्य और माधुर्य उसी के अंगभूत रस स्वीकार किए गए।"[26] वैसे शांत को भी भक्तिरस के अंगभूत रस के रूप में भी स्वीकार किया जाता है। अतएव, "सब आस छाँड़ि" में शांतरस व्यंजित माना जा सकता है। किन्तु इस पद में हरि के अंग चंद्र, सूर्य और गंगा के भी वियुक्त होने पर भ्रमित, श्रमित और प्रवाहित होने का उल्लेख है, भजन का स्पष्ट प्रतिपादन है, राम का दास बनने का निर्देश है तथा यह "सब आस छाँड़ि" से बहुत अधिक है; इसलिए, इसे भक्तिरस के अंगभूत शांतरस का पद मानना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। जहाँ भजन या भक्ति शब्द स्पष्टतः उल्लिखित हो, वहाँ प्रायः भक्तिरस को वरीयता प्रदान करना ही उचित होगा, भक्ति ईश्वर के प्रति परा अनुरक्ति है—"सा परानुरक्तिरीश्वरे।"[27]

---

23. ऋग्वेद 10/7/90/1; यजुर्वेद 31/12/1
24. खड़ीबोली-कविता में विरह-वर्णन (प्रथम संस्करण, 1964) पृष्ठ 11
25. रस-गंगाधर (1. रसभेदाः)
26. नया साहित्य : नए प्रश्न (नन्ददुलारे वाजपेयी) पृष्ठ 22
27. शाण्डिल्य-भक्ति सूत्र 1/1/2

4. ऐसी मूढ़ता या मन की !

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि रामभगति-सुर सुरिता, आस करत ओसकन की ।।
धूमसमूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता, न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ।।
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह अपने तन की।
टूटत अति आतुर अहारबस छति बिसारि आनन की ।।
कहँ लौ कहौं कुचालि कृपानिधि ! जानत हौ गति जन की।
तुलसीदास प्रभु ! हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ।।[28]

निदर्शना, उदाहरण, भ्रान्तिमान, परिकर इत्यादि अलंकारों से सम्पन्न प्रस्तुत पद में विवर्तवाद को मनोहारी एवं प्रभावी अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। अद्वैतवाद को दास्यभक्ति से संपृक्त कर, विनयपत्रिका में सर्वोच्च कोटि का दर्शन-काव्य प्रस्तुत किया गया है। यह पद इस कथन का एक प्रभावी प्रमाण है, जिसका सहज अलंकरण, अप्रतिहत प्रवाह, गहन दर्शन और तलस्पर्शी भक्तिभाव एक-दूसरे में ऐसे खप गए हैं कि उनका पृथक्-पृथक् पता चलना तक कठिन है। "धूमसमूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की" में भ्रम (विवर्त) परकीय अथवा बाह्य है, जबकि "ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की" में स्वकीय अथवा आभ्यंतर। भ्रम के दोनों रूप एक ही पद में बखूबी पिरो दिये गये हैं। विनयपत्रिका में मन की मूढ़ता के कई अन्य वर्णन भी प्राप्त होते हैं। यथा—

जदपि बिषय सँग सह्यो दुसह दुख, बिसम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़ ममताबस, जानत हूँ नहिं जान्यो ।।[29]

काहे को फिरत मूढ़ मन धायो।
तजि हरिचरनसरोज-सुधारस, रबिकरजल लय लायो ।।[30]

मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो।...
करम-कीच जिय जानि, सानि चित, चाहत कुटिल मलहि मल धोयो ।।
तृषावंत सुरसरि बिहाय सट फिरि-फिरि बिकल अकास निचोयो ।।[31]

---

28. विनयपत्रिका 90
29. विनयपत्रिका 88/3-4
30. विनयपत्रिका 199/1-2
31. विनयपत्रिका 245/1, 5-6

अध्यास, विकार, विवर्त इत्यादि अद्वैततत्त्वों की दृष्टि से विनयपत्रिका संसार-साहित्य की अन्यतम कलाकृति है। यदि शंकराचार्य इसे पढ़ते, तो विह्वल हुए बिना न रहते ! यदि प्लेटो इसे पढ़ते, तो कवि को अपने 'गणतन्त्र' (द रिपब्लिक)[32] से निर्वासित न करते !

5. माधवजू, मो-सम मंद न कोऊ !

माधवजू, मो-सम मंद न कोऊ।
जद्यपि मीन-पतंग हीनमति, मोहि नहिं पूजै ओऊ ।।
रुचिर रूप-आहार-बस्य उन्ह पावक-लोह न जान्यो।
देखत बिपति बिषय न तजत हौं, ताते अधिक अयान्यो ।।
महामोह-सरिता अपार महँ संतत फिरत बह्यो।
श्रीहरिचरनकमलनौका तजि फिरि-फिरि फेन गह्यो ।।
अस्थि-पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकरै।
निज तालूगत रुधिर पान करि मन सन्तोष धरै ।।
परम कठिन भव-ब्याल ग्रसित हौं त्रषित भयो अतिभारी।
चाहत अभय भेक-सरनागत खगपतिनाथ बिसारी ।।...[33]

व्यतिरेक, रूपक, निदर्शना, उदाहरण, दृष्टांत, भ्रांतिमान, परिकरांकुर इत्यादि अनेकानेक अलंकारों से सम्पन्न, अंतर्बाह्य अध्यास के प्रमाणों से युक्त तथा 'मीन-पतंग' के साथ 'रूप-आहार' और 'पावक-लोह' के प्रयोग के कारण अक्रमत्व दोष का निदर्शन-रूप प्रस्तुत पद विश्व के आध्यात्मिक काव्य की एक गौरवशाली उपलब्धि है। प्रशांत निर्वेदवृत्ति का प्रभावी प्रपत्ति के साथ सम्पूर्ण समन्वय इस पद को शांत एवं भक्ति रसों का संगम बना देता है। इसके उदाहरण एवं दृष्टान्त इतने साधारणीकरण-सक्षम एवं प्रभावी है कि अध्येता गहन शांति-भक्ति-प्रयाग का तीर्थराजयात्री बन जाता है।

जगत् के मिथ्यात्व एवं उसके प्रति आसक्ति की प्रतिक्रिया का वर्णन बहुत-से कवियों एवं सन्तों ने किया है, किन्तु तुलसी के वर्णन अपनी गहन अनुभूति एवं गहन अभिव्यक्ति में अतुलनीय हैं। कबीर के पदों में अनुभूति की एकरसता एवं अभिव्यक्ति की प्रांजलता नहीं प्राप्त होती। वे अपने आयामों को अत्यधिक स्फीत

32. गणतंत्र—(द रिपब्लिक) प्लेटो की सर्वोच्च रचना।
33. विनयपत्रिका 92/1-10

कर देते हैं, जिससे तन्मयता शिथिल हो जाती है। सहज अलंकरण की दृष्टि से वे तुलसी तो क्या, सूर की समता भी नहीं कर सकते। मीराँ के पद गीतितत्त्वों की दृष्टि से प्रशस्य हैं, अनुभूति की एकरसता से सम्पन्न हैं, किन्तु उनमें दार्शनिकता एवं गम्भीरता का अभाव है। उनकी समता तुलसी, सूर, कबीर से किसी भी स्तर पर नहीं की जा सकती। सूर के पद गीति-तत्त्वों की दृष्टि से प्रशस्य हैं, उनमें अलंकरण भी अच्छे स्तर का है, किन्तु दार्शनिक गहनता में वे भी तुलसी की समता नहीं कर पाते। अतएव निर्वेदात्मक, प्रपत्यात्मक एवं दार्शनिक पदरचना में, कुल मिलाकर, विनयपत्रिका के महाकवि तुलसी की समता सूर, कबीर, मीराँ नहीं कर पाते। 'कुल मिलाकर' से अभिप्राय है—सूर तुलसी से अधिक सरल हैं, कबीर तुलसी से अधिक बेफिक्र हैं, मीराँ तुलसी से अधिक भावमय हैं। दर्शन और काव्य-कला का जैसा पूर्ण और प्रभावी अर्द्धनारीश्वर-रूप विनयपत्रिका में दृष्टिगोचर होता है, वैसा हिन्दी ही नहीं प्रत्युत संसार-साहित्य में दुर्लभ है।

प्रस्तुत पद अलंकार-गौरव में विनयपत्रिका का सर्वाधिक सम्पन्न पद है। इतना अधिक अलंकृत भक्ति-पद किसी अन्य कवि ने भी नहीं रच पाया। इसकी अलंकृति इसकी गहन भक्तिभावना में लीन हो गई है। इस कारण से, इसमें सर्वोच्च कोटि की कविता के दर्शन होते हैं।

6. अब लौं नसानी, अब न नसैहौं

अब लौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरिं न डसैहौं।।
पाएउँ नाम-चारु-चितामनि, उर-कर तें न खसैहौं।
स्याम-रूप-सुचि-रुचिर-कसौटी, चित-कंचनहिं कसैहौं।।
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन-मधुकर पन कै तुलसी रघुपतिपद-कमल बसैहौं।।[34]

इस पद का शीर्षक 'तुलसी का आत्मबोध' भी हो सकता है। मूसा, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, दयानन्द इत्यादि का अपने-अपने ढंग का तत्त्वबोध प्रसिद्ध है। किन्तु दास्यभक्तिपरक होने के कारण, तुलसी का आत्मबोध पुष्टि-प्रपत्ति-सम्पन्न है—इसमें मदीयता का नहीं, त्वदीयता का बोलबाला है। अस्मिता का अभाव दास्यभक्ति का प्राणतत्त्व है। अहं न होने के कारण, यह अहं को अधिक गहराई पर जाकर पकड़ता है। सगुणोपासक सन्तों की एक प्राणपुलककारी विशेषता

34. विनयपत्रिका 105

यह है कि उन्होंने, महानता में समकक्ष होते हुए भी, अहंमूलक दावे नहीं किये। तुलसी व्यक्तित्व में मूसा, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद इत्यादि से तनिक भी कम नहीं—कोटि-कोटि प्राणी उनसे आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त करते हैं। जहाँ तक कृतित्व का सम्बन्ध है, उनका ललित एवं सार्वभौम सृजन अतुलनीय है। किन्तु उन्होंने परमात्म-परामर्श, बोध, जिनत्व, ईश्वरपुत्रत्व और नरेशत्व, वार्तावहत्व इत्यादि का कोई अहंमूलक दावा नहीं किया। साकारोपासक सन्तों ने सदैव स्वयं को सामान्यतम मानव बतलाया है और इसी कारण से वे विशिष्टतम मानव सिद्ध हुए हैं। विज्ञान एवं मनोविज्ञान ने स्पष्ट कर दिया है कि मानव एक है। अतएव, दिव्यता अथवा विशिष्टता के दावों में कोई अन्तर नहीं रह गया। इस स्थिति में, मानवीय धरातल से ही दिए गए सन्देश अधिक प्रेरक सिद्ध हो सकते हैं।

"अब लौं नसानी" की आत्मस्वीकृति प्रायः प्रत्येक हृदय को छूती है। प्रायः प्रत्येक मानव वृत्तिसारूप्यता के कारण कष्ट पाता रहता है। आत्मस्वीकृत ग्लानि मन को पावन करती है। अनेक धर्मों में क्षमायाचना, आत्मस्वीकृति इत्यादि को ठीक ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। जैनधर्म का पर्युषणपर्व क्षमा-याचनापर्व ही है। ईसाई धर्म की एक बड़ी विशेषता उसमें आत्मस्वीकृति को प्रदान की गई महिमा है। रूसो ने अपनी आत्मकथा का नाम ही 'कॉन्फ़ेशन्स' रखा था, जिसका गांधी की 'सत्य के प्रयोग' शीर्षक आत्मकथा पर भारी प्रभाव पड़ा है। "अब न नसैहौं" यदि सीधे कहा जाता, तो लट्ठमार लगता, प्रेरक सिद्ध न हो पाता—वह अहंकार के अस्तित्व के कारण विरोधाभासपूर्ण भी होता। "राम-कृपा" ने उसे शालीनता और महत्ता प्रदान की है। आस्तिकता मानव का स्थूल अहं विगलित कर उसे शालीनता और विनम्रता से सम्पन्न कर देती है। भक्ति तो आस्तिकता को भी शालीनता एवं विनम्रता प्रदान करने वाली शक्ति है। जहाँ तक दास्य भक्ति का सम्बन्ध है, स्थूल अहं का अभाव उसका आदि भी है, अन्त भी। अतएव, शालीनता एवं विनम्रता की सद्वृत्तियों को स्फीत करने वाली दास्यभक्ति आस्था की सर्वोपरि निधि बन गई है।

प्रस्तुत पद की विशुद्ध आत्मपरक कविता पाठक या श्रोता के हृदय का सीधा स्पर्श करती है। परम्परित रूपकों की माला द्वारा तुलसी ने इसे अलंकृत भी किया है—'मणिकांचनयोग' का स्मरण हो आता है। 'तुलसी के परम्परित रूपक' शोध-प्रबंध के विषय हैं। सम्भवतः समग्र संसार का कोई महाकवि परम्परित रूपकों के गुण-परिमाण-गत सृजन में तुलसी की समता नहीं कर सकता। रामचरितमानस एवं विनयपत्रिका परम्परित रूपों की सफल रचना की दृष्टि से सर्वथा अतुलनीय कलाकृतियाँ हैं। 'चिंतामनि' और 'बसैहौं' में श्लेष के प्रयोग भी सूक्ष्म और मनो-हारी हैं।

7. केशव ! कहि न जाई, का कहिए ?

केशव ! कहि न जाइ, का कहिए ?
देखत तव रचना बिचित्र हरि ! समुझि मनहिं-मन रहिए ।।
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोए मिटइ न, मरइ भीति, दुख पाइय एहि तनु हेरे ।।
रबिकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं ।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ।।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै ।
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै ।।[35]

"प्रस्तुत पद विनयपत्रिका का सर्वश्रेष्ठ पद है, संसार-साहित्य में गहनतम कविता का गहनतम उदाहरण । इस कथन के कई कारण हैं । एक, कम-से-कम हिंदी साहित्य में यह अद्भुत रस का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है । दो, कम-से-कम हिंदी-साहित्य में विभावना अलंकार का यह सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है । तीन, कम-से-कम हिंदी-साहित्य में प्रतीक-शैली का यह सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है; इसकी प्रतीक-योजना कबीर की उलटबाँसियों-जैसी दुरूह नहीं है, सूर के दृष्टकूटों-जैसी स्थूल-कल्पनात्मक नहीं है, छायावादियों-जैसी साधारणीकरण-दुर्बल नहीं है । कबीर की कोई उलटबाँसी या सूर का कोई दृष्टकूट इसकी समता नहीं कर सकता । चार, कम-से-कम हिंदी-साहित्य में रूपक-विरोधाभास-समन्वय का यह सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है । घनआनंद विरोधाभास के सम्राट् हैं, वे रूपक-विरोधाभा-ससमन्वय में भी सिद्ध-हस्त हैं; किंतु उनके विरोधाभास का आयाम, उनके व्यक्तित्व के आयाम के सदृश, अत्यंत सीमित है । उनके रूपक पर भी यही बात लागू होती है । किंतु इन चार से भी महत्तर विशेषता इसकी गहन किंतु सरस दार्शनिकता है । यह पद, कम-से-कम हिंदी-साहित्य में, दार्शनिक कविता का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है । दार्शनिक कविता का इतना महान् निदर्शन संसार भर की कविता में कोई और है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है । अपने छोटे-से, कुल आठ पंक्तियों के, घेरे में यह पद अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, सब को समाविष्ट किए हुए है । वामन ने इस पद के रूप में अवतार ले लिया है ! 'सून्य भीति पर चित्र' इत्यादि के द्वारा दार्शनिक-महाकवि पारमार्थिकी, प्रतिभासिकी तथा व्यावहारिकी सत्ताओं की ओर गहन संकेत कर रहा है । अध्यास अथवा विवर्त में मूलभूत 'दुख पाइय' अथवा 'ग्रसइ' इत्यादि की कला-निष्पत्तियों के पश्चात वह तर्क-व्यूह से मुक्ति का, याज्ञवलक्य के 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य.' अथवा सुकरात के 'अपने-

35. विनयपत्रिका, 111

आपको जानो' के सदृश, 'तुलसिदास' परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै' का अर्थान्तरन्यासमय संदेश देता है। ये 'तीन भ्रम' कौन-से हैं? एक, 'कोउ कह सत्य'; द्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद जगत् को सत्य मानते हैं। किंतु जगत् को नितांत सत्य मान लेने पर दर्शन-विरोध तथा भौतिकवाद-प्रतीति की सम्भावनाएँ उठ खड़ी होती हैं। दो, 'झूठ कह कोऊ'; बौद्ध-विज्ञानवाद तथा शांकर-अद्वैतवाद 'सर्वं अनित्यम्' 'सर्वं अनात्मम्' तथा 'जगन्मिथ्या' प्रभृति निष्पत्तियों के द्वारा जगत् को झूठ मानते हैं। किंतु जगत् को नितांत झूठ मान लेने पर निराशावाद की सम्भावनाएँ उठ खड़ी होती हैं। तीन, 'जुगल प्रबल कोउ मानै'; द्वैताद्वैतवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद जगत् को सत्य-असत्य दोनों मानते हैं। द्वैताद्वैतवाद के अनुसार जगत् ब्रह्म से एकरूप भी है और अलग भी, जैसे तरंग सागर से एकरूप भी है और अलग भी। शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार कारण (ईश्वर) और कार्य (विश्व) दोनों ही मायारहित और शुद्ध हैं, किंतु सत्य 'विश्व' और असत्य 'संसार' में भेद है। 'संसार' अहंता और ममता से निर्मित है; इसे नष्ट करना जीव का धर्म है। तुलसीदास 'आपन पहिचानै' के लिए इस सारे तर्क-जाल से मुक्ति का प्रतिपादन करते है।"[36] उनका यह प्रतिपादन कृष्ण के अर्जुन को दिए गए आदेश का स्मरण कराता है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो, नित्यसत्त्वस्थो, निर्योगक्षेम, आत्मवान्॥[37]

न कृष्ण वेदविरोधी हैं, न तुलसी दर्शनविरोधी। किंतु दोनों 'आत्मवान्' अथवा 'आपन पहिचानै' के लक्ष्य को वरीयता प्रदान करते हैं। तर्कजाल साधना का व्यवधान बन जाता है। वह बाँधता है। अतएव, मुक्ति के वार्तावह अपेक्षाकृत सुगम आत्मसाक्षात्कार का परामर्श देते हैं। ज्ञानपाशबद्ध अथवा ज्ञानभारदलित व्यक्ति न महानतम धर्मोपदेशक बन पाता है, न महानतम दार्शनिक, न महानतम वैज्ञानिक, न महानतम कवि, न महानतम कलाकार—इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। संसार को अनित्य, नाशवान, तुच्छ इत्यादि मानने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि जन्म, जीवनयापन, मरण इत्यादि इसी में होते है और इसकी अनित्यता, नश्वरता, तुच्छता इत्यादि के प्रतिपादक भी इसी में, अन्य असंख्य मानवों के सदृश खाते-पीते, घूमते-घामते, बोलते-चालते, जीते-मरते नजर आते हैं। संसार को नित्य, अनश्वर, महत् इत्यादि कहने से भी कोई लाभ नहीं, क्योंकि परिवर्तन विनाश इत्यादि भी सुस्पष्ट तथ्य हैं। संसार को तर्कबल से नित्यानित्य, नश्वरानश्वर, तुच्छातुच्छ इत्यादि कहने से भी कोई लाभ नहीं, क्योंकि इससे द्विधा का उद्भव होता है तथा कोई भी अनुभूति अपूर्ण ही रह पाती है। अतएव,

36. देखिए 'विनयपत्रिका' निबंध।
37. श्रीमद्भगवद्गीता 2/45

सहज भक्तिमार्ग ही उत्तम है, जिसमें मानव मदीयता का त्वदीयता में अर्पण करके निर्द्वन्द्व हो जाता है।

जगत् को मिथ्या, हेय, दुःखमय इत्यादि मानने की प्रथम व्यापक धारणा बौद्ध-दर्शन से सम्बद्ध है, "बुद्ध धर्म के तीन मौलिक सिद्धांत हैं—(1) सर्वमनित्यम्—सब कुछ अनित्य है, (2) सर्वमनात्मम्—समग्र वस्तुएँ आत्मा से रहित हैं, (3) निर्वाणं शान्तम्—निर्वाण ही शांत है।"[38] बुद्ध कहते हैं, "भिक्खवे, दुक्खं अरिय सच्चं। जाति पि दुक्खा, 'जरापि दुक्खा, मरणापि दुक्खं, सोकपरिदेवदोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अपियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो, दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं संख्यित्तेन पंचूपादानक्खन्धापि दुक्खा।। अर्थात् "हे भिक्षुगण, दुःख प्रथम आर्यसत्य है। जन्म भी दुःख है। वृद्धावस्था भी दुःख है। मरण भी दुःख है। शोक, परिदेवना, दौर्मनस्य (उदासीनता), उपायास (आयास, हैरानी) सब दुख है। अप्रिय वस्तु के साथ समागम दुःख है। प्रिय के साथ वियोग भी दुःख है। ईप्सित वस्तु का न मिलना भी दुःख है। संक्षेप में कह सकते हैं कि राग के द्वारा उत्पन्न पाँचों स्कंध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) भी दुःख है।"…"धम्मपद का कथन नितांत युक्ति-युक्त है कि यह संसार जलते हुए घर के समान है, तब इसमें हँसी क्या हो सकती है? और आनंद कौन-सा मनाया जाय?

को नु हासो, किमानंदो, निच्चं, पज्जलिते सति।"[39]

दुःखवादी, निराशावादी तथा पलायनवादी बौद्ध एवं जैन धर्म-दर्शनादि महाभारत के भयावह विनाश की प्रतिक्रिया के प्रतिफलन थे। इनमें क्रिया की सहज सर्वांगपूर्णता का स्थान प्रतिक्रिया की एकांगिता ने ग्रहण कर लिया था। समय ने इन्हें बहुत कुछ बदला भी। जिस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध (1914-19 ई०) की भयावह किंतु तात्कालिक प्रतिक्रिया ने टी० एस० इलियट को पाश्चात्य भूमि को 'नष्ट भूमि' या 'वेस्ट लैण्ड' के रूप में देखने को विवश कर दिया था, यद्यपि वह नष्टभूमिता नितांत अस्थाई थी और, सागर-मंथन में विष के उपरांत अमृत के उद्भव के सदृश, उससे निर्माणभूमिता के नूतन आयाम विकसित हुए (रूस और जर्मनी के राजतंत्र समाप्त हुए, ऑस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य नष्ट हुआ, सोवियत संघ की स्थापना हुई, अनेक देश स्वतंत्र हुए), उसी प्रकार महाभारत की भयावह किंतु परिपक्व प्रतिक्रिया ने बुद्ध को आर्य-भूमि को दुःख-भूमि के रूप में देखने को विवश कर दिया था, यद्यपि यह दुःखभूमिता भी अजातशत्रु के विशाल

38. बौद्ध-दर्शन (बलदेव उपाध्याय), विषय-प्रवेश, पृ० 2
39. बौद्ध-दर्शन, आर्य सत्य, पृ० 64-65

साम्राज्य-निर्माण एवं तद्विकासरूप महान् मौर्य-साम्राज्य के रूप में विकसित हुई थी—महाभारत ने जीवन को सशक्त कर्म-दर्शन प्रदान कर भविष्य का महान् उपकार किया था। बुद्ध इलियट से महत्तर मानव एवं गहनतर चिंतक थे, क्योंकि उन्होंने केवल दु:ख-दु:ख कहकर ही अपना कर्तव्य समाप्त नहीं किया था वरन् अपने ढंग से उसके निराकरण का पथ भी प्रशस्त किया था, जिस पर आज भी कोटि-कोटि मानव चल रहे हैं, जबकि इलियट 'वेस्ट लैण्ड' लिखकर ही रह गए—वे और करते भी क्या, क्योंकि उनके जीवनकाल में ही वेस्टलैण्ड बेस्टलैण्ड में परिणत हो गया था! बुद्ध का दर्शन प्रतिक्रियाजन्य था; सहज नहीं, स्वस्थ नहीं। किंतु उसमें साधना का चिरंतन तत्त्व विद्यमान था। इलियट का दर्शन नितांत तात्कालिक प्रतिक्रिया ही का परिणाम था, जिसे स्थिर रख सकना असम्भव था। फिर भी, इलियट ने, अस्थाई सत्य का ही सही, दर्शन गहराई से किया था। इसलिए, उन्होंने कम-से-कम दो दशाब्दियों तक दुनिया को झकझोरे रखा। बुद्ध महापुरुष थे, महादार्शनिक थे। इलियट महाकवि थे, युगकवि थे—भले ही, चिरकवि रहे हों। बहुत छोटे स्तर पर धर्मवीर भारती ने द्वितीय विश्वयुद्ध (1939-45 ई०) की विनाशमयी विभीषिका पर, इलियट की नकल में, 'अंधायुग' लिख मारा। वे यह भूल गए कि इलियट की दृष्टि अतीत से उधार लेने पर विवश नहीं हुई थी, उसे वर्तमान को वर्तमान के रूप में देखने और कहने और प्रभावित करने का सामर्थ्य प्राप्त था—वह अतीत को अपने संकीर्ण वर्तमान-रंग से लीपने-पोतने से मुक्त थी; यही नहीं, अतीत के प्रति सम्मानयुक्त थी। 1945-60 ई० के नितांत अस्थायी शांति प्रचार-युग का प्रतिनिधित्व करने वाली कृति 'अंधा युग' 1962 ई० में भारत के चीन द्वारा पिटने, जवाहरलाल नेहरू के "हम मूर्ख के स्वर्ग में रह रहे थे" की आत्मस्वीकृति करने और शून्या-दर्शवादी के रूप में असमय काल-कवलित होने के साथ ही निष्प्राण एवं निष्प्रभाव हो गई, क्योंकि द्वितीय विश्वयुद्ध ने मानवजाति के विकास की दिशा में सर्वाधिक निर्णायक परिणाम प्रदान किए। 'अंधा युग' बाण्डुंग-युग (1955 ई० के कुछ उधर और कुछ इधर) की एक क्षुद्र स्मारिका मात्र बनकर रह जाने वाली कृति सिद्ध हुई। उसका साहित्य या जीवन पर कोई प्रभाव न पड़ सका, भले ही अपने रचयिता के भौतिक उत्कर्ष के कारण वह यत्र-तत्र पाठ्यक्रमों में लग गई हो। उसमें अतीत को वीभत्स रूप में प्रस्तुत करने का जो आयास किया गया है, वह विगर्हणीय भी है। 'अंधा-युग' की महाभारतकाल और द्वितीय विश्वयुद्ध काल की बेमेल खिचड़ी बहुत ही भूखे व्यक्ति के अतिरिक्त किसी को भी नहीं पच सकती। प्रतिक्रियाजन्यता की सीमाएँ होती हैं। बौद्ध-दर्शन के चार प्रमुख सम्प्रदायों के विभिन्न दृष्टिकोण इस तथ्य के प्रमाण हैं—

"वैभाषिक तथा प्राचीन मन—संसार सत्य; निर्वाण सत्य।
माध्यमिक—संसार असत्य; निर्वाण असत्य।
सौत्रांतिक—संसार सत्य; निर्वाण असत्य।
योगाचार—संसार असत्य; निर्वाण सत्य।"[40]

बौद्ध दर्शन मूलतः नास्तिक दर्शन था, जिसमें परमात्मा अथवा आत्मा का निषेध था। शंकराचार्य का अद्वैतवाद आस्तिक दर्शन है, जिसमें परमात्मा अथवा आत्मा को सर्वोपरिता प्राप्त है। किंतु शंकराचार्य पर बुद्ध का पर्याप्त प्रभाव था। उन्होंने बुद्ध को 'योगिनां चक्रवर्ती' कहा था। उनके जगन्मिथ्यावाद पर बुद्ध और परवर्ती बौद्धों के दर्शन का प्रभाव स्पष्ट है। इसीलिए, उनके विरोधियों ने उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' तक कह डाला था, जो अनुचित था, क्योंकि उनके आधार ग्रंथ उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता थे। फिर भी, शंकराचार्य जगत् को मिथ्या अवश्य मानते हैं, "जगत् सत्य है, या असत्य? अद्वैतवेदांत का स्पष्ट उत्तर है—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है।"[41]

शंकराचार्य का तीव्र विरोध हुआ। काश्मीरीय शैवदर्शन, जो प्रत्यभिज्ञादर्शन माहेश्वरदर्शन, आनंदवाद, समरतावाद, शैवागमवाद, ईश्वराद्वयवाद नामों से भी प्रसिद्ध है, चैतन्यस्वरूप शिवतत्त्व या आत्मतत्त्व को सर्वव्याप्त मानता है। उसके अनुसार, "समस्त विश्व इसी तत्त्व का अभिन्न रूप है। परमशिव स्वयं छत्तीस तत्त्वों के रूप में जगत् में भाषित होता है।"[42] भास्कर के भेदाभेदवाद के अनुसार भी, "एकमात्र तत्त्व ब्रह्म है। वही 'परिणाम' के द्वारा जगत् के रूप में परिणमित हो जाता है। 'प्रपंच' ब्रह्म का धर्म या एक 'अवस्था' है। इसलिए, ब्रह्म और जगत् की सत्ता में कोई भेद नहीं है।"[43] रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार, "ईश्वर अपनी इच्छा से सकल जगत् का कारण-स्वरूप है। संसार को उत्पन्न करने का एकमात्र प्रयोजन भगवद्-लीला है। संसार का संहार करना भी भगवान् की लीला है। यही ईश्वर स्वयं जगद्रूप में परिणत हो जाता है।"[44]

इस प्रकार, तुलसी ने 'केशव! कहि न जाइ, का कहिए?' पद की आठ पंक्तियों में बुद्ध और बौद्ध-दर्शन के वैभाषिक, माध्यमिक, सौत्रांतिक तथा योगाचार नामक चारों प्रधान सम्प्रदायों के दर्शनों—प्रधानतः विज्ञानवाद, शंकराचार्य और उनके जगन्मिथ्यावाद, अभिनवगुप्त इत्यादि काश्मीरीय शैवों

---

40. बौद्ध-दर्शन, बौद्ध-दर्शन का विकास, पृ० 193
41. श्री शंकराचार्य 18/257
42. भारतीय दर्शन 13/382
43. वही, 15/402
44. वही, 16/413

और उनके ईश्वराद्वयवाद, भास्कर और उनके भेदाभेदवाद, रामानुजाचार्य और उनके विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य और उनके द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य और उनके द्वैताद्वैतवाद, वल्लभाचार्य और उनके शुद्धाद्वैतवाद इत्यादि को संपृक्त कर दिया है। भारतीय दर्शन की कोई भी प्रमुख विचारधारा इस पद में अपना कोई-न-कोई बिन्दु प्राप्त कर सकती है। किंतु तुलसी ने इतने चमत्कारपूर्ण ऊहापोह को नहीं अपितु सरल-सुगम आत्मसाक्षात्कार को वरीयता प्रदान की है। इस पद में भक्ति का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं प्राप्त होता, यद्यपि दार्शनिक त्रिधा का परिहार इसी का संकेतक माना जा सकता है। इस दृष्टि से भी यह पद तुलसी-साहित्य में सर्वथा विलक्षण है।

"कहि न जाइ, का कहिए ?" "शब्द "अबिगत गति कछु कहत न आवै"[45] का स्मरण कराने लगते हैं। "सून्य भीति" माया के लिए सर्वोत्तम प्रयोग है—मा (नहीं) + या (जो) अर्थात् जो मरुमरीचिका के सदृश मिथ्या होने पर भी सत्य प्रतीत होती है। माया (शून्य) की भित्ति पर जगत् (चित्र) अंकित है—स्वप्नलोक के सदृश। (बौद्ध शून्यवाद का स्मरण अनायास ही आ जाता है! शांकर मायावाद का स्मरण अनायास ही आ जाता है!) किंतु आश्चर्य है कि यह चित्र रंगहीन है। इस चित्र के चितेरे ने इसे तूलिका तथा रंगों के बिना ही, संकल्प मात्र से, बना डाला है। "रंग नहिं" में श्लेष भी है—यह चित्र बेरंग है अर्थात् तत्त्वतः दुःखमय है। इसका चित्रकार निराकार है। अन्य चित्र होने पर मिट जाते हैं, किंतु यह नहीं मिटता।" धोए मिटइ न" में अविद्याजन्य संस्कारों के लगभग अमिट होने की ओर संकेत भी प्रतीत किया जा सकता है। अन्य चित्र जड़ होते हैं, जिन्हें अंतबोध या अंतभय नहीं सताता, किन्तु इसे सताता है। अन्य चित्र अपनी कला के दर्शक को हर्षित करते हैं, किंतु यह दुःखी करता है। यहाँ बुद्ध के दुःखवाद का स्मरण आए बिना नहीं रहता! शुष्क सैकत राशि पर सूर्य-कर जो "तरल तरंगें" उत्पन्न करते हैं, उनमें महाविकराल मकर (काल) निवास करता है, जो मुखरहित होने पर भी जड़-चेतन पदार्थों एवं प्राणियों को ग्रास बनाता रहता है। किंतु केवल उन्हीं को, जो रविकरनीर के पिपासु हैं; सबको नहीं। यहाँ तुलसी के उस दोहे का स्मरण आता है, जिसमें वे शिवधनुपोत पर स्थित सबके रामबाहुबलसागर में डूब जाने का वर्णन तो कर जाते हैं, किंतु जब विश्वामित्र, जनक, सीता इत्यादि का स्मरण आता है, तब यह भी अंकित कर देते हैं कि वे ही डूबे, जो पहले मोहवश उस पर चढ़े थे; जिन्होंने मोहयात्रा ही नहीं की, उनके डूबने का प्रश्न ही नहीं! —

> संकरचापु जहाजु, सागरु रघुबरबाहुबलु।
> बूड़ सो सकल समाजु, चढ़ा जो प्रथमहिं मोहबस ।।[46]

45. सूरसागर में।
46. रामचरितमानस 1/261

जिसे राम का दासत्व-वरदान प्राप्त है, उसे आशा-तृष्णा से क्या प्रयोजन ? जिसे गंगाजल प्राप्त है, उसे मृगजल से क्या मोह ?—

मोर दास कहाइ नर आसा । करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ।।[47]

जिसे राम ने अपना लिया, उस पर माया कैसे व्याप्त होगी ? जिसे सम्राट् अपना चुके हैं, उस पर नर्तकी क्या रोब गालिब करेगी ? —

तब ते मोहि न ब्यापी माया ! जब ते रघुनायक अपनाया ।।[48]

आनंदवादी, भेदाभेदवादी, विशिष्टाद्वैतवादी इत्यादि इस जगत् रूपी चित्र को सत्य बतलाते हैं; विज्ञानवादी, शून्यवादी, मायावादी इत्यादि इसको मिथ्या बतलाते हैं; द्वैताद्वैतवादी इसे दोनों ही बतलाते हैं; शुद्धाद्वैतवादी 'सत्य विश्व' और 'असत्य संसार' के निरूपण में इसे दोनों ही बतलाते प्रतीत होते हैं। अत-एव इस तर्कजाल में फँसनेवाला मुक्त नहीं हो सकता। सत्य, असत्य और उभय तीनों को भ्रम मानने वाला अर्थात् तर्कजाल से मुक्त (सहज भक्त) ही आत्म-साक्षात्कार कर सकता है।

यह विलक्षण पद तुलसी ने विशुद्ध दार्शनिक शैली में लिखा है। इस पर भक्ति का प्रभाव केवल ग्रन्थ एवं ग्रंथकार के समग्रत्व के आधार पर ही प्रति-पादित किया जा सकता है। अपने विशद दर्शन, सूक्ष्म प्रतीकविधान, गहन अलं-करण और अप्रतिभ शैली-शिल्प के कारण यह पद संसार-साहित्य का एक सर्वोच्च निदर्शन माना जा सकता है। संयोगात्, विनयपत्रिका में इसका क्रम भी एक-एक एक (एक सौ ग्यारह) है—काव्य की दृष्टि से एक, कला की दृष्टि से एक, दर्शन की दृष्टि से एक !

8. माधव ! मोह-फाँस क्यों टूटै !

माधव ! मोह-फाँस क्यों टूटै ?
बाहिर कोटि उपाय करिअ, अभ्यंतर-ग्रंथि न छूटै ।।
घतपूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिंब दिखावै ।
ईंधन अनल लगाय कलपसत औटत नास न पावै ।।

47. रामचरितमानस 7/45/3
48. वही, 7/88/3

तरु-कोटर महँ बस विहंग, तरु काटे मरै न जैसे।
साधन करिअ बिचारहीन, मन सुद्ध होइ नहिं तैसे।
अंतर मलिन, बिषय मन अति, तन पावन करिअ पखारे।
मरइ न उरग अनेक जतन बलमीक बिबिध बिधि मारे।
तुलसिदास हरि-गुरु-करुना बिनु बिमल बिबेक न होई।
बिनु बिबेक संसार-घोर-निधि पार न पावै कोई।।[49]

उच्चतम कोटि के दृष्टान्त, उदाहरण तथा उत्कृष्ट कोटि के पुनरुक्तवदाभास (अंतर मलिन, बिषय मन), विनोक्ति,अर्थान्तरन्यास इत्यादि से अलंकृत, रूपक-शैली में रचित प्रस्तुत पद में तुलसी ने, अंतर्साधना का प्रतिपादन करते हुए, बहिर्साधना की निस्सारता सिद्ध की है। बहिर्साधना की कबीर जैसी अक्खड़ तथा नीरस विगर्हणा तुलसी ने कहीं नहीं की, क्योंकि वे कर्मकाण्ड, तीर्थाटन इत्यादि की व्यापक शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक उपयोगिताओं से समग्रत: अभिज्ञ थे। तुलसी मरुधर्मों के वार्तावहों के सदृश आदेशात्मक शैली का प्रयोग लगभग नहीं करते हैं। उनका पाठक या श्रोता, चाहे राजा हो या रंक, विद्वान् या मूर्ख, संस्कारी या असंस्कारी, प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। रेगिस्तानी पैगम्बरों की नरकभयमूलक आदेशात्मक शैली आदिम और प्राचीन कालों के लिए ही उपयुक्त थी, निरक्षर और दुर्बल वर्गों को ही प्रभावित कर सकती थी। कबीर इत्यादि ने, अपनी विशिष्ट परिस्थितियों के कारण उसी का अनुकरण किया था। तुलसी ने उपनिषदों, पुराणों इत्यादि की ऋषि-मुनियों और कवि-कोविदों के द्वारा व्यक्त शालीन शैली का प्रयोग ही अधिक किया है। इसीलिए, उसका प्रभाव अधिक विशद और अधिक गम्भीर पड़ता है। उनका प्रस्तुत अन्तसाधना मंडन तथा बहिर्साधना-खंडन नितान्त गम्भीर तथा शालीन है।

मोह-पाश से मुक्ति तभी होगी, जब ठीक उसे ही काटा जाए। अन्य उपाय व्यर्थ है। बाह्य उपादानों से आभ्यंतर (चित् और जड़ की) ग्रंथि नहीं खुल सकती। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में इस कठिन चिज्जड़ग्रंथि के जीव की तमाच्छन्न दशा में न खुल सकने और ज्ञानदीप के प्रकाश में खुल सकने का महान् वर्णन किया गया है। इस पद में तीन निदर्शनों के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि बाह्य उपचार आभ्यंतर रुज का निराकरण नहीं कर सकते। आभ्यंतरग्रंथि तभी छूटेगी, जब स्वयं उसे ही देखा, परखा, समझा और खोला जाए। यह तभी सम्भव है, जब हरि तथा गुरु की कृपा से प्राप्त स्वच्छ-पावन विवेक द्वारा साधना को सम्पन्न किया जाए। विवेक परमज्ञान है—सत् तथा असत् तत्त्वों से मिश्रित

---

49. विनयपत्रिका 115

जगत् में सत् को पृथक् कर सकने और अपना सकने का सम्यक् बोध। दो के मिश्रण से एक, केवल एक, को समझ सकनेवाला प्रज्ञासम्पन्न बोध—

कहत कठिन, समुझत कठिन, साधत कठिन बिबेक।[50]

बुद्धि, मति, मनीषा, धृति, मेधा, प्रज्ञा के सोपानों को पार करने के उपरांत ही नीर-क्षीर के पारखी हंस के प्रतीक विवेक के अपवर्ग-सौध में प्रवेश हो पाता है। बुद्धि समझती है, मति परखती है, मनीषा मनन करती है, धृति पकड़ती है, मेधा धारण करती है, प्रज्ञा सुनिश्चित करती है। प्रकर्षप्राप्त ज्ञान को ही प्रज्ञा कहते हैं। ज्ञान का पुंलिगवाची परुषत्व प्रज्ञा की स्त्रीलिंगवाची सौम्यता में शीतल हो जाता है। किंतु विवेक का अच्युत स्वरूप इन सबसे ऊपर है। वह सत् के सम्यग्बोध का पर्यायवाची है—

अस बिबेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहिं मनु राता।।[51]

बिना विवेक के घोर संसार-सागर का अवतरण सम्भव नहीं। तुलसी ने प्रस्तुत पद में इस स्थापना को सुंदर और कलात्मक रूप में व्यक्त किया है। उनका स्तर इसे व्यक्त करने के उपयुक्त था। व्यक्तित्व एवं कृतित्व प्रायशः अन्योन्य होते हैं। यद्यपि अपवाद प्राप्त हो सकते हैं, तथापि कृति कृती की छवि उभार देती ही है। इस संदर्भ में, डॉ० नगेन्द्र का मैथिलीशरण पर रचित उत्कृष्ट निबंध एवं जैनेन्द्र का उत्कृष्टतर संस्मरण[52] याद आ जाता है। डॉ० नगेन्द्र ने मैथिलीशरण के सम्बन्ध में जो-कुछ कहा है, वह तुलसी पर और-भी-अधिक लागू होता है, क्योंकि महान व्यक्ति होते हुए भी, मैथिलीशरण "युगलाभ-सजग"[53] तो थे ही, जबकि तुलसी ने युग से कोई लाभ नहीं उठाया था और जीवन में सुदीर्घ काल तक ऐसा भीषण संघर्ष किया था, जैसा संसार के इतिहास में सम्भवतः उन-जैसे महत्तम-स्तरीय किसी व्यक्ति ने नहीं किया—जन्म से ही परित्यक्त, भिक्षुक, अपमानित और बहुत बाद तक परिहसित ! उनमें इतनी शक्ति थी कि उन्होंने स्वयं यह-सब स्पष्ट रूप से व्यक्त कर डाला है—कवितावली, दोहावली, विनयपत्रिका और रामचरितमानस में व्यक्त वे सारे तथ्य अब विश्वविश्रुत हो चुके हैं।

अपने स्तर पर और अपने संदर्भ में कोई कह सकता है, "यदि यह विश्व इंद्रजाल ही है, तो उस इंद्रजाली की अनंत इच्छा को पूर्ण करने का साधन—यह

50. रामचरितमानस 7/118 ख/1
51. वही, 1/6/1
52. 'दद्दा: एक महान् व्यक्तित्व' एवं 'मैथिलीशरण गुप्त'।
53. आलोचना की कुछ नई दिशाएँ 3/84-85

मधुर मोह चिरजीवी हो और अभिलाषा से मचलने वाले भूखे हृदय को आहार मिले।"[54] यह कथन निस्सार नहीं है। किंतु जिसने जीवन में सुदीर्घ अंतर्बाह्य संघर्ष किए हैं, कराल काल के विकट दंष्ट्र तोड़े हैं, वह जेता कलाकार, विशेषत: जीवन की संध्या में, मोह-पाश को उच्छिन्न करने का प्रयास अवश्य करता है, "तीव्र अंतस्संघर्ष का एक प्रसन्न परिणाम भक्ति है। उसके अन्य परिणाम देश-प्रेमादि हैं। हिंदी के भक्तिकाव्य की अतुलनीय महानता का सबसे बड़ा कारण उसके महान् स्रष्टाओं का जीवनगत संघर्ष है। महान् संघर्ष के बिना महान् साहित्य की सृष्टि सम्भव नहीं है।"[55] जो जूझा है, वह जानता है कि जूझना कितना कठिन होता है! जिसने देखा है, वही ठीक-ठाक समझ सकता है!

मोह अध्यासजन्य प्रतीति का प्रतिफलन है। रज्जु सर्प बनकर, भयातिरेक में, प्राण तक ले सकता है। मोह भी अपनी मिथ्या प्रतीति में यातना देता रहता है, कभी-कभी प्राण भी ले लेता है।

इस रोग का बाह्योपचार व्यर्थ है। इसे केवलमात्र आभ्यंतरोपचार (विवेक) द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है। तुलसी ने बिना किसी अहं या उद्वेग के ही इस महान् सत्य को अतीव प्रशांत-गहन रूप में व्यक्त किया है।

9. माधव ! असि तुम्हारि यह माया

माधव ! असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय, तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया॥
सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइए, दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोहजनित भव-दारुन-बिपति सतावै॥
ब्रह्म-पियूष मधुर सीतल, जो पै मन सो रस पावै।
तौ कत मृगजलरूप-बिषयकारन निसि-बासर धावै॥
जेहिके भवन बिमल चिंतामनि, सो कत काँच बटौरे।
सपने परबस, परै जागि, देखत केहि जाइ निहोरै॥
ग्यान, भगति, साधन अनेक, सब सत्य, झूँठ कछु नाहीं।
तुलसीदास हरिकृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं॥[56]

---

54. स्कन्दगुप्त 1/3/35
55. हिंदी-साहित्य का नवीन इतिहास 3/140
56. विनयपत्रिका 116

माया की विलक्षणता सर्वविज्ञात है। परम दार्शनिक शंकराचार्य तक उसकी विलक्षणता को स्वीकार कर चुके हैं, "त्रिगुणात्मिका माया ज्ञानविरोधी भावरूप पदार्थ है। भावरूप कहने से अभिप्राय है कि वह अभावरूपा नहीं है। माया न तो सत् है और न असत्। इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। माया को सत् नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्मबोध से उसका बाध होता है। सत् तो त्रिकालाबाधित होता है। अतः यदि वह सत् होती, तो कभी बाधित नहीं होती। उसकी प्रतीति होती है। इस दशा में उसे असत् कहना भी न्यायसंगत नहीं, क्योंकि असत् वस्तु कभी प्रतीयमान नहीं होती (सच्चेन्न बाध्यते, असच्चेन्न प्रतीयते)। इस प्रकार माया में बाधा तथा प्रतीति उभयविध विरुद्ध गुणों का सदभाव रहने से माया को अनिर्वचनीय ही कहना पड़ता है।"[57] माया के अजेय व्यूह के कारण ही ज्ञान, योग इत्यादि साधन कठिन बने हुए हैं। भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से बढ़कर बताया गया है, "सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।"[58] इसका कारण भक्ति का व्यूह-विमुक्त शतशः समर्पित प्रपत्तिवाद है, जो मदीयता पर नहीं अपितु तदीयता पर निर्भर करता है। दास्यभक्ति में जो प्रपत्ति है, सख्य-भक्ति में वही पुष्टि है। जो प्रपन्न है, उसे चिंता कैसी? उसका भार तो शरणदाता पर है। माता की गोद में किलकते शिशु के सदृश वह शतशः सुरक्षित है। जो पुष्ट है, उसे भय कैसा? इसीलिए, भक्तिदर्शन में आराध्य की दया या करुणा ही प्रधान तत्त्व मानी जाती है। तुलसी इत्यादि सारे भक्त आराध्य की दया को ही मुक्ति या सम्यग्बोध का सर्वोपरि उपादान मानते हैं। उनकी ऐसी मान्यता सर्वथा साधार है, "मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्।"[59]

जीव को जब तक परमात्मा की दया नहीं प्राप्त होती, तब तक उसे माया की वास्तविक दशा का बोध नहीं होता और वह मरुमरीचिका में मृग के समान कष्ट पाता है। किंतु यदि जीव पर परमात्मा की दया हो जाए, तो वह ब्रह्म-पीयूष का पान कर आनंदित हो जाता है, "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।"[60] यदि जीव को परमात्मा के कारुण्य से ब्रह्मामृत प्राप्त हो जाए, तो वह मरुजल के आभास से विकल होकर व्यर्थ की दौड़धूप क्यों करे? यदि जीव परमात्मा की दया से माया के व्यूह का भेदन कर अपने चिरावास ब्रह्म में स्थित हो जाए, तो वह अमृतत्व प्राप्त कर लेता है, क्योंकि ब्रह्मसंस्थत्व ही अमृतत्व है, "ब्रह्मसंस्थोऽमृ--

57. श्रीशंकराचार्य 18/249
58. नारद-भक्तिसूत्र 4/25
59. शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र 2/1/49
60. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/7

तत्वमेति ।"[61] अथवा "तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् ।"[62]

जिसके भवन में निर्मल चिंतामणि है, वह काँच के टुकड़े क्यों बटोरेगा ? यह चिंतामणि भक्ति ही है —

रामभगति-चिंतामनि सुंदर । बसइ गरुड़, जाके उर-अंतर ।।
परम-प्रकास-रूप दिन-राती । नहिं कछु चहिअ दिया-घृत-बाती ।।[63]

जो स्वप्न में किसी का क्रीतदास हो गया है और मुक्ति के हेतु गिड़गिड़ा रहा है, वह यदि जग जाए, तब किसी से क्यों गिड़गिड़ाएगा ? इसी प्रकार, यदि अध्यासग्रस्त व्यक्ति बोध प्राप्त कर ले, तो मुक्त कैसे न होगा ?

यदि मन ब्रह्मरससिक्त हो जाए, मन-भवन चिन्तामणि से जाज्वल्यमान् हो जाए, स्वप्नगत दासदशा जागृतिगत बोधदशा प्राप्त कर समाप्त हो जाए, तो स्वभावतः अध्यासगत तृष्णा भी समाप्त हो जाए, अज्ञानांधकार दूर हो जाए, आरोपित व्यथा नष्ट हो जाए । तब जीव कष्टों की ओर न दौड़े । मलिक मुहम्मद जायसी ने भी लिखा है—

जेई वह पाई छाहँ अनूपा । फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा ।।[64]

किंतु जब ऐसा हो, तब न ! साधन अनेक हैं—ज्ञान, योग, भक्ति, कर्म । ये सब तत्त्वतः सत्य हैं । इनमें कोई भी झूठा नहीं है । किंतु 'मैं-मेरा-तू-तेरा' को ही सत्य मान बैठने का मायाजन्य भ्रम इनके तत्त्व को हृदयंगम नहीं करने देता । फिर भी, तुलसी निराश नहीं हैं । उन्हें विश्वास है कि हरिकृपा मायाजन्य भ्रम का नाश कर सकने में सर्वथा सक्षम है और हरि कृपालु हैं, अतः वह अवश्य प्राप्त हो सकती है ।

प्रस्तुत पद तुलसी की उदारता अथवा समन्वयशीलता का एक सुंदर उदाहरण है । वे साधन के विवाद में पड़कर साध्य की उपेक्षा कहीं नहीं करते । रामचरित-मानस में वे यथास्थान ज्ञान, योग, कर्म का भी सादर निरूपण करते हैं और ज्ञान तथा भक्ति में अभेदता स्थापित करते हैं—

भगतिहि-ग्यानहि नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भव-संभव खेदा ।।[65]

---

61. छांदोग्योपनिषद् 2/23/2
62. शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र 1/1/3
63. रामचरितमानस 7/119/2-3
64. पद्मावत 2/2/7
65. रामचरितमानस 7/114/13

जहाँ तक विनयपत्रिका का सम्बन्ध है, इस दर्शनकाव्य में तुलसी लगभग समग्र अद्वैतवादी सिद्ध होते हैं। अद्वैतवादी ज्ञान की अवहेलना नहीं कर सकता। अतएव, तुलसी ने विनयपत्रिका में ज्ञान को अधिकतर महत्त्व प्रदान किया है। विनयपत्रिका में भक्ति-ज्ञान अर्द्धनारीश्वर के सदृश अभिन्न, एक और अखण्ड हो गए हैं। अन्यत्र भी उन्होंने इसी स्वर में गाया है—

हे हरि ! कवन जतन भ्रम भागै ?
देखत, सुनत बिचारत यह मन, निज सुभाउ नहिं त्यागै ।।
भगति, ग्यान, बैराग्य, सकल साधन यहि लागि उपाई।
कोउ भल कहउ, देउ कछु, असि बासना न उर ते जाई ।।···
हृषीकेस सुनि नाउँ, जाउँ बलि, अति भरोस जिय मोरे।
तुलसिदास इंद्रिय-संभव दुख, हरे बनिहि प्रभु तोरे ।।[66]

इस पद के हृषीकेश (इन्द्रियों के स्वामी) शब्द में सार्थक विशेष्य के बहुत ही सटीक प्रयोग के कारण परिकरांकुर अलंकार अतीव प्रभावी रूप में प्राप्त होता है। अलंकार-प्रयोग की गम्भीरतम सफलता की दृष्टि से विनयपत्रिका हिंदी-साहित्य की एक अन्यतम कलाकृति है।[67]

10. हे हरि ! कस न हरहु भ्रम भारी ?

हे हरि ! कस न हरहु भ्रम भारी ?
जद्यपि मृषा, सत्य भासै, जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ।।
अर्थ अबिद्यमान जानिय, संसृति नहीं जाइ गोसाईं।
बिन बाँधे, निज हठ सठ परबस पर्‌यो कीर की नाईं ।।
सपने ब्याधि, बिबिध बाधा, जनु मृत्यु उपस्थित आई।
बैद अनेक उपाय करै, जागे बिनु पीर न जाई ।।···
बहु उपाय संसार तरन कहँ, बिमल गिरा श्रुति गावै ।
तुलसिदास मैं-मोर गए बिनु जिउ सूख कबहुँ न पावै ।।[68]

---

66. विनयपत्रिका 119/1-4, 9-10
67. देखिए 'विश्वकवि तुलसी और उनके प्रमुख काव्यों का 'विनयपत्रिका में अलंकार' शीर्षक निबंध।
68. विनयपत्रिका 120/1-6, 9-10

विनयपत्रिका अद्वैतभक्तिकाव्य है। इसके अनेक विशुद्ध अद्वैत भक्तिपरक पदों में से एक इस सुंदर पद का आरम्भ परिकरांकुर अलंकार के अतीव मनोहारी प्रयोग के साथ किया गया है, "हे हरि, तुम्हारा नाम ही हरने वाला है; तब तुम मिथ्या जगत् को सत्य मानने का मेरा भ्रम क्यों नहीं हरते ?" 'हरि' शब्द में श्लेष के कारण ही इस उत्कृष्ट परिकरांकुर की सृष्टि हो सकी है। विशेषोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, विनोक्ति, अर्थांतर न्यास इत्यादि अन्य अलंकारों के भी सुन्दर प्रयोग प्राप्त होते हैं। यदि कोई चाहे तो 'श्रुति' शब्द में श्लेष की प्रतीति करते हुए, "श्रुति गावै" में विरोधाभास भी मान सकता है। अनेक अनुप्रास तो तुलसी के प्रत्येक पद में अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। अतएव, सार्थक अलंकरण की दृष्टि से, अनेकानेक पदों के साथ-साथ, यह एक उल्लेखनीय पद है। अलंकार वाणी के सहज आभरण के रूप में प्रयुक्त हों, तो काव्य की शोभा में वृद्धि अवश्य होती है। कविवर पण्डित सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में, "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं; पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।"[69] तुलसी-साहित्य में पंत की अलंकार-परिभाषा आकार प्राप्त करती है।

"जद्यपि मृषा सत्य भासै" अद्वैतवाद (ज्ञान) का उद्गार है तथा "जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी" भक्ति का। एक पंक्ति में ही ज्ञान-भक्ति अर्द्धनारीश्वरवत् संपृक्त हैं ! तुलसी साधारणीकरण के व्यापक सामर्थ्य से ओत-प्रोत विचार व्यक्त करते हैं कि यथार्थ में जगत् को मिथ्या समझता हूँ, किंतु अस्तित्ववाद से परित्राण नहीं प्राप्त कर पाता। इस प्रकार, बिना किसी के द्वारा बाँधे गए भी, मैं नलिनी के शुक के सदृश अज्ञानवश बँधा पड़ा हूँ। तुलसी को शुक की बद्धता का उपमान सूर से भी अधिक प्रिय है। वे इसका बारम्बार प्रयोग करते हैं। रामचरितमानस का यह प्रयोग तो अत्यधिक प्रसिद्ध है ही—

सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।[70]

जीव को किसी ने बाँधा नहीं है। वह माया का दास स्वयं बना है। इस संदर्भ में, शुक एवं वानर की बद्धता के उपमान सर्वोत्तम हैं, सार्थकतम हैं।

स्वप्नजन्य पीड़ा केवल जागृति नष्ट करती, चिकित्सा नहीं। अभ्यासजन्य कष्ट बाह्योपचार नहीं दूर कर सकते। उन्हें आभ्यंतर जागृति ही दूर कर सकती

69. पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ 32

70. रामचरितमानस 7/116/3

है। विनयपत्रिका में तुलसी ने बारम्बार जागृति का संदेश दिया है—

जागु, जागु जीव जड़ ! जोहै जग-जामिनी।
देह-गेह-नेह जानु जैसे घन-दामिनी॥
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति-संताप रे।
बूड्यो मृगबारि, खायो जेवरी को साँप रे॥
कहैं बेद-बुध, तू तो बूझि मन माहिं रे।
दोष-दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे॥
तुलसी जागे ते जाय तात तिहूँ ताय रे।
राम-नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे॥[71]

जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव,
जागि, त्यागि मूढ़ताऽनुराग 'श्रीहरे।[72]...

जेहिं निसि सकल जीव सूतहिं, तव कृपापात्र जग जागै।[73]

सुभग सेज सोवत, सपने बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव न पार पाव सो, जब लगि आपु न जागै॥[74]

संसार-सागर के तरने के उपाय अनेक हैं—ज्ञान है, योग है, भक्ति है, कर्म है, जैन एवं बौद्ध प्रभृति मूलतः नास्तिक धर्मों के सदाचारमूलक दर्शन हैं, यह है, वह है; किंतु मूल समस्या माया के चक्रव्यूह-भेदन की है। केवल अध्यात्म-निरूपण से माया (मैं-मेरा, तू-तेरा) के चक्रव्यूह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जब तक माया नहीं जाती, तब तक सारे साधन प्रभावहीन ही सिद्ध हो सकते हैं। अतएव, सर्वोपरि साधन मैं-मेरापन नष्ट करना है। तुलसी ने माया की सर्वोत्तम परिभाषा रची है—

मैं अरु मोर, तोर-तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव-निकाया॥[75]

---

71. विनयपत्रिका 73
72. वही, 74/1-2
73. वही, 119/5
74. वही, 121/5-6
75. रामचरितमानस 3/14/2

11. मैं हरि, साधन करइ न जानी

मैं हरि, साधन करइ न जानी ।
जस आमय भेषज न कीन्ह तस, दोष कहा दिरमानी
सपने नृप कहँ घटै बिप्रबध, बिकल फिरै अघ लागे ।
बाजिमेध सतकोटि करै, नहिं सुद्ध होइ बिनु जागे ।।
स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक प्रगट होइ अबिचारे ।
बहु आयुध धरि, बल अनेक करि, हारहिं मरहि न मारे ।।
निज भ्रम तें रबिकरसंभव-सागर अति भय उपजावै ।
अवगाहत, बोहित, नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै ।।
तुलसिदास जग आपुसहित जब लगि निरमूल न जाई ।।
तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय, तरिय नहिं भाई ।।[76]

यह उत्कृष्ट अद्वैतपरक पद अनेक सुन्दर दृष्टांतों एवं अर्थान्तरन्यास से संपन्न है । वस्तुत: यह पद भी तुलसी के जागरणगीतों में एक है । 'विनयपत्रिका में तुलसी के जागरण-गीत' एक पृथक् निबंध के विषय हैं । इसमें विवर्त के दार्शनिक निदर्शन अतीव प्रभावी हैं । "जैसा रोग, वैसा उपचार" एक सर्वथा उचित वाक्य है । किंतु तुलसी कहते हैं कि मैं ऐसा नहीं कर सका, अत: चिकित्सा पर दोषा-रोपण व्यर्थ है । रोग आंतरिक है, किंतु चिकित्सा मैं बाह्य की करता रहा हूँ । अत: निदान कैसा ? विनयपत्रिका पर शांकर वेदांत का भारी प्रभाव पड़ा है । पद-पद पर प्रतिभासिकी सत्ता के व्यामोह में पड़े जीव के पारमार्थिकी सत्ता से दूर हो जाने के वर्णन प्राप्त होते हैं । सम्भवत: यह तुलसी की अद्वैतवादी विद्वान् मधुसूदन सरस्वती से मैत्री का परिणाम है । डॉ० उमेश मिश्र लिखते हैं, "पार-मार्थिक दृष्टि से एकमात्र तत्त्व है—ब्रह्म या आत्मा, जिसका स्वरूप है आनंद । इसके अतिरिक्त जो कुछ देख पड़ता है वह अतत्त्व है, जिसे अवस्तु, अज्ञान, माया आदि भी कहते हैं । अतत्त्व को जानना इसलिए आवश्यक है कि वस्तु या तत्त्व या आत्मा अवस्तु से पृथक् किया जा सके । अवस्तु के ज्ञान के बिना 'अवाङ्मन-सगोचर' वस्तु का ज्ञान साधारण लोगों को नहीं हो सकता । ··· ब्रह्म को छोड़कर और सभी पदार्थ असत् हैं । इन पदार्थों का आरोप ब्रह्म पर होता है ।··· ब्रह्म आरोप का अधिष्ठान है । माया की विक्षेप शक्ति के कारण जो सृष्टि होती है, वह मायिक है, भ्रांति है । यह आरोप तत्त्व-ज्ञान के द्वारा बाधित हो जाता है । ब्रह्म को अधिष्ठान मानकर जितने कार्य जगत् में होते हैं, प्रत्युत समस्त जगत्

76. विनयपत्रिका 122

ही, ब्रह्म का विवर्त है। विवर्त का अर्थ—तत्त्व में अतत्त्वों के मान को ही विवर्त कहते हैं—'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः'।"[77]

अध्यास अथवा विवर्त जब तक सत्य प्रतीत होता रहेगा, तब तक जीव को शांति कहाँ? पण्डित बलदेव उपाध्याय के शब्दों में, "जब तक हम जगत् में रहकर उसके कार्यों में लीन हैं, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुए हैं, तब तक इस जगत् की सत्ता हमारे लिए बनी ही रहेगी। पर ज्यों ही परम तत्त्व का ज्ञान हमें सम्पन्न हो जाता है त्यों ही जगत् की सत्ता मिट जाती है। उस समय ब्रह्म ही एक सत्ता के रूप में प्रकट हो जाता है। जगत् की जादू के साथ जो तुलना की गई है उससे उसके सच्चे स्वरूप का भली-भाँति परिचय मिल जाता है। जादू किसे मोह में डालता है? उसी को तो जो उस इंद्रजाल के रहस्य को नहीं जानता। उसके रहस्य को जानने वाले व्यक्ति के लिए वह इंद्रजाल व्यामोह का कारण नहीं बनता।"[78]

स्वप्न में प्राप्त पाप यज्ञादि से नहीं, जागृति से ही नष्ट हो सकता है। माला में सर्प का आभासजन्य भय अस्त्र से नहीं, वास्तविकता के ज्ञान से ही दूर हो सकता है। मरीचिका-सागर में डूबता व्यक्ति पोत-नौकादि से नहीं, सत्य के बोध से ही बच सकता है। जब तक स्वसहित संसार का तिरोभाव नहीं होता, तब तक भवसागर-संतरण सम्भव नहीं।

मानस-रोग मानस-चिकित्सा द्वारा ही दूर किए जा सकते हैं, शरीर-चिकित्सा द्वारा नहीं। तुलसी ने मानस-रोग-निरूपण किया है—

सुनहु तात, अब मानस-रोगा। जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुरि उपजहिं बहु सूला॥
काम-बात, कफ-लोभ अपारा। क्रोध-पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्निपात दुखदाई॥...[79]

उन्होंने मानस-रोग-चिकित्सा का निरूपण भी किया है, क्योंकि इसके बिना विषय अधूरा ही रह जाता—

रामकृपाँ नासहिं सब रोगा। जौं यहि भाँति बनै संयोगा॥
सद्गुरु-बैद, बचन-बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपति-भगति सजीवन-मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥

---

77. भारतीय दर्शन 12/354-55
78. श्री शंकराचार्य 18/258
79. रामचरितमानस 7/120/28-31

एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं।
जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई। जब उर बल-बिराग अधिकाई ।।...[80]

प्रस्तुत पद में आप-सहित जग के निर्मूल होने का जो आरोग्य-लक्षण बतलाया गया है, वह ज्ञानपरक है, जबकि रामचरितमानस का भक्तिपरक, किंतु वैराग्य दोनों के मध्य सेतु का कार्य सम्पादित करते हुए विरोध नहीं आने देता। पूर्वापरपद-संदर्भ भी इसी तथ्य के अनुकूल है।

12. अस कछु समुझि परत रघुराया !

अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु ! दास-हित ! मोह न छूटै माया।।
वाक्य-ग्यान अत्यंत निपुन, भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह तम निर्बत्त नहिं होई।।
जैसे कोइ इक दीन, दुखित अति, असनहीन दुख पावै।
चित्र कलपतरु-कामधेनु गृह लिखे न बिपति नसावै।।
षटरस, बहुप्रकार भोजन कोउ दिन अरु रैन बखानै।
बिनु बोले संतोषजनित सुख खाइ सोइ पै जानै।।
जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु विषय-आस मन माहीं।
तुलसिदास तब लगि जग-जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं।।[81]

प्रस्तुत महान् पद में अद्वैतवाद और प्रपत्तिवाद का सुन्दर समन्वय किया गया है। इसके दो दृष्टांत और एक उदाहरण अलंकारों का स्तर बहुत ही उच्च है। विनोक्ति के प्रयोग तो हैं ही, 'दयालु' और 'दास-हित' में परिकर भी हैं।, काव्य-कला की दृष्टि से यह पद विनयपत्रिका के अद्वितीय पदों में एक है।

भारतीय साधना में भगवत्कृपा का पुराकाल से ही बहुत महत्त्व रहा है। 'सूर-सौरभ', 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' तथा 'भक्ति का विकास' जैसे उत्कृष्ट ग्रंथों के प्रणेता—साथ ही, 'वैदिकी' तथा 'चतुर्वेद मीमांसा' के गम्भीर वेद-पंडित, वेद-जीवन भी—डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' ने अकाट्य उदाहरण देकर भक्ति की वैदिकता सिद्ध की है। 'तुलसी-दर्शन' के लेखक डॉ० बलदेव-प्रसाद मिश्र ने भी इस दिशा में प्रकाश डाला है। डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' ने

---

80. रामचरितमानस, 7/121/5-9
81. विनयपत्रिका 123

लिखा है "श्रुति-भगवती उच्च स्वर से घोषित कर रही है—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टम् देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये त तनुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥[82]

मैं स्वयं कहता यही हूँ, देव सेवन कर चुके हैं।
मुनि मननरत, नर अनेकों साक्ष्य इसका भर चुके है ।
मैं जिसे चाहूँ उसे निज तेज से उद्दीप्त कर दूँ ।
ब्रह्मवर, ऋषिवर बना दूँ, मंजु मेधा शक्ति भर दूँ ॥

यही मंत्र आचार्य वल्लभ द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गीय भक्ति का मूलाधार है।"[83] उन्हीं के शब्दों में, "मुण्डक उपनिषद् का यह श्लोक भी भक्तिभावना को प्रकट कर रहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन ॥
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मावृणुते तनूं स्वाम् ॥[84]

अर्थात् प्रभु की प्राप्ति प्रवचन, मेधा तथा बहुत सुनने से नहीं होती। प्रभु जिस पर कृपा करते हैं, उसी को प्रभु की प्राप्ति होती है।"[85]

प्रस्तुत पद में तुलसी मुण्डकोपनिषद् की उक्त स्थापना को रामपरक रूप में प्रयुक्त कर रहे हैं। मनुष्य की शक्ति इतनी ससीम है, उसका आयुष्य इतना अल्प है, उसका जीवन इतना अनिश्चित है, उसका पारस्परिक राग-द्वेष इतना अप्रात्ययिक है, कि उसे पराशक्ति का अवलम्ब अपरिहार्य प्रतीत होता है। अतएव भक्ति का भगवत्कृपा-दर्शन या पुष्टि-दर्शन या प्रपत्ति-दर्शन सर्वथा मनोवैज्ञानिक है।

"वाक्य-ग्यान अत्यंत निपुन" इत्यादि की शब्दावली मुण्डकोपनिषद् के नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो" अथवा उसी से प्रेरित "यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपनिश्चितः"[86] (अविवेकीजन जिस प्रकार की बाह्यशोभायुक्त अथवा पुष्पित वाणी को कहते हैं) का स्मरण कराए बिना नहीं रहती। सुन्दर भाषण से आत्मज्ञान न प्राप्त किया जा सकता है, न प्रदान किया जा सकता है। ठीक वैसे ही, जैसे अँधेरे घर में बैठे हुए दीपक पर की जाने वाली वार्ता से प्रकाश नहीं

82. ऋग्वेद 10/125/5
83. सूर-सौरभ, पृष्ठ 57
84. मुण्डकोपनिषद् 3/2/3
85. सूर-सौरभ, पृष्ठ 57
86. श्रीमद्भगवद्गीता 2/42/1

प्राप्त किया जा सकता। दुखी और भूखे व्यक्ति के द्वारा घर की दीवारों पर कल्पवृक्ष एवं कामधेनु के चित्रों के अंकित करने से किसी भी समस्या का समाधान सम्भव नहीं है। षट्रसयुक्त नाना व्यंजनों की प्रशंसा से आस्वाद की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह उसे ही प्राप्त होती है, जो व्यंजनों को ग्रहण करता है, भले ही वह एक शब्द भी न बोले। जब तक आत्मप्रकाश नहीं प्राप्त होता, जब तक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध में आसक्ति विद्यमान है, तब तक स्वप्न में भी परमानंद की प्राप्ति सम्भव नहीं, भले ही सुन्दर शब्दावली का सागर लहरा दिया जाए।

विनयपत्रिका के अनेक पदों में तुलसी पहले ज्ञानपरक उद्गार व्यक्त करके अंत में उन्हें भक्ति-प्रपत्ति से संपृक्त कर देते हैं। किंतु कुछ पदों में वे पहले भक्ति प्रपत्तिपरक उद्गार व्यक्त करते हैं, तदनंतर उन्हें ज्ञान-वैराग्य से संपृक्त करते हैं। प्रस्तुत पद इसी प्रकार का है। इसके आरम्भ में ही तुलसी स्पष्ट कर देते हैं कि बिना रामकृपा के न तो जगत् को सत्य समझने का मोहमायाजन्य अज्ञान नष्ट हो सकता है, न ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो सकता है। वे यह सदा से कहते आ रहे थे—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ।।[87]

उनके ऐसे उद्गार वेद, उपनिषद्, गीता, भागवत ("पोषणं तदनुग्रहः"), शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र, नारद-भक्तिसूत्र ("मुख्यतस्तु महत्कृपयैव", "भगवत्कृपालेशाद्वा") इत्यादि के सर्वथा अनुकूल हैं। बिना भगवत्कृपा के भगवत्साक्षात्कार सम्भव नहीं, यह तथ्य प्रायः समग्र भारतीय साधना का एक परम तथ्य रहा है। तुलसी ने इसे यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रतिपादित किया है—

तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि जदुनंदन, जानहिं भगत, भगत-उर-चंदन ।।[88]

13. जौ निज मन परिहरै बिकारा

जौ निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैतजनित संसृतिदुख, संसय, सोक अपारा ।।
सत्रु, मित्र, मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरिआईं।
त्यागन, गहन, उपेच्छनीय अहि, हाटक, तृन की नाईं ।।

87. रामचरितमानस 2/126/3
88. वही, 2/126/4

असन, बसन, पसु, बस्तु बिबिध बिधि, सब मनि महँ रह जैसे।
सरग, नरक, चर-अचर-लोक बहु बसत मध्य मन तैसे॥
बिटप मध्य पुतरिका, सूत महँ कंचुकि बिनहिं बनाए।
मन महँ तथा लीन नाना तनु, प्रगटत औसर पाए॥
रघुपति-भगति-बारि-छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास कह चिदबिलास जग बूझत-बूझत बूझै॥[89]

इस दार्शनिक दृष्टि से अतीव उच्च कोटि के पद में भी अद्वैतवाद-प्रपत्तिवाद-समन्वय के मनोहारी दर्शन होते हैं। यों तो यह पद दो सुंदर उदाहरणों एवं अंततोगत्वा अर्थान्तरन्यास अलंकारों से भी सम्पन्न है, किंतु इसका सर्वोपरि अलंकार यथासंख्य (क्रम) है, जो "सत्रु, मित्र, मध्यस्थ" के प्रति "त्यागन, गहन, उपेच्छनीय" दृष्टिकोणों को "अहि, हाटक, तृन" के अप्रस्तुतों से जोड़ता है। यथासंख्य का यह प्रयोग हिंदी-साहित्य में इस अच्छे अलंकार के सर्वश्रेष्ठ प्रयोगों में एक है। गहन भाषा, गहन अलंकरण और गहनतम दर्शन इस पद को एक विशिष्ट गौरव प्रदान करते हैं।

इस पद में विकार शब्द का जो प्रयोग किया गया है, वह दार्शनिक भी है, व्यावहारिक भी। कृष्ण ने क्षेत्र (शरीर) तथा क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र का ज्ञाता) का विवेचन-विश्लेषण करते हुए क्षेत्र को पंचमहाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी), अहंकार, बुद्धि, त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति (माया), दसों इंद्रियों, मन, ज्ञानेन्द्रियों के विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध), इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (स्थूल देहपिण्ड), चेतनता एवं धृति इन विकारों से युक्त कहा है—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे श्रृणु॥···
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा, द्वेषः, सुखं, दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥[90]

दार्शनिक दृष्टि से विकार परिणाम का पर्याय है, "परिणाम का या विकार का अर्थ—परिणाम में एक तत्त्व से यथार्थ रूप में दूसरा तत्त्व अभिव्यक्त होता है—'सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः'।···इसीलिए, श्रुति ने भी कहा

89. विनयपत्रिका 124
90. श्रीमद्भगवद्गीता 13/3, 5-6

है—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'।...'विकार शब्द का 'परिणाम' अर्थ है। पूर्व समय में 'विकार' शब्द भी 'विवर्त' के अर्थ में प्रयुक्त होता था। जैसे—भवभूति ने उत्तररामचरित में किया है—'आवर्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान्'—यहाँ वस्तुतः 'विवर्तान्' के अर्थ में 'विकारान्' प्रयुक्त है।"[91] "वेदांत के अनुसार एकमात्र कारणरूप ब्रह्म ही अविनाशी, निर्विकार तथा सत्पदार्थ है। उससे उत्पन्न होनेवाला यह जो जगत् है वह मिथ्या है, कल्पनामूलक है। फलतः कारण ही एकमात्र सत्य है। कार्य मिथ्या या अनिर्वचनीय है। जगत् माया का तो परिणाम है पर ब्रह्म का विवर्त है। इन दोनों शब्दों का मार्मिक भेद वेदांतसार में इस प्रकार बतलाया है—

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

तात्त्विक परिवर्तन को विकार तथा अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। दही दूध का विकार है परंतु सर्प रज्जु का विवर्त है, क्योंकि दूध और दही की सत्ता एक प्रकार की है। सर्प की सत्ता काल्पनिक है परंतु रज्जु की सत्ता वास्तविक है।"[92]

तुलसी ने अध्यास, विवर्त और विकार को प्रायः 'मोह' में समाविष्ट किया है, किंतु यत्र-तत्र 'विकार' का दार्शनिक प्रयोग भी किया है, जैसे प्रस्तुत पद में। यहाँ 'विकार' में अध्यास और विवर्त भी समाहित हैं, क्योंकि तुलसी स्थूल वर्गीकरण के अतिरेक से बचनेवाले दार्शनिक हैं। अन्यत्र भी, उन्होंने 'विकार' का सुंदर प्रयोग किया है—

जड़-चेतन गुन-दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस-गुन, गहहिं पय, परिहरि बारि-बिकार॥[93]

तुलसी यों तो रामचरितमानस में भी तत्त्वतः अद्वैतवादी हैं, भले ही व्यवहारतः उपास्य-उपासक के विशिष्टाद्वैत का सम्मान करते हों; किंतु विनय-पत्रिका में वे समग्रतः अद्वैतवादी हैं—दार्शनिक स्तर पर भी, व्यावहारिक स्तर पर भी। तुलसीदास और मधुसूदन सरस्वती की मैत्री ने प्रथम को अद्वैतभक्ति-वादी और द्वितीय को भक्तिअद्वैतवादी बना दिया था। डॉ० उमेश मिश्र के शब्दों में, "सोलहवीं शताब्दी के संन्यासियों में मधुसूदन सरस्वती बहुत प्रसिद्ध वेदांती

91. भारतीय दर्शन 12/355
92. श्री शंकराचार्य 18/263
93. रामचरितमानस 1/6

हुए। इन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे, जिनमें सिद्धान्तबिन्दु, अद्वैतरत्नरक्षण, वेदान्ततत्त्व-लतिका आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। परंतु अद्वैतसिद्धि तो इनका अमर ग्रंथ है। इसके समान दूसरा ग्रंथ प्राय: दर्शन में नहीं है। मधुसूदन के वेदांत मत में भक्ति का सम्मिश्रण है।"[94]

मधुसूदन सरस्वती ने वेदांती होते हुए भी भक्ति के ग्रंथरत्न रामचरितमानस का सम्मान किया था। मानस की प्रतिष्ठा का आदि उनकी इस प्रशस्ति का परिणाम था—

आनन्दकाननेह्यस्मिञ्जङ्गमस्तुलसीतरुः ।
कवितामञ्जरी भाति रामभ्रमरभूषिता ॥[95]

तुलसी ने द्वैत को सर्वत्र अज्ञानजन्य, मिथ्या एवं कष्टकर माना है—

क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अग्यान ?[96]

बंदौं रघुपति करुनानिधान। जाते छूटै भव-भेद-ग्यान ॥[97]

द्वैतरूप तमकूप परौं नहिं, अस कछु जतन बिचारी।[98]

सेवत साधु द्वैतमय भागै। श्रीरघुबीर-चरन लय लागै ॥[99]

'विकार' ने द्वैतभाव उत्पन्न करके बलात् ही जीव को परमात्मा से वियुक्त कर रखा है, 'मैं-मेरा और तू-तेरा' के क्लेश-संशय इत्यादि से ग्रस्त कर रखा है। उसने ही शत्रु, मित्र, मध्यस्थ (न मित्र, न शत्रु) की कल्पना से घृणा, एषणा, उपेक्षा इत्यादि के घातक व्यवधान उपस्थित कर दिए हैं, जो नितांत आनंद-विरोधी हैं, क्योंकि—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥

94. भारतीय दर्शन 12/352
95. रामचरितमानस (गीता प्रेस), गोस्वामी तुलसीदासजी की संक्षिप्त जीवनी, पृष्ठ 23
96. रामचरितमानस 7/111 ख/1
97. विनयपत्रिका 64/1
98. वही, 113/8
99. वही, 136/11/1

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।।
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे पियाः ।।[100]

यदि मन तत्त्वग्राही बन जाता, तो द्वैतजनित दुःखों से परित्राण प्राप्त हो जाता, क्योंकि मन की शक्तियाँ अपार हैं । मन में समग्र जड़चेतनात्मक जगत्, स्वर्ग, नरक, नाना शरीर अथवा जन्म-जन्मांतर इत्यादि स्वतः समाहित हैं । तुलसी ने इस पद में मन का बहुत ही गम्भीर दार्शनिक निरूपण किया है, जो अतीव संक्षिप्त होते हुए भी अतीव प्रभावी है । तुलसी के अनंतर, हिंदी के सर्वाधिक गौरवशाली दार्शनिक-महाकवि कबीर ने भी मन का गम्भीर निरूपण किया है, किंतु इसमें काव्यतत्त्व उतना प्रभावी नहीं है—

मन जाणैं सब बात, जाणत ही औगुण करै ।
काहे की कुसलात, कर दीपक कूँवैं पड़ै ।।
मन गोरख, मन गोबिंदौ, मन ही औघड़ होइ ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ ।।
कबीर मन पंषी भया, बहुतक चढ़्या अकास ।
ऊहाँ ही तै गिरि पड़्या मन माया के पास ।।[101]

तत्त्वदर्शन चर्मचक्षुओं से सम्भव नहीं, रामभक्तिजल से प्रक्षालित स्वच्छ-निर्मल चित्तचक्षुओं से ही सम्भव है । रामभक्तिजल प्राप्त होने पर तत्त्व अनायास ही 'सूझ' जाता है । किंतु चैतन्य के विलास (चिद्विलास[102]) रूप जगत् का सत्य तत्त्व परमात्मा समझते-समझते ही समझ में आएगा ।

14. रघुपति-भगति करत कठिनाई

रघुपति-भगति करत कठिनाई ।
कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि बनि आई ।।
जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ, सदा सुखकारी ।
सफरी सनमुख जलप्रवाह सुरसरी, बहै गज भारी ।।

---

100. श्रीमद्भगवद्गीता 12/18-20
101. कबीर-ग्रंथावली, मन कौ अंग, 7-10-25
102. डॉ० सम्पूर्णानन्द ने 'चिद्विलास' शीर्षक ग्रन्थ लिखा है, यद्यपि उसका भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं हैं, क्योंकि लेखक भक्ति-विरोधी थे—प्रसाद के सदृश ।

ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ, बल तें न कोउ बिलगावै।
अति रसग्य, सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै॥
सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभव परमसुख, अतिसय द्वैत-बियोगी॥
सोक, मोह, भय, हरष, दिवस-निसि, देस-काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निरमूल न जाहीं॥[103]

महर्षि-महाकवि तुलसीदास ने प्रस्तुत गम्भीरतम-स्तरीय पद में श्रीमद्भगवद्-गीता, योगदर्शन, वेदांतदर्शन, भक्तिदर्शन इत्यादि को समग्रतः समन्वित कर दिया है तथा तत्त्वज्ञान को अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, उदाहरण, विरोधाभास इत्यादि अलंकारों से संपृक्त कर अतीव काव्यात्मक एवं कलात्मक रूप प्रदान करने में भी अप्रतिम साफल्य प्राप्त किया है। कहने में भक्ति बहुत सरल लगती है, किंतु करने में बहुत कठिन है। स्वयं तुलसी ने भक्ति के आयामों की स्फीतता एवं उसकी साधनागत गहनता का वर्णन किया है—

पावन पर्बत-बेद-पुराना। रामकथा-रुचिराकर नाना॥
मर्मी-सज्जन, सुमति-कुदारी। ग्यान-बिराग-नयन उरगारी॥
भावसहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति-मनि सब सुख दानी॥[104]

भक्ति-मणि वेद, पुराण, मर्मिता, सज्जनता, ज्ञान, वैराग्य, भाव इत्यादि सबमें सम्बद्ध है। तुलसी की भक्ति एक अतिशय विराटवादी साधना है, केवलमात्र एक भावना नहीं। सूर की भक्ति के आयाम भावना तक सीमित हैं। कबीर की भक्ति के आयाम ज्ञान, योग, कर्म तक प्रसरित तो हैं, किंतु निरक्षरताजन्य कुण्ठा के कारण उनका वेद-शास्त्र-पुराण-प्रत्याख्यान उसे विशद नहीं होने देता—"विशदीभूते मनोमुकुरे" नहीं कहने देता। जो सात्त्विकरस तुलसी में है, वह संस्कृतेतर साहित्य में कहीं नहीं। डॉ० राममनोहर लोहिया प्रायः कहा करते थे, "तुलसी में सात्त्विक रस है, सूर में मधुररस, कबीर में कोरा रस।" प्रसाद की 'श्रद्धा' एकांगी है। यों, वे हिंदी-भक्तिकाव्य को या तो 'मिथ्या आदर्शवाद' (रामकाव्य) या 'मिथ्या रहस्यवाद' (कृष्णकाव्य) तक कह मारते हैं, भले ही इसे कोई उनका समर्थक आलोचक भी न स्वीकार कर सका हो, जनता की तो बात ही और है। उनका दावा है, "हिन्दी के इस पाठ्य या श्रव्य काव्य में ठीक वही अव्यवस्था है, जैसी हमारे सामाजिक जीवन में विगत कई सौ वर्षों से होती रही है। रसात्मकता

103. विनयपत्रिका 167
104. रामचरितमानस 7/119/13-15

नहीं, किन्तु रसाभास ही होता रहा। यद्यपि भक्ति को भी इन्हीं लोगों ने मुख्य रस बना लिया था, किन्तु उसमें व्याज से वासना की बात कहने के कारण वह दृढ़ प्रभाव जमाने में असमर्थ थी। क्षणिक भावावेश हो सकता था। जगत् और अन्तरात्मा की अभिन्नता की विवृति उसमें नहीं मिलेगी। एक तरह से हिन्दी-काव्यों का यह युग संदिग्ध और अनिश्चित-सा है। इसमें न तो पौराणिक काल की महत्ता है और न है काव्य-काल का सौन्दर्य। चेतना राष्ट्रीय पतन के कारण अव्यवस्थित थी। धर्म की आड़ में नए-नए आदर्शों की सृष्टि, भय से त्राण पाने की दुराशा ने इस युग के साहित्य में, अवध वाली धारा में मिथ्या आदर्शवाद और व्रज की धारा में मिथ्या रहस्यवाद का सृजन किया।"[105] प्रसाद की यह विश्लेषणहीन एवं परिणामहीन उपपत्ति हिंदी-भक्तिकाव्य के प्रशंसक आचार्य रामचंद्र शुक्ल की छायावाद, रहस्यवाद एवं स्वयं प्रसाद की कठोर आलोचना[106] की प्रतिक्रिया मात्र है, जो उनके राजयक्ष्मा के रोगी होने के कारण स्पष्टतः रुग्ण दीखती है। आश्चर्य है कि एक समर्थ कवि को ऐसी यक्ष्माग्रस्त आलोचना का आखेट बनना पड़ा! ऐसी प्रतिक्रियामूलक एवं रुग्णमनोवृत्तिमूलक उपपत्ति एक उत्कृष्ट कलाकार ने की है, यह खेद का बिन्दु है। प्रसाद को शुक्ल से भिड़ना था, तुलसी और सूर से नहीं!

तुलसी प्रायः यत्र-तत्र-सर्वत्र ज्ञान, योग, कर्म से समन्वित विराट् भक्ति का ही प्रतिपादन करते हैं, जिसमें मानव की समग्र साधना को एकाकार होते देखा जा सकता है—

> ब्रह्म-पयोनिधि, मंदर-ज्ञान, संत-सुर आहिं।
> कथा-सुधा मथि काढ़हिं, भगति-मधुरता जाहिं॥[107]

भक्ति-साधना की गहनता प्राचीन आर्षग्रन्थों में भली भाँति प्रतिपादित है। कृष्ण ने भक्ति में सर्वोच्च ज्ञान, योग इत्यादि का समाहार स्पष्ट किया है—

> संतुष्टः सततं योगी, यतात्मा, दृढनिश्चयः।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥...
> यो न हृष्यति, न द्वेष्टि, न शोचति, न कांक्षति।
> शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥[108]

---

105. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध 7/118
106. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 614-40
107. रामचरितमानस 7/120 क
108. श्रीमद्भगवद्गीता 12/14,17

पतंजलि जैसे विश्व के एक सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक एवं मानवजाति के इतिहास के एक योग-सीमांत तक ने भक्ति अथवा शरणागति से भी निर्बीज समाधि की सिद्धि स्वीकृत की है तथा स्वाध्याय से इष्टदेव का साक्षात्कार होना स्पष्ट किया है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।[109]

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोग: ।[110]

महर्षि बादरायण ने भी भक्ति या आराधना से परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन हो सकना स्वीकार किया है—

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।[111]

विश्व-वाङ्मय में अध्यात्म विद्या के सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ उपनिषद् वेद का ज्ञानकाण्ड हैं। उनमें भी रति या भक्ति को ज्ञान या योग जैसा महत्त्व प्रदान किया गया है, वस्तुतः इन साधनों को अभिन्नवत् निरूपित किया गया है—

आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेव मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्म क्रीडआत्म मिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति ।[112]

यह सब कुछ परमात्मा ही है, जो ऐसा देखता, ऐसा मानता और समझता है, वह परमात्मा में रति, परमात्मा में ही क्रीड़ा, उन्हीं के सम्भोग का सुख तथा उन्हीं में आनंद का अनुभव करता हुआ स्वराट् (परमात्मास्वरूप) हो जाता है—छांदोग्योपनिषद के इस सूत्र को महायान के ऐश्वर्य, वज्रयान-सहजयान के योग-भोग-समन्वय, कबीर इत्यादि के माधुर्यभाव के रहस्यवाद, जायसी इत्यादि के प्रतीक-परक कथात्मक रहस्यवाद, रवीन्द्र इत्यादि के ईषत् साधनात्मक एवं ईषत्-काल्पनिक रहस्यवाद, महादेवी इत्यादि के काल्पनिक रहस्यवाद का उद्गम माना जा सकता है। उपनिषद् की रहस्यवाद-कृति अपने परवर्ती विकास में कहीं संस्कृति के रूप में प्राप्त होती है, कहीं विकृति के रूप में भी। 'निस्संदेह, औपनिषदिक रहस्यवाद वैदिक रहस्यवाद का विकास है—ऋग्वेद के कुमारी कन्याओं के जार अग्नि विश्व-रहस्यवाद के आदि-प्रतीक हैं, ऋग्वेद के ऋषि शुनःशेप का सुंदरी उषा से उनके साथ सम्भोग करने वाले पुरुष पर प्रश्न विश्व-रहस्यवाद का आदि सृजन है। ऋग्वेद रहस्यवाद का भी आदिग्रंथ है। तुलसी के "कामिहि नारि

109. योगदर्शन (योगसूत्र) 1/23
110. वही, 2/44
111. वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) 3/2/24
112. छांदोग्योपनिषद् 7/25/2

पिआरि जिमि" इत्यादि सुस्पष्ट उद्‌गार में इस प्रकार के रहस्यवाद के रस-कण प्राप्त होते हैं—यों, उनकी प्रकृति एवं प्रवृत्ति रहस्य की न थी।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः।
प्रकाशन्ते महात्मनः॥"[113]

जिसकी परमात्मा में अत्यंत भक्ति है और जैसी परमेश्वर में है, वैसी ही गुरु में भी है, उस महात्मा के प्रति कहने पर ही इन तत्त्वों का प्रकाश होता है।

इन सारे तत्त्वों और तथ्यों को ध्यान में रखकर ही ऋषियों ने योग को ज्ञान, भक्ति एवं कर्म तीनों का ही सहयोगी अथवा उपकारक अथवा अन्योन्य माना है। योग, ज्ञान भक्ति दोनों का ही सहयोग है; ठीक वैसे, जैसे वाजपेयी इत्यादि का अंगभूत प्रयास उसकी दीक्षा लेने वाले व्यक्ति की दीक्षा का अंग बन जाता है—

योगस्तूभयार्थमपेक्षणात् प्रयाजवत्।[114]

अतएव, तुलसी का भक्तिदर्शन सार्वभौम तो है ही, समग्रतः "नानापुराणनिगमागमसम्मत" भी है। उनकी भक्ति को ज्ञान, योग, कर्म से असंपृक्त नहीं माना जा सकता। इसीलिए, वह एक समग्र जीवन-दर्शन की प्रतीक बन सकी है। विनयपत्रिका को भक्तितत्त्व का उपनिषद् कहा जा सकता है, क्योंकि जिस प्रकार उपनिषद् ज्ञान-योग-भक्ति-कर्म-संपृक्त समग्र जीवन-दर्शन का प्रतिपादन करते हैं, उसी प्रकार विनयपत्रिका।

"जानै सोंइ बनि आई" में ग्रंथ के पूर्वापर-संदर्भ से भगवत्कृपा की ओर संकेत स्पष्ट है। यदि ऐसा सुयोग बन पड़ा, तो चाहे जैसा हो, व्यक्ति भक्ति-सक्षम हो सकता है। इसके लिए छोटा होना व्यवधान नहीं बन सकता। चाहे ज्ञान के द्वारा पूर्ण बना हो या योग के द्वारा या भक्ति के द्वारा या कर्म के द्वारा, योगी "यत्पिण्डे तत्ब्रह्माण्डे" अथवा "सरग, नरक, चर-अचर-लोक बहु बसत मन तैसे का" का अनुभव करने के कारण "अहं ब्रह्मास्मि" का परमानन्द प्राप्त करने लगता है; "तत्त्वमसि" अथवा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का अनुभव करने के कारण अज्ञाननिद्रा विहीन ज्ञानशयन अथवा परमविश्राम प्राप्त करने लगता है।[115] द्वैत या अज्ञान का

113. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/23
114. शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र 1/2/19
115. या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
(श्रीमद्‌भगवद् गीता 2/69)

नहीं तहँ पौन औ पानी । गए वहि देस जिन जानी ।।
नहीं तहँ धरनि-आकासा । करे कोइ संत तहँ बासा ।।...[119]

प्रसाद न सिद्ध थे, न साधक, न संत; वे केवल कवि थे—'आँसू' के कवि, 'कामायनी' के महाकवि । परंतु इस लोक की छोटी-सी झलकी शायद उन्हें भी मिली थी—

चढ़ जाय अनंत गगन पर
वेदना जलद की ज्वाला
रवि तीव्र ताप न जलाए
हिमकर का हो न उजाला ।[120]

15. कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो !

कबहुँक यहि रहनि रहौंगो ।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो ।।
जथालाभ संतोष सदा, काहूसों कछु न चहौंगो ।
परहितनिरत निरंतर, मन-क्रम-बचन नेम निबहौंगो ।।
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
बिगतमान, सम सीतल मन, परगुन नहिं दोष कहौंगो ।।
परिहरि देह जनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु, यहि पथ रहि अबिचल हरिभगति लहौंगो ।।[121]

"अब लौं नसानी, अब न नसैहौं" तथा "कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो" ये दो पद विनयपत्रिका के वे प्रमुख पद हैं, जिनमें तुलसी आत्मपरक जीवनयापनेच्छा व्यक्त करते हैं । प्रस्तुत पद में प्रत्यक्षतः आत्मपरक जीवनयापनेच्छा अभिव्यक्त की गई है, किंतु परोक्षतः संतलक्षण भी चित्रित कर दिए गए हैं—संतोष, निःस्पृहता, परोपकार, मन-वचन-कर्म से संयम-नियम-पालन, सहिष्णुता, मानापमानभावमुक्ति समत्व, परगुणकथन, निश्चिन्तता । तुलसी ने अपने लघु निर्वेद काव्य 'वैराग्य संदीपनी' में संत-स्वभाव-वर्णन पर्याप्त विस्तार से किया है—

सरल बचन, भाषा सरल, सरल अर्थमय मानि ।
तुलसी सरलै संतजन, ताहि परी पहिचानि ।।

---

119. हिन्दी नवरत्न, कबीर, पृष्ठ 402
120. आँसू 51/1
121. विनयपत्रिका 172

अति सीतल, अति ही सुखदाई । सम, दम, रामभजन अधिकाई ।
जड़ जीवन को करै सचेता । जग माहीं बिचरत एहि हेता ॥···
अहंवाद, मैं-तैं नहीं, दुष्टसंग नहिं कोय ।
दुख ते दुख नहिं ऊपजै, सुख ते सुख नहिं होय ॥···[122]

कबीर ने भी संतलक्षण एवं संतस्वभाव का अच्छा वर्णन किया है, यद्यपि वह तुलसी के रामचरितमानस, विनयपत्रिका, दोहावली एवं वैराग्य संदीपनी के बहुविध एवं व्यापक वर्णन की समता नहीं कर पाता। एकाध स्थल पर कबीर का वर्णन अतीव प्रशांत एवं प्रशस्य है—

निरबैरी, निहकाँमता, साईं सेती नेह ।
बिषिया सूँ न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥···[123]

कृष्ण ने अपने प्रिय भक्त में जो लक्षण बताए हैं, वे समग्र परवर्ती संत वर्णन, भक्तवर्णन इत्यादि के आधार रहे हैं। एक उदाहरण भी विषय विन्दु को स्पष्ट कर सकता है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो, निरहंकारः, समदुःखसुखः, क्षमी ॥···[124]

"अब लौं नसानी, अब न नसैहौं" तथा कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो" प्रभृति उद्गार तुलसी की अहंभावमुक्त शालीनता की सूचना देते हैं। उन्होंने कहीं भी अपनी श्रेष्ठता का वर्णन नहीं किया और यही उनकी श्रेष्ठता का अकाट्य प्रमाण है। उनके ऐसे पदों का पाठक या श्रोता पर बहुत ही प्रेरक प्रभाव पड़ता है।

16. राम कहत चलु भाई रे !

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहि त भव-बेगारि महँ परिहै, छूटत अति कठिनाई रे ॥
बाँस पुरान, साज सब अठकठ, सरल तिकोन खटोला रे।
हमहि दिहल करि कुटिल करमचंद मंद मोल बिनु डोला रे ॥
विषम कहार मार-मद-मातल चलहि न पाउँ बटोरा रे।
मंद-बिलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे ॥

122. वैराग्य संदीपिनी 8-9, 30
123. कबीर-ग्रंथावली 29/1
124. श्रीमद्भगवतगीता 12/13

काँट कुराय लपेटन लोटन, ठावहिं ठाउँ बझाऊ रे।
जस-जस चलिय दूरि तस-तस, निज बास न भेंट लगाऊ रे।।
मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसिदास भव-त्रास हरहु अब, होहु राम! अनुकूला रे।।[125]

प्रस्तुत महान् पद तुलसी के प्रतीक शैली में सृजन सामर्थ्य का उत्कृष्ट प्रतीक है। भाषा की दृष्टि से, पूर्वी (भोजपुरी) में रचित यह पद एक विशिष्ट महत्त्व रखता है और तुलसी के भाषा सामर्थ्य के आयामों को स्फीततर रूप प्रदान करता है। प्रोक्ति (मुहावरा) तथा लोकोक्ति के प्रयोगों की दृष्टि से भी इसकी विलक्षणता स्पष्ट है। ऐसी चटपटी भाषा हिंदी के किसी महाकवि ने नहीं लिखी। जिस उमंग और जिस तरंग में यह विशिष्ट और विलक्षण पद रचा गया है, वे "न भूतो, न भविष्यति" कहलाए बिना नहीं मानतीं। अलंकरण की दृष्टि से पुनरुक्तिप्रकाश, नाना अनुप्रास, वीप्सा, विरोधाभास और सांगरूपक इत्यादि इसे उच्चकोटि का स्तर प्रदान करते हैं। किंतु इस पद की सर्वोपरि विशेषता इसका गम्भीर अनुभूतिपक्ष है, जो भक्तिदर्शन को व्यक्त करने में समग्रतः सफल सिद्ध हुआ है। यह पद विनयपत्रिका के सर्वश्रेष्ठ पदों में एक तो है ही, आदिकाल से आधुनिककाल तक की समग्र पदरचना का एक विलक्षण उदाहरण भी है।

तुलसी का सृजन-सामर्थ्य अपार था। कविता की कोई विधा (महाकाव्य खण्डकाव्य, मुक्तककाव्य, गीतिकाव्य, आत्मकाव्य, नीतिकाव्य, शकुनकाव्य, निर्वेद-काव्य, लोककाव्य, चमत्कारकाव्य) उनके सृजन-स्पर्श से पुलकित हुए बिना नहीं रही। उनके समय तक की कविता की कोई शैली (आदिकालीन सिद्ध-नाथ-जैन प्रयुक्त दोहा-चौपाई-शैली, विद्यापति-कबीर-सूर-प्रयुक्त पद-शैली, केशव-सेनापति प्रयुक्त कवित्त-शैली, रहीम प्रयुक्त बरवै-शैली इत्यादि) उनसे अछूती नहीं रही। जहाँ तक अलंकारों का सम्बन्ध है, गुण-परिमाण तथा प्रभाव-परिणाम की समग्र दृष्टियों से, संसार-साहित्य का कोई कवि उनकी समता नहीं कर सकता—न संस्कृत के भारवि-माघ-श्री हर्ष, न हिंदी के केशव-बिहारी-पद्माकर, न उड़िया के उपेन्द्र भंज, न अँग्रेजी के टेनीसन। प्रस्तुत पद, अपने दस पंक्तियों के छोटें-से दायरे में, तुलसी के विस्मयकारी सृजन-सामर्थ्य का एक बिन्दु अवश्य है—भाषा, शैली, उमंग, तरंग इत्यादि में अपना उपमान आप!

प्रतीक के प्रयोग में तुलसी विनयपत्रिका के 'केशव! कहि न जाइ, का कहिए!' और 'राम कहत चलु, राम कहत चलु, भाई रे!' पदों में बहुत ही अधिक सफल हुए हैं। अन्यत्र भी, ऐसा प्रयोग मिलता है, पर वहाँ कोई सफलता

---

125. विनयपत्रिका 189

हाथ नहीं लगी—

बेद नाम कहि, अँगुरिन खंडि अकास।
पठयो सूपनखाहि लखन के पास ।।[126]

यहाँ वेद (श्रुति=कान) और आकाश (नाक=स्वर्ग, नासिका) में श्लिष्ट चमत्कार दृग्गत होता है, परंतु वह पारम्परिक मात्र है।

प्रस्तुत पद पर कबीर के निम्नलिखित पद का यत्किंचित् प्रभाव सम्भव है, किंतु इसकी संगति और इसका शैली-शिल्प दोनों उच्चतर कोटि के हैं—

साईं मेरे साजि दई एक डोली।
हसत लोक अरु मैं—तैं बोली ।।
इक झंझर-सम सूत-खटोला।
त्रिस्ना-बाव चहूँ-दिसि डोला ।।
पाँच कहार, का मरम, न जाँनाँ।
एकैं कह्या एक नहिं माँनाँ ।।
भूभर घाँम, उहार न छावा।...[127]

हिंदी-कविता में प्रतीक-शैली का प्रयोग आदिकाल से ही प्राप्त होता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि विश्व वाङ्मय का आदिग्रंथ ऋग्वेद स्वयं प्रतीक शैली की दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न है। इड़ा-पिंगला, सुषुम्ना इत्यादि नाड़ियों, पायु-उपस्थ के मध्य अधोमुखी कुण्डलिनी, नाना चक्रों, विशेषतः सहस्रार इत्यादि पर आधृत योगसाधना की अनेक अनुभूतियों को सिद्धों ने यत्र तत्र प्रतीक शैली में व्यक्त किया है, जिसका कबीर पर भारी प्रभाव पड़ा है—

गंगा-जउँना माझे रे, बहइ नाई।
तहिं बुड़िली मातंगी, पोइला लीले पार करेइ ।।[128]
(डोंभिया)

बलद बिआएल गाविया बाँझे।
पिटा दुहिए एतिना साँझे ।।[129]
(ताँतिया)

---

126. बरवै रामायण 28
127. कबीर ग्रंथावली, पदावली 90/1-7
128. मिश्रबंधु विनोद, पृष्ठ 49
129. वही, पृष्ठ 51

काआ तरुवर, पंच विडाल।
चंचल चीए पइठो काल॥[130]
(लूहिपा)

अंतर के साथ भी, सिद्धों के कुछ बोल तुलसी के प्रस्तुत पद का स्मरण करा सकते हैं, यद्यपि तुलसी में कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट संध्याभाषा और अटपटी शैली का प्रयोग नहीं किया गया—

तिअ घाउ खाट पडिला, सबरो महा सेज छाइली।
सबरो भुजंग ठाइरामणि दारी पेह्मराति पाहाइली॥[131]
(सबरपा)

कुले कुले मा होइ रे मूढ़ा, उजूवाटे संसारा।
वालभिण एकुवाकु ण भूलह राजपंथ कंटारा॥[132]
(सांतिपा)

विषम मायामय जीवनयात्रा, जन्मजन्मान्तरयात्रा, का वर्णन तुलसी ने इस पद में अतिशय वैदग्ध्यसम्पन्न रूप में किया है। 'कुटिल करमचंद' (प्रारब्ध) ने मूल्यहीन (अमूल्य नहीं) और सड़ा-गला (पुनर्जन्म जर्जर) खटोला (तामस प्रधान शरीर) दिया है, जिसके बाँस (अनादिकालिक पंचतत्त्व) पुराने हैं, साज (वृत्तियाँ) अंट शंट हैं और यह सुविधाजनक (चौकोर) न होकर नितांत असुविधाजनक त्रिकोण (त्रिगुणात्मक) है। एक तो त्रिकोण खटोला, दूसरे विषमसंख्यक (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) वाहक (कहार), तीसरे काममदमत्त होने के कारण वे असंयत गति से चलनेवाले भी! अतएव, ऊँच-नीच चाल के धक्के और झटके लग रहे हैं। विषयों के काँटे कंकड़, कामनाओं की उलझाने वाली लताएँ, अहंकार के झाड़ झंखाड़ अतिरिक्त रूप से। और लक्ष्यभ्रष्ट (मोक्ष या कैवल्य को भूलकर, अर्थ या काम को ही परमप्राप्य मान बैठना) होने के कारण जैसे-जैसे चलना, वैसे-वैसे दूर होते जाना! दुर्गम पथ (संसार कांतार पथ) और पाथेय (ज्ञान या भक्ति या अन्य साधन) नदारद! ग्राम (रामप्रेम या वैकुण्ठ) विस्मृत! ऐसी विषमतम स्थिति में, हे राम, अनुकूल होकर भवयात्रा के असह्य भय और कष्ट से मुक्त करो!

प्रस्तुत पद में "जस जस चलिय दूरि तस तस" का विरोधाभास अतीव गंभीर और उच्चस्तरीय है। "मारग अगम, संग नहि संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे"

130. मिश्रबंधु विनोद, पृष्ठ 45
131. वही, पृष्ठ 44
132. वही, पृष्ठ 57

पंक्ति अतीव मार्मिक और तलस्पर्शी है। इस पंक्ति पर आकर अनुभूति पराकाष्ठा या चरमसीमा का स्पर्श कर लेती है। बौद्ध विज्ञानवाद एवं शांकर मायावाद की यहाँ तक की यात्रा अंततोगत्वा "तुलसिदास भव त्रास हरहु अब, होहु राम, अनुकूला रे" के भक्तिवाद एवं प्रपत्तिवाद में अवसित होती है। किंतु सम्पूर्ण पद एवं उसकी ध्वनि को दुःखवादी या मायावादी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि "राम कहत चलु" के अभाव में ही दुःखयात्रा आरम्भ होती है, "भव बेगारि" आरम्भ होती है। अतएव, यहां दुःखवाद या मायावाद उद्दीपक तत्त्व मात्र है। कथ्य एवं तथ्य की आत्म भक्ति ही है, प्रपत्ति ही है।

17. याहि ते मैं हरि ग्यान गँवायो !

याहि ते मैं हरि ! ग्यान गँवायो।
परिहरि हृदय कमल रघुनाथहि, बाहर फिरत बिकल भयो धायो ।।
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद अति मतिहीन मरम नहिं पायो।
खोजत गिरि, तरु, लता, भूमि, बिल परम सुगंध कहाँ ते आयो ।।
ज्यों सर-बिमल बारि परिपूरन, ऊयर कछु सिवार तृन छायो।
जारत हियो ताहि तजि हौं सठ, चाहत यहि बिधि तृषा बुझायो ।।
ब्यापत त्रिबिध ताप तनु दारुन, तापर दुसह दरिद्र सतायो।
अपनेहि धाम नाम सुरतरु तजि, विषय-बबूर-बाग मन लायो ।।
तुम सम ज्ञाननिधान, मोहि सम मूढ़ न आन, पुराननि गायो।
तुलसिदास प्रभु ! यह बिचारि जिय कीजै नाथ ! उचित मनभायो ।।[133]

निदर्शना, उदाहरण इत्यादि अलंकारों से सम्पन्न प्रस्तुत पद में अंतस्साधना का प्रतिपादन किया गया है। केवल बाह्याचारों से भगवत्प्राप्ति सम्भव नहीं —ऐसी मान्यता उपनिषदों, सिद्धों, नाथों एवं कबीर इत्यादि संतों द्वारा प्रायः अनवरत रूप से व्यक्त की जाती रही है। तुलसी ने इस पद में इसी परिपाटी का अनुसरण किया है। विनयपत्रिका में ऐसे अनेक उद्‌गार प्राप्त होते हैं—

माधव ! मोह फाँस क्यों टूटै ?
बाहिर कोटि उपाय करिअ अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै ।।...[134]

133. विनयपत्रिका 244
134. वही 115/1-2

आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥
मृगभ्रम बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी॥···[135]

तुलसीदास 'अंतस्साधना अंतस्साधना' की रट नहीं लगाते तथा बाह्याचार के गौरव का व्यर्थ परिणाम खण्डन नहीं करते, क्योंकि ब्रह्म सर्वव्याप्त है तथा अंतर और बाह्य तत्त्वतः अभिन्न हैं—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।"[136] सर्वोच्च साधना में आभ्यंतर तथा बाह्य का अंतर नहीं रह सकता, क्योंकि वह द्वैतपरक अथवा अज्ञानजन्य होगा। तुलसी 'अंतर अंतर' की खोखली रटंत के आलोचक हैं—

अंतर्जामिहु ते बड़ बाहरजामि हैं राम जो नाम लिए तें।
धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किए तें॥
आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिए तें।
पैज परे प्रहलादहु को, प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें॥[137]

तुलसी के मन में मध्यकालीन इस्लामी प्रभाव में मूलभूत स्थूल एकेश्वरवाद (सर्ववाद अथवा सर्वात्मवाद अथवा अद्वैतवाद से भिन्न, 'एक व्यक्तिगत ईश्वर' अथवा 'ए पर्सनल गॉड' पर आधृत) के प्रतिपादन, बहुदेववाद के खण्डन, मूर्ति पूजा के खण्डन इत्यादि का कोई पूर्वाग्रह विद्यमान नहीं था। वे पैगम्बर या गुरु बनने की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा से समग्रतः मुक्त थे। वे इसमें निहित पाखण्ड के प्रखर विरोधी थे। ब्रह्म जब सर्वव्याप्त है, तब मूर्ति से दूर कैसे हो सकता है? व्यक्ति मूर्ति के माध्यम से आराध्य को पूजता है और जो सच्चा ब्रह्मवादी या सर्वात्मवादी है, उसे सब कुछ पूज्य ही पूज्य है। उन्होंने प्रस्तरपूजा का बड़ा ही सतर्क, प्रभावी और मौलिक निरूपण किया है—

काढ़ि कृपान, कृपा न कहूँ, पितु काल कराल बिलोकि न भागे।
राम कहाँ? सब ठाउँ है! खम्भ में? हाँ सुनि हाँक नृकेहरि जागे॥
बैरी बिदारि, भए बिकराल, कहे प्रहलादहि के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी, तबतें सब पाहन पूजन लागे॥[138]

किंतु वे इस तथ्य से भी पूर्णतः अभिज्ञ हैं कि ब्रह्मसाक्षात्कार आत्मसाक्षात्कार का पर्यायवाची है। वस्तुतः तुलसी साधना के विराट् रूप के प्रतिपादक हैं, एकांगी

135. विनयपत्रिका 136/14/1
136. छांदोग्योपनिषद् 3/14/1
137. कवितावली 7/129
138. वही 7/128

रूप के नहीं । साधना के विराट् रूप में अंतर्साधना एवं बहिर्साधना दोनों समाहित हैं—जल तरंग वत् अभिन्न हैं । निस्संदेह, परमात्मा को अंतःकरण में देखा जा सकता है—

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा या करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।[139]

निस्संदेह बहिर्साधना में भटकाव और शोषण, पाखण्ड और प्रदर्शन की सम्भावनाएँ अपेक्षाकृत अधिक रहती हैं । इसीलिए, उपनिषद् इत्यादि परमग्रंथ अंतर्साधना को वरीयता प्रदान करते हैं ।" परिहरि हृदयकमल रघुनाथहि बाहर फिरत बिकल भयो धायो" इत्यादि के से उद्गार हिंदी के आदिकाल एवं तुलसी पूर्व भक्तिकाल में समारोहपूर्वक प्रकट किए गए मिलते हैं, यद्यपि उनमें यत्र तत्र स्थूल अहं का समावेश खुटक जाता है, जो तुलसी में नहीं है—

पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ। देहहि बुद्ध बसंत ण जाणइ।
अमणागमण ण तेण बिखंडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पंडिअ ।।[140]
(सरहपा)

वज्रयान-सहजयान काल बौद्धधर्म के पतन का काल था । उक्त उद्गार की पतन-भाषा में इस तथ्य के दर्शन किए जा सकते हैं । यद्यपि कबीर ने सिद्धों की इस पतन-भाषा का यत्र-तत्र अनुकरण किया है, तथापि अपने उल्लेख्य एवं उत्कृष्ट सृजन में वे इससे मुक्त रहे हैं। ऐसा न होता, तो वे बहुत छोटे रह जाते । उनके कुछ उद्गार प्रस्तुत हैं—

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै बन माँहि।
ऐसैं घटि घटि राम हैं, दुनियाँ देखै नाँहि।।···
सो साँईं तन मैं बसै, भ्रंम्यौं न जाणैं तास।
कस्तूरी के मृगा ज्यों, फिरि फिरि सूँघै घास।।···
ज्यूँ नैनूँ में पूतली, त्यूँ खालिक घट माँहि।
मूरिख लोग न जाणहीं, बाहरि ढूंढण जाँहि।।[141]

---

139. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/12
140. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 8
141. कबीर-ग्रंथावली 53/1,3, 9

काहे री नलनीं, तूँ कुमिलाँनीं। तेरें ही नालि सरोवर पाँनीं ।।
जल मैं उतपति, जल मैं बास। जल मैं नलनी तोर निवास ।।
ना तलि तपति, न ऊपर आगि। तोर हेतु कहु कासनि लागि ।।
कहै कबीर जे उदिक समाँन। ते नहीं मुए हँमारे जान ।। [142]

18. तीव्रतम प्रेमावेगस्पृहा

राम, कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को ?
सुख जीवन ज्यों जीव को हित, ज्यों धन लोभ-लीन को ।।
ज्यों सुभाय प्रिय लागति नागरी नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिए करुना कर ! पावन प्रेम पीन को ।।[143]

मालोपमा, उदाहरण इत्यादि अलंकारों से सम्पन्न प्रस्तुत मनोहारी पद मनोवैज्ञानिक चारुत्व में अद्वितीय है, जिसमें तुलसी लीक से हटकर, राम के प्रति तीव्रतम प्रेमावेगस्पृहा व्यक्त कर रहे हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, "सच पूछा जाय तो लोभ, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति इत्यादि अनेक भावों में सम्बन्ध का एक अविच्छिन्न सूत्र विद्यमान है। प्रेम की अनुदात्तता उसे लोभ के निकट पहुँचा देती है, विराटता श्रद्धा के निकट, पूज्यभाव की अत्यधिक वृद्धि एवं सान्निध्य-कामना भक्ति के निकट, चिर अभाव की स्थिति करुणा के निकट। स्थूल प्रेम दशा में प्रिय कभी-कभी ईर्ष्या, द्वेष तथा क्रोध भी उत्पन्न कर देता है। स्पष्ट है कि प्रेम का भाव क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है तथा उसके सूक्ष्म-स्थूल रूपों के घेरे में मानव के प्राय: सभी भाव समाहित हो जाते हैं। प्रेमरस रसों का रस है, महारस है। प्रसिद्ध है—

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ।
उन्मज्जन्ति-निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञक: ।।"[144]

"नीर मीन को" तथा "मनि ज्यों फनि को" क्रमश: व्यावहारिक तथा पौराणिक प्रेम की अनन्यता के प्रतीक हैं। "सुख जीवन ज्यों जीव को" तथा 'ज्यों धन लोभ-लीन को" प्रेम की अनन्यता के सूक्ष्म तथा भावात्मक प्रतीक हैं—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अतिशय गम्भीर। सुख जीवन की व्यापकतम स्पृहा है, "'ख' अक्षर का अर्थ है इंद्रिय। मानव की इंद्रियाँ जिस स्थिति में 'सु' का अनुभव करती

---

142. कबीर-ग्रंथावली, पदावली 64
143. विनयपत्रिका 269/1-4
144. **खड़ीबोली-कविता** में विरह-वर्णन, प्रेमरस, पृ० 3

हैं, उसे सुख कहते हैं।"[145] लोभ भी एक गहन अंतर्वृत्ति है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, "लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में समान भाव रखते हैं।...क्रोध, दया, घृणा, लज्जा आदि करने से क्या मिलता है कि वे करने जायँ?...वे शरीर सुखाते हैं, अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र आदि की आकांक्षा नहीं करते; लोभ के अंकुश से अपनी सम्पूर्ण इंद्रियों को वश में रखते हैं।"[146] तीव्रतम प्रेमावेगस्पृहा की चरमसीमा अथवा पराकाष्ठा "ज्यों सुभाय प्रिय लागति नागरी नागर नवीन को" पंक्ति में दृग्गत होती है, जिनमें 'सुभाय' और 'नवीन' शब्दों के प्रयोग अतीव तलस्पर्शी हैं—'युवा', सुन्दर एवं सुसंस्कृत नायक समवस्यका, सुन्दरी एवं सुसंस्कृता नायिका के प्रति जो तीव्रतम प्रेमावेगस्पृहा करता है, वह स्वाभाविक होती है, आरोपित नहीं। वह इसके लिए प्राण तक दे सकता है। अतः इस पद में तुलसी, 'पावन' शब्द के सजग प्रयोग के साथ, पीन प्रेम लालसा को बहुत ही सशक्त रूप में व्यक्त करने में सर्वथा सफल सिद्ध होते हैं। रामचरितमानस में भी यत्र-तत्र उन्होंने भक्ति की मनोवैज्ञानिक तीव्रता के अमूल्य एवं प्रशस्य वर्णन किए हैं, किन्तु विनयपत्रिका का प्रस्तुत पद इस दिशा में अन्यतम है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥[147]

सेवहिं लखनु सीय-रघुबीरहि। जिमी अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥[148]

भक्ति कामना का परमोदात्त स्वरूप है। लौकिक आलम्बन पर आधृत कामना में अनेक विक्षेप एवं व्यवधान सहज सम्भाव्य रहते हैं, क्योंकि उसका स्वभाव परिवर्तनशील हो सकता है, उस पर रोग, नाश इत्यादि प्रभाव डाल सकते हैं। अलौकिक आलम्बन पर आधृत कामना विक्षेप एवं व्यवधान से मुक्त रहती है, क्योंकि वस्तुतः वह सर्वथा सूक्ष्म होती है, उसमें स्थूलता के हेतु अवकाश नहीं रहता। यही कारण है कि साधना में काम का समावेश ज्ञानियों, योगियों, भक्तों,

145. खड़ीबोली-कविता में विरह-वर्णन, प्रेमरस, पृ० 1
146. चिन्तामणि (भाग 1), लोभ और प्रीति, पृ० 85
147. रामचरितमानस 7/130 ख
148. रामचरितमानस 2/141/2

सभी ने किया है। वेद में काम को गौरवशाली स्थान प्राप्त है तथा पुराणों में काम देवता के रूप में प्राप्त है। छांदोग्योपनिषद् में ब्रह्मानन्द के संदर्भ में 'रति', 'क्रीड़ा' 'मिथुन' इत्यादि शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है।[149] कृष्ण ने "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" [150] कहकर काम की परम प्रतिष्ठा की है। वज्रयानी-सहज-यानी योगियों की साधना में 'मुद्रा', 'मैथुन' इत्यादि तत्व विद्यमान हैं। राम एवं कृष्ण के भक्तों में रसिक-सम्प्रदाय प्राप्त होते हैं। कबीर, मीराँ इत्यादि ने पति भाव की भक्ति में पर्याप्त रुचि दिखाई है। अद्वैतवाद से प्रभावित सूफी साधना तो 'इश्कहकीकी' पर ही आधृत है। इन समग्र तत्त्वों को शैव आनंदवाद से संपृक्त करके प्रसाद ने कामायनी का सृजन किया है। निस्संदेह, प्रसाद हिंदी-साहित्य में क़ामतत्त्व के एकमात्र उद्धारक एवं प्रतिष्ठापक है। इधर, रजनीश ने योग और भोग का समन्वय स्थापित किया है।

कबीर ने, सम्भवतः भागवत के शुकदेव के प्रेमाभक्ति निरूपण का हवाला देते हुए, कामतत्त्व को ब्रह्मज्ञान में सहायक घोषित किया है—

काम मिलावै राँम कूँ, जे कोइ जाँणै राखि।
कबीर बिचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलैं साखि ।। [151]

"नीर मीन को" प्रयोग अत्यन्त उचित है, किन्तु केवल मीन के पक्ष से, नीर के पक्ष से नहीं। "मनि ज्यों फनि को" प्रयोग भी ऐसा ही है, क्योंकि 'मनि' बिना 'फनि' के भी जीवित ही नहीं अपितु प्रकाशित भी रहती है। "ज्यों धन लोभ-लीन को" प्रयोग भी ऐसा ही है, क्योंकि 'धन' भी 'लोभलीन' अथवा लोभी के बिना भी विद्यमान रहता है। स्पष्टतः इन अलंकरणों की व्यंजना है कि यदि आराध्य आराधक पर ध्यान न दे, तो भी आराधक की आराधना अप्रतिहत एवं एकनिष्ठ ही रहनी चाहिए। "सुख जीवन ज्यों जीव को" तथा "ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को" उभयपक्षीयता के अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल हैं, यद्यपि इनमें भी आराधक की स्पृहा ही प्रथम प्रतिपाद्य है।

प्रसंगवश ही सही, आत्मपरक प्रेमकाव्य के सर्वोपरि गायक घन आनन्द का यह सवैया स्मरण में आ जाता है, जिसमें वे एक ओर तो प्रख्यात उपमान 'मीन' की निन्दा करते हैं, क्योंकि वह 'नीर सनेही' पर कलंक लगाता हुआ 'कायर' की

---

149. छांदोग्योपनिषद् 7/25/2
150. श्रीमद्भगवद्गीता 7/11/2
151. कबीर-ग्रंथावली 29/11

तरह प्राण त्याग देता है, और दूसरी ओर 'नीर' को 'जड़ मीत' घोषित करते है, जो वस्तुपरक है ही—

> हीन भएँ जल, मीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि समानै ?
> नीर सनेही कों लाभ कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
> प्रीति की रीति सु क्यों समझै? जड़ मीत के पानि परैं को प्रमानै।
> या मन की जु दसा घन आनँद जीव की जीवनि जान ही जानै ॥[152]

152. घनआनंद-ग्रंथावली (सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र), सुजानहित 4

कवितावली

रामचरितमानस और विनयपत्रिका के अनंतर कवितावली तुलसी की सर्वोत्तम कलाकृति है। रामचरितमानस प्रबंधकाव्य है, विनयपत्रिका मुक्तककाव्य है। रामचरितमानस वस्तुपरक काव्य है, विनयपत्रिका आत्मपरक काव्य है। कवितावली में एक ओर प्रबंध और मुक्तक काव्यरूपों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है, दूसरी ओर वस्तुपरक और आत्मपरक काव्यरूपों का। काण्डक्रम प्रबंधकाव्य का प्रतीक है, स्फीत आत्मोद्गार मुक्तककाव्य का। रामकथावर्णन वस्तुपरक-काव्य का प्रतीक है, आत्मकथावर्णन आत्मपरक काव्य का। अतएव, अपनी सीमा में,कवितावली रामचरितमानस और विनयपत्रिका का समन्वित सार-रूप है।

रामचरितमानस एक सार्वभौम काव्य है—सबके लिए। विनयपत्रिका भक्तिदर्शनकाव्य है—सिद्धों, योगियों, भक्तों, साधकों के लिए। कवितावली कलाकाव्य है—काव्यरसिकों के लिए। सर्वरसनिष्पत्ति की दृष्टि से रामचरितमानस के साथ-साथ कवितावली हिंदी-साहित्य की अन्यतम कलाकृति है।[1] ललित एवं कलामय ब्रजभाषा के प्रयोग की दृष्टि से कवितावली हिंदी-साहित्य की एक अतीव सफल रचना है। कवितावली में ब्रजभाषा का लालित्य भी चरमोत्कर्ष प्राप्त करता है, कलावैभव भी, "कवितावली की ब्रजभाषा में रसखान की ब्रजभाषा की स्वच्छता और प्रसादगुण भी विद्यमान हैं, घनआनंद की ब्रजभाषा की परिष्कृति और कला भी।"[2] इस काव्य में कुल तीन सौ उन्हत्तर छंद हैं—बालकाण्ड में बाईस, अयोध्याकाण्ड में अट्ठाईस, अरण्यकाण्ड में एक, किष्किन्धाकाण्ड में एक, सुन्दरकाण्ड में बत्तीस, लंकाकाण्ड में अट्ठावन और उत्तरकाण्ड में दो सौ सत्ताईस। यह मुक्तक काव्य तुलसी के समय-समय पर रचे गए मुख्यतः सवैया, छप्पय और झूलना छंदों का सुंदर संकलन है, जिसमें महर्षि-महाकवि के स्फीत जीवनकाल

---

1. विशेष अध्ययन के लिए देखें 'विश्वकवि तुलसी और उनके प्रमुख काव्य' ग्रंथ का 'कवितावली' शीर्षक निबंध।
2. वही।

की नाना भाव-भंगिमाएं एवं अभिव्यक्ति-शैलियाँ स्पष्टत: दृष्टिगोचर होती हैं। इसके कुछ छंद यौवन की उमंग-तरंग से निष्पन्न हैं, तो कुछ जरायु की चिन्ता-गम्भीरता से। निस्संदेह, वाराणसी की महामारी, जिसके विस्तृत वर्णन इस काव्य में प्राप्त होते हैं, तुलसी के अवसान का एक कारण रही होगी, यद्यपि वे इसके तात्कालिक प्रकोप को झेल गए थे। अतएव, इसके अनेक छंद तुलसी के अत्यंत परवर्ती छंदों में परिगणित किए जा सकते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने ठीक लिखा है, "कवितावली की रचना एक विस्तृत काल में हुई थी, अत: उसमें तुलसी की विभिन्न शैलियों के दर्शन होते हैं। यदि बालकाण्ड में उनका भाषा-सौन्दर्य ललित है तो उत्तरकाण्ड में उनकी भाषा में शाब्दिकता के पर्याय अर्थ-गाम्भीर्य का स्थान विशेष है।"[3]

1. दर्शन-तन्मयता

> दूलह श्रीरघुनाथु बने, दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
> गावति गीत सबै मिलि सुंदरि, बेद जुवा जुरि बिप्र पढ़ाहीं।।
> राम को रूपु निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
> यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही, पल टारत नाहीं।।[4]

जीवन-रस से सराबोर यह सवैया तुलसी की महान् प्रतिभा की जीवंतता का प्रतीक है। तुलसी समग्र जीवन के द्रष्टा हैं। तुलसी समग्र जीवन के सृष्टा हैं। इसीलिए, उनके काव्य में सर्वरसनिष्पत्ति अतुलनीय रूप से सफल है। रामचरित-मानस के संदर्भ में, यदि कोई कहे कि उच्चतम-स्तरीय महाकाव्य में विशद एवं विराट् जीवन की व्याप्ति ही ऐसी होती है कि उसमें सर्वरसनिष्पत्ति हो ही जाती है—रामायण, महाभारत, इलियड, ओडिसी, शाहनामा प्रभृति संसार-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में सर्वरसनिष्पत्ति जीवन की व्याप्ति का ही परिणाम है—तो नातिबृहत् मुक्तककाव्य कवितावली का उदाहरण देकर यह स्थापना की जा सकती है कि तुलसी की जीवन-दृष्टि ही सर्वरसनिष्पतिसक्षम है, वह केवल महा-काव्य के आयामों की स्फीतता का स्वाभाविक परिणाम नहीं है। यों, 'डिवाइन कॉमेडी', 'पैराडाइज़ लॉस्ट', 'कामायनी' इत्यादि महाकाव्यों में भी सर्वरस-निष्पत्ति तो क्या, अनेकरसनिष्पत्ति भी नहीं प्राप्त होती, जिसका कारण उनके

---

3. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 416
4. कवितावली 1/17

संकीर्ण एकधर्मप्रधान अथवा अतिशय शिल्पप्रधान रूप हैं। यदि कोई कहे कि तुलसी की सर्वरसनिष्पत्ति का कारण रामकाव्य का सहज विशद्, विराट् एवं उदात्त स्वरूप है, तो रामचन्द्रिका, साकेत इत्यादि के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनमें सर्वरसनिष्पत्ति के दर्शन नहीं होते। अतएव, तुलसी की सर्वरस-निष्पत्ति का प्रधान कारण उनकी समग्र जीवन तक व्याप्त विराट् प्रतिभा है, केवलमात्र महाकाव्य की विधा या सहज विशद, विराट् एवं उदात्त रामकाव्य नहीं। महाकवि एवं महात्मा के उभय रूपों में तुलसी की सफलता अप्रतिम है। कबीर महात्मा पहले हैं, महाकवि तदनन्तर। वे सरस काव्य का सृजन कम ही कर पाए हैं। सूर महाकवि पहले हैं, महात्मा तदनन्तर। वे विशुद्ध अध्यात्म-काव्य का सृजन कम ही कर पाए हैं। किंतु तुलसी सरसता और आध्यात्मिकता दोनों में ही चूड़ान्त साफल्य प्राप्त कर सके हैं।

इस सवैये में शृंगाररस की आत्मा दर्शन-तन्मयता के मनोहारी दर्शन होते हैं। 'पल' शब्द का प्रयोग श्लेष-सम्पन्नता में अतीव निगूढ़ है। "कर टेकि रही, पल टारति नाहीं" में राम-सीता के शाश्वत एवं अनन्य प्रेम की व्यंजना व्याप्त है। जहाँ तक "याते सबै सुधि भूलि गई" का संबंध है, यह नितांत स्वाभाविक है। प्रेम की एक स्मृति जगत् की असंख्य विस्मृतियों की मोहक सृष्टि कर देती है। प्रियतम की छवि का ध्यान मात्र विश्व-विस्मृति में समर्थ होता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' की शकुन्तला इसी विस्मृति में दुर्वासा के अमर्ष को आमंत्रित करती हैं। फिर, यहाँ तो प्रियतम का कर अपने कर से संयुक्त है! सौन्दर्य का ऐसा साक्षात्कार सर्वथा विस्मृतिकारी ही हो सकता है—

घन में सुंदर बिजली-सी,
बिजली में चपल चमक-सी,
आँखों में काली पुतली,
पुतली में श्याम झलक-सी।
प्रतिमा में सजीवता-सी,
बस गई सुछवि आँखों में;
थी एक लकीर हृदय में,
जो अलग रही लाखों में।[5]

इस मनोहारी सवैये में नारी का कोमल एवं समर्पणशील मनोविज्ञान अनायास ही विवृत हो गया है। नारीत्व की सीमा सीता के माध्यम से व्यक्त यह दर्शन-तन्मयता पाठक या श्रोता के अंतःकरण पर अतीव शीतल प्रभाव छोड़ जाती है।

5. आँसू, पृष्ठ 19-20

2. अंतसौंन्दर्य

> कीर के कागर ज्यों नृपचीर-बिभूषन उधम अंगनि पाई ।
> औध तजी मगबास के रूख ज्यों, पंथ के साथ ज्यों लोग-लोगाई ।।
> संग सुबंधु, पुनीत प्रिया, मनो धर्मु-क्रिया धरि देह सुहाई ।
> राजिवलोचन रामु चले तजि बाप को राजु बटाऊ कीं नाई ।।[6]

यद्यपि चार अतीव सार्थक और अतीव गहन उपमाओं और एक उत्प्रेक्षा इत्यादि से अलंकृत यह महान् सवैया ब्रजभाषा के प्रशांत स्वरूप के कारण भी उल्लेख्य है, तथापि इसका सर्वोपरि गौरव राम के अन्तसौंदर्य को विवृत करने में निहित है। जिस प्रकार शुक ऋतुराज वसंत आने पर अपने प्रदीप्त एवं सुन्दरतम पंखों को झाड़ कर प्रसन्न होता है, यद्यपि दर्शक को उसकी शोभा वैसी नहीं लगती, उसी प्रकार राम राजकीय परिधान एवं आभरण त्यागकर, वल्कल धारण कर, प्रसन्न हुए, यद्यपि उन्हें इस विपर्ययमय रूप में देखकर सबको व्यथा हुई। अपना प्रियतम जन्मस्थान-क्रीड़ास्थान-लीलास्थान अवध उन्होंने मार्गवास के वृक्ष के सदृश सहर्ष छोड़ दिया—पथिक का लक्ष्य से प्रयोजन होता है, मार्ग-वास से नहीं ! स्वजन-परिजन-पुरजन से उन्होंने उस निर्लिप्त भाव से विदा ली, जिससे पथिक पथ-परिचितों से लेता है। उनके साथ लक्ष्मण थे, सीता थीं—क्रमशः सशरीर धर्म, सशरीर पुण्यक्रिया ! कमललोचन राम अपने पिता का राज्य छोड़कर ठीक वैसे ही निर्विकार भाव से वनवास के हेतु चल दिए, जैसे कोई पथिक किसी सुन्दर नगर में विश्राम करने के अनन्तर लक्ष्य की ओर चल पड़ता है—उसे नगर के गौरव से कोई प्रयोजन नहीं, उसे अपने लक्ष्य से प्रयोजन है ! "बाप को राजु" राम के अधिकार का संकेतक है और "बटाऊ कीं नाई" चल देना कर्तव्य का। राम ने कर्तव्य पर अधिकार को त्याग दिया। स्थितप्रज्ञता का ऐसा कवित्वमय-कलामय वर्णन संसार-साहित्य में दुर्लभ है। काव्य में अलंकरण की सटीकता-सजीवता इतनी सफल बहुत ही कम स्थलों पर हो पाई है।

राजकीय ऐश्वर्य से पूर्ण सौन्दर्य तड़िज्ज्योति के सदृश आतंककारी भी हो सकता है। किंतु यहाँ शरद-पूर्णिमा की सुधा में स्नान करके शीतल और पवित्र हुई सौदामिनी की शोभा की सृष्टि की गई है—

> चंचला स्नान कर आए
> चंद्रिका पर्व में जैसी

---

6. कवितावली 2/1

उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी ![7]

रामवनगमन का जैसा महत्तम-स्तरीय वर्णन तुलसी ने किया है, वैसा आकाशवत् व्याप्त विराट् रामकाव्य में भी किसी ने नहीं। इस बिंदु को उन्होंने सिन्धु का रूप प्रदान किया है—शाश्वत सुधासिंधु का। वाल्मीकि और कालिदास भी इस बिन्दु को बिन्दु के ही रूप में देख सके हैं, केशवदास और मैथिलीशरण की तो बात ही क्या ! किन्तु तुलसी ने इसे अपना सर्वोच्च वर्ण्यविषय बनाया है—रामचरितमानस में उसके आकार-प्रकार के अनुरूप, कवितावली में उसके आकार-प्रकार के अनुरूप, गीतावली में उसके आकार-प्रकार के अनुरूप, बरवै-रामायण में उसके आकार-प्रकार के अनुरूप—

आगें रामु, लखनु बने पाछें। तापस बेष बिराजत काछें॥
उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म-जीव बिच माया जैसें॥
बहुरि कहउँ छबि जस मन बसई। जनु मधु-मदन मध्य रति लसई॥
उपमा बहुरि कहउँ जियँ जोही। जनु बुध-बिधु बिच रोहिनि सोही॥[8]

आगें रामु अनुज पुनि पाछें। मुनिवर वेष बने अति काछें॥
उभय बीच सिय सोहति कैसी। ब्रह्म-जीव बिच माया जैसी॥[9]

बलकल-बसन, धनु-बान पानि, तून कटि,
रूप के निधान घन-दामिनी-बरन हैं।
तुलसी सुतीय संग, सहज सुहाए अँग,
नवल कँवल हू तें कोमल चरन हैं॥
औरै सौ बसंत, और रति, औरै रतिपति,
मूरति बिलोकें तन-मन के हरन हैं।
तापस-बेषै बनाइ, पथिक पथें सुहाइ,
चले लोक-लोचननि सुफल करन हैं॥[10]

मनोहरता के मानो ऐन।
स्यामल-गौर-किसोर पथिक-दोउ, सुमुखि ! निरखु भरि नैन॥
बीच बधू-बिधुबदनि बिराजति, उपमा कहूँ कोऊ है न।
मानहुँ रति-ऋतुनाथ-सहित मुनि-बेष बनाए है मैन॥

7. आँसू, पृष्ठ 24
8. रामचरितमानस 2/112/1-4
9. रामचरितमानस 3/6/2-3
10. कवितावली 2/17

किधौं सिंगार-सुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग-चित-बित लैन।
अदभुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग-लोगन्हि सुख दैन ।।[11]

कोउ कह नर-नारायन, हरि-हर कोउ।
कोउ कह बिहरत बन मधु-मनसिज दोउ ।।···
द्वै भुज कर हरि रघुबर सुंदर बेष।
एक जीभ कर लछिमन दूसर सेष ।।[12]

कवितावली का अयोध्याकाण्ड, रामचरितमानस और गीतावली के अयोध्या-काण्डों के सदृश ही, अनुभूति की पावनता में अन्यतम है।

इस विशद एवं पावन सवैये से अगला सवैया भी त्याग-सौंदर्य को ही विवृत करता है जिसकी प्रथम पंक्ति "कागर-कीर ज्यों भूषन-चीर, सरीर लस्यौ तजि नीर ज्यों काई।"[13] की दार्शनिक व्यंजना अतीव गम्भीर है—राजकीय ऐश्वर्य से जाज्वल्यमान् परिधान अलंकार शैवाल इत्यादि हैं (माया हैं) जिनके हटने पर ही रस (ब्रह्म) का साक्षात्कार होता है—

पुरइनि सघन ओट जल, बेगि न पाइय मर्म।
मायाछन्न न देखिये जैसें निर्गुन ब्रह्म ।।[14]

राम का साम्राज्य-त्याग उनके महतोमहीयान् व्यक्तित्व का सर्वाधिक पावन स्वरूप उजगार करता है। संसार-साहित्य में इस प्रकार का केवल एक प्रभावी उपमान फ़िरदौसी के शाहनामा में सम्राट कैखुसरू के रूप में प्राप्त होता है, किंतु वे भी राम के सदृश युवा न थे, बहुत राजसुख भोग चुके थे। तुलसी ने इस राम-स्वरूप की युक्तियुक्त वंदना की है—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लेवनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्रीरघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ।।[15]

---

11. गीतावली 2/24/1-6
12. बरवै-रामायण 2/3,8
13. कवितावली 2/2/1
14. रामचरितमानस 3/39क
15. रामचरितमानस 2/2

3. कोमलता का मानवीकरण

पुर तें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनीं जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै॥
फिरि बूझति हैं, चलनो अब केतिक? पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै?
तिय की लखि आतुरता, पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥[16]

उत्कृष्टतम चित्रमयता, उत्कृष्टतम ब्रजभाषा-लालित्य एवं सात्विक, कायिक वाचिक अनुभावों द्वारा सीता के परम सौन्दर्य की परम कोमलता का उत्कृष्टतम वर्णन तुलसी के इस महान् सवैये को सम्पूर्ण साहित्य में एक उच्च स्थान प्रदान कर देते हैं। संस्कृत के इस सुन्दर श्लोक में भी इस सवैये के असामान्य बिम्बा-लेखन और अद्वितीय शब्दचयन के दर्शन नहीं हो पाते—

सद्यः पुरी परिसरेषु शिरीषमृद्वी,
गत्वा जवान् त्रिचतुराणि पदानि सीता।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद् ब्रुवाणी,
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥[17]

तुलसी ने "त्रिचतुराणि पदानि" की प्रोक्तिगम्य अनिश्चितता के स्थान पर "डग द्वै" की अतिशय कोमलतासूचक निश्चितता का प्रयोग ही नहीं किया प्रत्युत "धरि धीर" से संपृक्त कर उसे पराकाष्ठा पर भी पहुँचा दिया है, क्योंकि उनकी सीता कोमलतम है—

सिय बन बसिहि तात ! केहि भाँती ? चित्रलिखित कपि देखि डेराती॥[18]

सीता के सुकुमारतम शरीर के सारे परिवर्तन एवं दो डग चलने के उपरांत ही उनका "पर्णकुटी कहाँ बनाएँगे?" का प्रश्न स्वभावोक्ति को भी अलंकृत करते हैं। संसार-साहित्य में कोमलता का ऐसा सजीव वर्णन दूसरा नहीं मिलता।

लाला छक्कनलाल की प्रति में इस सवैये के आगे ऐसे ही भावों को व्यक्त करनेवाला, किन्तु काव्यकला में इसकी समता न कर सकने वाला, एक सवैया प्राप्त होता है, जिसको कुछ विद्वानों ने इस आधार पर प्रक्षिप्त माना है कि इसमें 'तुलसी' शब्द नहीं आया। किन्तु 'तुलसी' शब्द तो इस सवैये में भी नहीं आया

---

16. कवितावली 2/11
17. हनुमन्नाटक 3/19
18. रामचरितमानस 2/59/4

है, कवितावली के अनेकानेक सुन्दर सवैयों में नहीं आया है। अतएव, यह मान्यता निराधार है। सवैया यह है—

जल सूखि गए रसनाधर मंजुल, कंज-से लोचन चारु चुवैं।
करुनानिधि कंत तुरन्त कह्यौ कि "दुरन्त महाबन है इतवैं?"
सरसीरुह-लोचन मोचन नीर चितै रघुनायक सीय पै ह्वै॥
"अबहीं बन, भामिनि! पूछति हौ तजि कोसलराजपुरी दिन द्वै॥"[19]

यहाँ सीता के कोमल प्रश्न राम के द्वारा शब्दों में दिया गया उत्तर पूर्ववर्ती सवैये के समकोमल अश्रुजलोत्तर की समता नहीं कर सकता। "जैसा प्रश्न, वैसा उत्तर" की दृष्टि से "पुर तें निकसी" इत्यादि वाला सवैया ही श्रेष्ठतर है। उसका शब्दचयन भी श्रेष्ठतर है, बिम्बालेखन भी। सम्भव है कि पूर्वापर श्रेष्ठता विपर्यय के कारण ही इस सवैये को कतिपय विद्वानों ने, अवचेतन मानस की अज्ञात प्रेरणा से, प्रक्षिप्त मान लिया हो। यह सवैया तुलसी की प्रकृत शैली में खपता भी नहीं लगता।

4. दाम्पत्य का अपवर्ग

जल को गए लक्खनु, हैं लरिका,
परिखौ पिय! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ, बयारि करौं,
अरु पाय पखारिहौं भूभुरि-डाढ़े॥
तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानिकै,
बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकीं नाह को नेहु लख्यो,
पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े॥[20]

संसार-साहित्य में पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम, संवेदन एवं तादात्म्य का इतना सुन्दर, पावन एवं प्रेरक चित्रण कहीं नहीं प्राप्त होता। कोमलतम-सुन्दरतम सीता कठोरतम-अनुपयुक्ततम वनपथ पर चलते-चलते थक गई हैं, किंतु वे यह कहना नहीं चाहतीं, क्योंकि इससे पति को अपने महान् लक्ष्य की प्राप्ति में सम्बल नहीं प्राप्त होता लगता। अतएव, वे जल लाने गए लक्ष्मण की प्रतीक्षा के मिस

---

19. तुलसी-ग्रंथावली, कवितावली, पृ० 138
20. कवितावली 2/12

विराम का आग्रह करती हैं। यहाँ 'लरिका' शब्द भावशबलता का एक महान् प्रतीक बन गया है। इस एक शब्द में शालीनता, संवेदन, सहयोग, वात्सल्य, स्नेह इत्यादि अनेक भावों की व्यंजना अनायास ही मर्म का स्पर्श कर जाती है। महान् सीता के महान् वचनों को उनके महान् पति से अधिक कौन समझ सकता था? राम ने विराम ही नहीं किया, प्राणप्रिया के शरीर में चुभे कंटक निकालने के प्रेमसम्पन्न बहाने से बहुत देर तक रुके भी रहे। उनका यह गहन गम्भीर प्रेम सीता को पुलकित और साश्रु ही कर सकता था। यह दाम्पत्य का अपवर्ग है, जहाँ से पतन सम्भव नहीं! पूरा कवित्त उच्चतम व्यंजना से परिपूर्ण है—संसार-साहित्य का एक सर्वोत्कृष्ट अंश!

"बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े" में 'सम्पूर्णश्लेषालंकार' का प्रयोग प्राणपुलककारी है। मर्यादावादी महाकवि ने राम के द्वारा सीता के पैरों से काँटे निकालने के तथ्य को ऐसी निगूढ़ शब्दावली में व्यक्त किया है कि यह भी समझा जा सकता है कि उन्होंने बैठकर देर तक अपने पैरों के काँटे निकाले—और महाकवि ने 'पैर' का प्रयोग किया ही नहीं है! इसीलिए मैंने 'सम्पूर्णश्लेषालंकार' शब्द गढ़ा है! यही अलंकार इन शब्दों का सुन्दरतम चारुत्व स्पष्ट कर सकता है।

कविकुलगुरु कालिदास के शिव पार्वती की पावन तपश्चर्या से अभिभूत होकर 'दास' शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु कालिदास के पात्र नारी को "गृहिणी, सचिव, सखी और शिष्या"[21] सभी मानते हैं। इस दिशा में, वे भास[22] की परम्परा का अनुसरण करते हैं। इधर, तुलसीदास पर, स्थूल अर्थवाद को सूक्ष्म अनुभूतिवाद पर अनुचित वरीयता प्रदान करने के दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप, नारी-निंदक अथवा नारी-विरोधी होने के आरोप लगाए जाते हैं। इनके खोखलेपन का एक प्रकट प्रमाण प्रस्तुत कवित्त है, जिसमें तुलसी वे बिना प्रदर्शन किए भास और कालिदास का गौरवशाली उत्तराधिकार ग्रहण किया है। उनके द्वारा रामचरितमानस में सीता-वनवास की सम्पूर्ण उपेक्षा इसके खोखलेपन का एक अन्य प्रभावी प्रमाण है। गीतावली में अकालमृत्युग्रस्त दशरथ के शेष आयुष्य के भोगने के कारण राम के द्वारा सीता को वाल्मीकि-आश्रम में भेजने की प्रकरण-वक्रता इसके खोखलेपन का तीसरा प्रबल प्रमाण है।

कालिदास के शिव 'दास' शब्द के विनम्र प्रयोग के द्वारा तप और सौन्दर्य को सम्मान प्रदान करते हैं—

अद्यप्रभृत्यवनतांगि तवास्मि दासः,
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चंद्रमौलो।

---

21. गृहिणी, सचिव, सखी मिथः, प्रिय शिष्या ललितेकलाविधौ। (रघुवंशम्)
22. महासेनस्य दुहिता शिष्या, देवी च मे प्रिया। (स्वप्नवासवदत्तम्)

अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज,
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ।।[23]

मैथिलीशरण के लक्ष्मण, बिना किसी विशेष संदर्भ के ही सही, अपने-आपको उर्मिला का दास कहते हैं, तो वे विश्वविश्रुत पतिव्रता अतीव काव्यात्मक, अतीव सतर्क एवं अतीव पावन उत्तर देती हैं—

दास बनने का बहाना किसलिए ?
क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए ?
देव होकर तुम सदा मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रक्खो अहो ![24]

तुलसीदास ने बिना 'दास' जैसे शब्दों के स्थूल प्रयोग अथवा प्रदर्शन के ही अतीव पावन सृष्टि की है । गहनतम प्रेम प्रायः मौन रहता है । वह शब्दों में नहीं कर्मों में बोलता है । संसार-साहित्य में राम-सीता का प्रेम सर्वाधिक कर्म-स्फीत रहा है । चंदायन, मृगावती, पद्मावत, मधुमालती, चित्रावली, इंद्रावती इत्यादि कोरे प्रेमाख्यानों में कर्मस्फीत प्रेम की व्यंजना कहाँ ! वारिसशाह कृत 'हरि-राँझा' (पंजाबी) और विशुद्ध लोककाव्य 'ढोला मारू रा दूहा' (राजस्थानी) इत्यादि उत्कृष्ट प्रेमकाव्य हैं, किंतु उनमें आत्मस्फुरणकारी विशालता नहीं दृग्गत होती । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है, "राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलों और बगीचों में न दिखाकर दण्डकारण्य के विस्तृत कर्मक्षेत्र के बीच दिखाया है । उनका प्रेम जीवन-यात्रा के मार्ग में माधुर्य फैलाने वाला है, उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भरानेवाला नहीं । उसके प्रभाव से वनचर्या में एक अद्भुत रमणीयता आ गई है । सारे कटीले पथ प्रसून-मय हो गए हैं । सम्पूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है । कोमलांगी सीता अपने प्रिय की विशाल भुजाओं और कंधे के ऊपर निकली हुई धनुष की वक्रकोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन काननों में निःशंक विचर रही हैं । खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती आ रही है । राम कुछ मुस्कराकर एक बार प्रेमभरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं, फिर वीरदर्प से राक्षसों की ओर दृष्टि फेरकर अपना धनुष चढ़ाते हैं । उस वीरदर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा ! सीताहरण होने पर राम का वियोग जो

23. कुमारसम्भवम् 5/86
24. साकेत, प्रथम सर्ग

सामने आता है, वह भी चारपाई पर करवटें बदलने वाला नहीं है, समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतारने वाला है।"[25] राम और सीता में शौर्य और सौन्दर्य के मानवीकरण प्राप्त होते हैं। राम ने खर, दूषण और त्रिशिरा क्या, रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद तक से जो लोहा लिया, उसके मूल में सीता की प्रेरणा विद्यमान थी।

सीता राम के साथ है, क्योंकि उनका प्रेम अन्योन्य है—

जिय बिनु देह, नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ, पुरुष बिनु नारी ।।[26]

कालिदास की सीता भी चंद्र-चंद्रिका एवं मेघ-सौदामिनी के सदृश समग्रतः पतिवर्त्मगा हैं।[27] राम-सीता के प्रेम की अनन्यता का वर्णन वाल्मीकि से मैथिलीशरण तक प्रसरित है, किंतु इसका तत्त्वतः प्रेमाद्वैतवाद का, जैसा उत्कृष्ट वर्णन अध्यात्म-रामायण में प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र नहीं, जिसमें विष्णु-लक्ष्मी, शिव-पार्वती, ब्रह्मा-सरस्वती, सूर्य-प्रभा, चंद्रमा-रोहिणी, इंद्र-शची, अग्नि-स्वाहा, यम-संयमिनी, निर्ऋति-तामसी, वरुण-वारुणी, पवन-सदागति, कुबेर-सम्पत्ति और रुद्र-रुद्राणी के उपमान शक्ति, शील, सौन्दर्य तथा सत, रज, तम तथा धर्म, दर्शन, काव्य इत्यादि की सभी दृष्टियों से इतने विशद हैं कि उनका विवेचन एक स्वतन्त्र निबंध में ही किया जा सकता है—

त्वं विष्णुर्जानकी लक्ष्मीः,शिवस्त्वं जानकी शिवा।
ब्रह्मा त्वं जानकी वाणी, सूर्यस्त्वं जानकी प्रभा ।।
भवान् शशांकः सीता तु रोहिणी शुभलक्षणा।
शक्रस्त्वमेव पौलोमी, सीता स्वाहानलो भवान् ।।
यमस्त्वं कालरूपश्च सीता संयमिनी प्रभो।
निर्ऋतिस्त्वं जगन्नाथ तामसी जानकी शुभा ।।
राम त्वमेव वारुणो भार्गवी जानकी शुभा ।।
वायुस्त्वं राम सीता तु सदागतिरितीरिता ।।
कुबेरस्त्वं राम सीता सर्वसम्पत्प्रकीर्तिता।
रुद्राणी जानकी प्रोक्ता रुद्रस्त्वं लोकनाशकृत् ।।[28]

---

25. चिन्तामणि (भाग 1), लोभ और प्रीति, पृ० 90
26. रामचरितमानस 2/64/7
27. शशिना सह याति कौमुदी, सह मेघेन तडित् प्रलीयते। (रघुवंशम्)
28. अध्यात्म-रामायण 1/13-17

5. लंकादहन

बालधी बिसाल बिकराल ज्वालजाल, मानो,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं ब्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस-बीर तरवारि सो उघारी है॥
तुलसी सुरेसचापु कैधौं दामिनीकलापु,
कैधौं चली मेरु तें कृसानुसरि भारी है।
देखें जातुधान जातुधानीं अकुलानी कहैं,
काननु उजारयो, अब नगरु प्रजारिहैं ॥[29]

कवितावली के सुंदरकाण्ड का लंकादहन-वर्णन भयानकरस की निष्पत्ति, अलंकरण एवं भाषा की त्रिविध दृष्टियों से विश्व-स्तर का महान् वर्णन है। उदात्त की दृष्टि से भी यह वर्णन अत्युत्कृष्ट है—वर्जिल के ऐनीड (ऐनियड) के ट्रॉयदहन-वर्णन, दांते की 'डिवाइन कॉमेडी' के इन्फ़र्नो-वर्णन, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के गंगावतरण के गंगा के अवतरण-वर्णन एवं सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की 'राम की शक्ति-पूजा' के देशकाल तथा हनुमान् के क्रोध इत्यादि के वर्णन के सदृश। प्रस्तुत कवित्त इस आद्यंत-महान् वर्णन का एक अतीव उल्लेखनीय उदाहरण है, जिसमें उत्प्रेक्षा-संदेह का संकर बहुत ही अधिक सफल है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'यमुना-छवि'[30] कविता में उत्प्रेक्षा-संदेह का संकर हिन्दी-अलंकरण की एक निधि है। रत्नाकर के गंगा के अवतरण-वर्णन में भी सर्वोच्च कोटि का उत्प्रेक्षा-संदेह संकर दृष्टिगोचर होता है। इन दोनों वर्णनों की स्फीतता भी अप्रतिम है। किंतु अपनी संक्षिप्तता में भी यह उदात्त-सम्पन्न वर्णन अत्यधिक प्रभावी एवं अत्यधिक कलामय है।

लंकानगर में बंदी बनाकर प्रदर्शन कराए जाने, अपशब्द तथा प्रतारणा का आखेट बनने और लांगूल में आग लगाए जाने से क्रुद्ध हुए हनुमान् द्वारा लंकादहन के वर्णन में रौद्ररस का समावेश स्वाभाविक है। रौद्र के सहयोग से भयानकरस और भी अधिक सशक्त हो गया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने लगभग ठीक ही लिखा है, "रौद्ररस की प्रतिक्रिया ही भयानकरस में हुई है। हनुमान् के लंकादहन का जितना उत्कृष्ट वर्णन भयानकरस में किया गया है उतना साहित्य के किसी

29. कवितावली 5/5
30. श्री चन्द्रावली (नाटिका), अंक 4

भी स्थल पर प्राप्त नहीं होता। कवितावली का सुंदरकाण्ड साहित्य की अनुपम निधि है।"[31]

हनुमान् के विराट् रूप का वर्णन रामचरितमानस है अवश्य, किंतु अत्यन्त संक्षिप्त और लंकादहन-वर्णन भी ठीक वैसा ही। कवितावली का वर्णन विस्तृत और श्रेष्ठतर है। रामचरितमानस में केवल एक दोहा उच्चस्तरीय है—

हरिप्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गरजा, कपि बढ़ि लाग अकास।।[32]

प्रस्तुत कवित्त का वृत्यनुप्रास (परुषावृत्ति) उत्प्रेक्षा-संदेह के संकर को तो सहयोग देता ही है, भयानकरस को भी संपन्न करता है। गौडी रीति का ऐसा समन्वित सौन्दर्य साहित्य में कम ही मिल सकता है। लंका मानो विराट् एवं विकराल लांगूल-ज्वालाजाल में फँसी तड़प रही है अथवा स्वयं काल ने उसे निगल जाने के लिए लपलपाती जिह्वा पसार दी है अथवा व्योमवीथी में सहस्र-सहस्र धूमकेतु प्रज्ज्वलित हो रहे हैं अथवा स्वयं वीररस ने वीर के रूप में अंतक खड्ग निकाल लिया है अथवा तड़ित् का नाशक क्रीड़ा-कलाप चल रहा है अथवा मेरु पर्वत से अग्नि नदी प्रवाहित हो चली है? एक-एक अप्रस्तुत वर्णन का उदात्त बिम्बालेखन करने में सक्षम है। तुलसी का अलंकरण संसार-साहित्य को गौरवान्वित करता है।

धूमकेतु का यह वर्णन अपनी कला में धूमकेतु को बारम्बार स्थान प्रदान करने वाले जयशंकर 'प्रसाद' की इस सक्षम शब्दावली का स्मरण करा देता है, "ओह! भयावनी पूँछ वाला धूमकेतु! आकाश का उच्छृंखल पर्यटक! नक्षत्र-लोक का अभिशाप!"[33]

अग्नि का वर्णन संसार साहित्य के प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद से ही प्राप्त होता है। ऋग्वेद के देवताओं में इन्द्र के अनन्तर अग्नि का सर्वाधिक महत्त्व है, जिन पर ढाई हज़ार मंत्र प्राप्त होते हैं। अग्नि को धन की भाँति विलक्षण, सूर्य की भाँति सर्वपदार्थदर्शक, प्राणवायु की भाँति जीवनरक्षक एवं पुत्र की भाँति हितकारी बतलाया गया है, उन्हें अश्व की भाँति लोकवाहक, गौ की भाँति उपकारी किन्तु साथ ही वनदग्धकारी कहकर गाया गया है।[34] संसार के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में

31. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 414
32. रामचरितमानस 5/25
33. ध्रुवस्वामिनी, अंक 4
34. रयिर्न चित्रा सूरो न संदृगायुर्न प्राणो नित्यो न सूनुः।
तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति पयो न धेनुः शुचिर्विभावा।।
(इस मंत्र की मालोपमा ध्यान योग्य है।)

से रामायण, महाभारत और ऐनीड (ऐनियड) में अग्नि की विनाशक लीला के उत्कृष्ट वर्णन प्राप्त होते हैं। रामायण में लंकादहन के दो वर्णन मिलते हैं—एक हनुमान् द्वारा,[35] दूसरा सुग्रीव के आदेश पर अनेक वानर योद्धाओं द्वारा।[36] महाभारत में खाण्डववनदाह-वर्णन बहुत ही प्रभावी ढंग से किया गया है।[37] ऐनीड में ट्रॉय-दहन का वर्णन संसार साहित्य की एक शाश्वत निधि है।[38] कवितावली का लंकादहन वर्णन रामायण के लंकादहन वर्णन, महाभारत के खाण्डववनदाह वर्णन और ऐनीड के ट्रॉयदहन वर्णन की समता तो करता ही है, शब्दचयन और अलंकरण में अधिक कलात्मक भी है।

विश्वकाव्य में व्यापक दहन-वर्णन का आदिस्रोत रामायण ही है। सम्भवतः महाभारत के खाण्डववनदाह-वर्णन पर रामायण के लंकादहन वर्णन का यत्किंचित प्रभाव है। ऐनीड में बारम्बार भारत एवं भारतीय वस्तुओं के उल्लेख के आधार पर रामायण के लंकादहन वर्णन का ट्रॉयदहन वर्णन पर यत्किंचित् प्रभाव सर्वथा विवेच्य है। तुलसी पर रामायण और महाभारत के दहन वर्णनों का यत्किंचित् प्रभाव भी सर्वथा विवेच्य है। मध्यकाल तक लैटिन साहित्य बहुत कुछ कालातीत हो चुका था तथा भारत इटली सम्बन्ध भी टूट चुका था अन्यथा ऐनीड के ट्रॉय-दहन वर्णन का प्रभाव पड़ सकना भी असम्भव न था। अध्यात्म रामायण में लंका दहन की केवल तीन श्लोकों में चर्चा मात्र हुई है।[39]

रामायण के सुंदरकाण्ड का लंकादहन-वर्णन सूचनात्मक अधिक है, भावात्मक कम। उसमें हनुमान् के द्वारा प्रहस्त के भवन से आरम्भ करके, महापार्श्व, वज्र-दंष्ट्र, शुक, सारण, मेघनाद, जम्बुमाली, सुमाली, रश्मिकेतु, सूर्यशत्रु, ह्रस्वकर्ण, दंष्ट्र, रोमश, मत्त, ध्वजग्रीव, विद्युज्जिह्व, हस्तिमुख, कराल, विशाल, शोणिताक्ष, कुम्भकर्ण, मकराक्ष, नरांतक, कुम्भ, निकुम्भ, यज्ञशत्रु, ब्रह्मशत्रु और रावण के भवनों को जलाने तथा केवलमात्र विभीषण का भवन छोड़ने[40] का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है और अग्नि की नाशलीला का अपेक्षाकृत अल्प, क्योंकि इसीमें नगरवासियों की प्रतिक्रियाएँ भी समाहित हैं और ऐश्वर्य विखण्डन भी। एक व्यक्ति द्वारा परिसीमित दहनवर्णन समीचीन भी है। किन्तु विशुद्ध लंकादहन के कुछ श्लोक अतीव सफल हैं। यथा—

35. सुंदरकाण्ड, सर्ग 54
36. युद्धकाण्ड, सर्ग 75
37. आदिपर्व (खाण्डवदाहपर्व), अध्याय 224-25
38. ऐनीड, बुक 2
39. अध्यात्म-रामायण 5/4/42-44
40. सुंदरकाण्ड 54/16

युगान्तकालानलतुल्यरूपः
समारुतोऽग्निर्ववृधे दिवस्पृक् ।
विधूमरश्मिर्भवनेषु सक्तो
रक्षःशरीराज्यसमर्पितार्चिः ॥
आदित्यः कोटिः सदृशः सुतेजा
लङ्का समस्तां परिवार्य तिष्ठन्
शब्दैरनेकैरशनिप्ररूढै—
र्भिन्दन्निवाण्डं प्रबभौ महाग्निः ॥[41]

किन्तु रामायण के युद्धकाण्ड में मेघनाद द्वारा वानरसेना के भयावह विनाश एवं राम-लक्ष्मण को भी मूर्च्छित करने[42] के अनन्तर कूटनीतिकुशल वानरराज सुग्रीव ने कतिपय बलवत्तम एवं क्षिप्रगामी वीरों द्वारा लंकादहन कराया है, उसका वर्णन बहुत ही सजीव है, उदात्तसम्पन्न है, कलात्मक है। कुछ श्लोकों से ही तथ्य स्पष्ट हो सकता है—

... ...

सारवन्ति महार्हाणि गम्भीर गुणवन्ति च ॥
हेमचन्द्रार्धचन्द्राणि चन्द्रशालोन्नतानि च ।
तत्र चित्रगवाक्षाणि साधिष्ठानानि सर्वशः ॥
मणिविद्रुमचित्राणि स्पृशन्तीव दिवाकरम् ॥
क्रौञ्चं बर्हिण वीणानां भूषणानां च निःस्वनैः ॥
नादितान्यचलाभानि वेश्मान्यग्निर्ददाह सः । ...
तत्र चाग्निपरीतानि निपेतुर्भवनान्यपि ॥
वज्रिवज्रहतानीव शिखराणि महागिरेः ।
तानि निर्दह्यमानानि दूरतः प्रचकाशिरे ॥
हिमवच्छिखराणीव दह्यमानानि सर्वशः । ...
हस्त्यध्यक्षैर्गजैर्मुक्तकैश्च तुरगैरपि ।
बभूव लङ्का लोकान्ते भ्रान्तग्राह इवार्णवः ॥
अश्वं मुक्तं गजो दृष्ट्वा क्वचिद् भीतोऽपसर्पति ।
भीतो भीतं गजं दृष्ट्वा क्वचिदश्वो निवर्तते ॥

---

41. सुन्दरकाण्ड, 54/32-33
42. युद्धकाण्ड, सर्ग 73

लङ्कायां दह्यमानानां शुशुभे च महोदधिः।
छायासंसक्तसलिलो लोहितोद इवार्णवः॥
सा बभूव मुहूर्तेन हरिभिर्दीपिता पुरी।
लोकस्यास्य क्षये घोरे प्रदीप्तेव वसुन्धरा॥[43]

रामायण के युद्धकाण्ड का लंकादहन-वर्णन क्या स्वाभाविकता और क्या अतिरंजना, क्या अलंकरण और क्या उदात्त, सभी दृष्टियों से अतीव उत्कृष्ट है। सुन्दरकाण्ड का लंकादहन-वर्णन इसकी समता नहीं कर सकता। सम्भवतः महाभारत और ऐनीड के खाण्डववनदहन-वर्णन और ट्रॉयदहन-वर्णन इससे प्रभावित हुए हैं। कवितावली के लंकादहन-वर्णन पर इसका प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि वह विकाससम्पन्न भी है।

महाभारत के आदिपर्व के अंतर्गत खाण्डवदाहपर्व में अग्निदेव के स्वरूप एवं उनके भीषण कार्यकलाप का उत्कृष्ट वर्णन प्राप्त होता है। विभीषिकाचित्रण की दृष्टि से यह वर्णन अतीव यथार्थसम्पन्न है—

खाण्डवे दह्यमाने तु भूताः शतसहस्रशः।
उत्पेतुर्भैरवान् नादान् विनदन्तः समन्ततः॥
दग्धैकदेशा बहवो निष्टप्ताश्च तथापरे।
स्फुटिताक्षा विशीर्णाश्च विप्लुताश्च तथापरे॥
समालिंग्य सुतानन्ये पितॄन् भ्रातॄनथापरे।
त्यक्तं न शेकुः स्नेहेन तत्रैव निधनं गताः॥
संदष्टदशनाश्चान्ये समुत्पेतुरनेकशः।
ततस्तेऽतीव घूर्णन्तः पुनरग्नौ प्रपेदिरे॥
दग्धपक्षाक्षिचरणा विचेष्टंतो महीतले।
तत्र तत्र स्म दृश्यंते विनश्यंतः शरीरिणः॥
जलाशयेषु तप्तेषु क्वाथ्यमानेषु वह्निना।
गतसत्त्वाः स्म दृश्यंते कूर्ममत्स्याः समंततः॥
शरीरैरपरे दीप्तैर्देहवंत इवाग्नयः।
अदृश्यंत वने तत्र प्राणिनः प्राणिसंक्षये॥...
असम्प्राप्तास्तु ता धारास्तेजसा जातवेदसः।
ख एव समशुष्यंत न काश्चित् पावकं गताः॥[44]

---

43. युद्धकाण्ड, 75
44. आदिपर्व (खाण्डवदाहपर्व) 225/4-10, 20

खाण्डववनदाह वर्णन में इंद्र द्वारा जलधाराएँ बरसाने और अग्नि के तेजातिरेक से आकाश में ही सूख जाने के कारण उन तक आ ही न पाने का वर्णन बहुत ही उत्कृष्ट है। यहाँ उदात्त के महान् दर्शन होते हैं। तुलसी के लंकादहन-वर्णन में भी रावण द्वारा आदेश प्राप्त कर प्रलयपयोद जलधाराएं बरसाते हैं, किन्तु इससे आग चौगुनी बढ़ जाती है, जिसका कोई कारण नहीं दिया गया, जिससे उदात्त तथा कारणवाद का समावेश नहीं हो सका—

जीवन तें जागी आगी, चपरि चौगुनी लागी,
तुलसी भभरि मेघ भागे मुखु मोरि कै ।।[45]

6. भयातिरेक

बीथिका- बजार प्रति, अटनि-अगार प्रति,
पवरि-पगार प्रति बानरु बिलोकिए।
अध-ऊर्ध्व बानरु, बिदिसि-दिसि बानरु है,
मानो रह्यो है भरि बानरु तिलोकिए ।।
मूँदें आँखि हिय में, उघारें आँखि आगे ठाढ़ो,
धाइ जाइ जहाँ-तहाँ, और कोऊ को किए ?
लेहु ! अब लेहु ! तब कोऊ न सिखाओ मानो,
सोई सतराइ जाइ जाहि-जाहि रोकिए ।।[46]

प्रस्तुत महान कवित्त भयातिरेक का उत्कृष्टतम अंकन करता है। हनुमान का आतंक उनकी अतुलनीय क्षिप्रता के कारण इतना अधिक बढ़ गया है कि राक्षस-राक्षसियों को वे त्रिलोकव्याप्त प्रतीत होने लगते हैं। भयातिरेक की पराकाष्ठा तब होती है, जब आँखें मूंद लेने पर भी वे मन में व्याप्त दीखते हैं और विकल होकर आँखें खोल लेने पर सामने खड़े ! यह वर्णन विश्व-स्तरीय है। इसका मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी असाधारण है। भयातिरेक, अन्य वृत्तियों के अतिरेक के सदृश ही, समग्र अस्तित्व का प्रतीक बन जाता है। मानवीय अस्तित्व प्रधानतः अनुभूत्याश्रित है। तुलसी ने इस तथ्य को व्यक्त किया है—

असन, बसन, पसु, बस्तु बिबिध बिधि, सब मन महँ रह जैसे ।
सरक, नरक, चर-अचर-लोक बहु बसत मध्य मन तैसे ।।[47]

---

45. कवितावली 5/19/7-8
46. वही, 5/17
47. विनयपत्रिका 124/5-6

अंग्रेजी के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यकार जॉन मिल्टन ने भी मस्तिष्क की स्वतंत्र सर्जनशक्ति को स्वीकार करते हुए उसकी स्वर्ग को नरक तथा नरक को स्वर्ग में परिणत करने की क्षमता का वर्णन किया है—

द माइंड इज़ इट्स ओन प्लेस, ऐंड इन इट्सेल्फ
कैन मेक ए हेवेन ऑफ हेल, ए हेल ऑफ हेवेन ।[48]

भयातिरेक में आँखें बन्द करना (कबूतर इत्यादि) या शरीर संकुचित करना (कछुए इत्यादि) या सिर छिपा लेना (शुतुमुर्ग) या निपतित होना (बन्दर इत्यादि प्राणी वृक्ष पर सुरक्षित होते हुए भी नीचे सिंह इत्यादि को देखकर) इत्यादि स्वाभाविक चेष्टाएँ हैं। ये प्राणधारियों में बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। जब महायोद्धा अश्वत्थामा ने पाण्डव-शिविर पर आकस्मिक एवं भीषण रात्रि आक्रमण किया तथा धृष्टद्युम्न, उत्तमौजा, युधामन्यु इत्यादि वीरों को एड़ियों से गला इत्यादि दबा-दबाकर मार डाला, बहुतों को तलवार के घाट उतार दिया, तब उस भयावह रक्ताक्तकलेवर शत्रुंजय को राक्षस समझकर लोगों ने आँखें बन्द कर लीं—

तद् रूपं तस्य ते दृष्ट्वा क्षत्रियाः शत्रुकर्षिणः ।
राक्षसं मन्यमानास्तं नयनानि न्यमीलयन् ।।[49]

निविड़ अंधकारपूर्ण रात्रि थी, समग्र पाण्डवपक्षीय योद्धा अठारह दिवसों के घोर एवं अनवरत संग्राम से श्रांत-श्लथ सोए पड़े थे, निद्रा विजयोल्लास के कारण परिपूर्ण एवं सुखद थी—ऐसे में नितान्त अप्रत्याशित, नितान्त आकस्मिक एवं नितान्त विपर्ययपूर्ण आक्रमण हुआ। आक्रांता भी वह महारथी द्रोण का महारथी पुत्र अश्वत्थामा था, जिसने युद्ध में कृष्ण और अर्जुन तक को विचलित करने का गौरव पाया था।[50] पूर्णतः प्रस्तुत, मृत्युभयत्यागी, वह शिविर के भीतर पूर्णतः अप्रस्तुत वीरों का निर्मम संहार कर रहा था और अस्त-व्यस्त रूप से बाहर भागने वाले वीरों को, शिविर में तीन ओर से आग लगाकर, महारथी कृपाचार्य और कृत वर्मा कालकवलित कर रहे थे। कृष्ण, अर्जुन, भीम, सात्यकि जैसे उत्कृष्टतम योद्धा शिविर में विद्यमान न थे। ऐसे स्थल पर भयानकरस की महत्तम स्तरीय निष्पत्ति सर्वथा सम्भव है और वह हुई भी है। महाभारत के सौप्तिकपर्व की भयानकरसनिष्पत्ति संसार साहित्य की एक महानतम निधि है।[51] भयातिरेक एवं

48. द पोएटिकल वर्क्स ऑफ जॉन मिल्टन, पैराडाइज़ लॉस्ट 1/10
49. महाभारत, सौप्तिकपर्व 8/46
50. महाभारत, कर्णपर्व, अध्याय 16
51. महाभारत, सौप्तिकपर्व, अध्याय 8

अव्यवस्था का इसके स्तर का वर्णन सर्वथा दुर्लभ है। किन्तु कवितावली का लंका-दहन वर्णन इसकी समता कर सकता है। कम से कम प्रस्तुत कवित्त भयातिरेक की सर्वव्याप्ति में सौप्तिकपर्व के किसी भी उत्तमोत्तम श्लोक के सर्वथा समकक्ष है। सौप्तिकपर्व की कालरात्रि का चित्र देखिए, जो मनोविज्ञानसम्पन्न भी है, बिम्बा-लेखनसम्पन्न भी—

कालीं रक्तस्यनयनां रक्तमाल्यानुलेपनाम्।
रक्ताम्बरधरामेकां पाशहस्तां कुटुम्बिनीम्॥
ददृशुः कालरात्रिं ते गायामानानवस्थिताम्।
नराश्वकुञ्जरान् पाशैर्बद्ध्वा घोरैं प्रतस्थुषीम्॥[52]

कवितावली के लंकादहन का परिवेश परिप्रेक्ष्य भिन्न है। इसके आलम्बन हनुमान् हैं, जो दिन के उजाले में मेघनाद द्वारा बन्दी बनाकर लाए गए हैं, अप-मानित किए जा रहे हैं, उनकी पूँछ में आग लगाई जा रही है—पूरा नाटक हो रहा है, जिसमें लंकावासी हास, परिहास और व्यंग्य से परिपूर्ण रुचि ले रहे हैं। किन्तु इसके बाद जो विनाशलीला होती है, वह सौप्तिकपर्व का स्मरण करा देती है—आकस्मिक, अप्रत्याशित, अश्रुतपूर्व अग्निकाण्ड! और हनुमान् का विकराल रूप—

···कौतुकी कपीस कूदि कनक-कँगूराँ चढ़्यो,
रावनभवन चढ़ि ठाढ़ो तेहि काल भो॥
तुलसी बिराज्यो ब्योम बालधी पसरि भारी,
देखें हहरात भट, कालु सो कराल भो।
तेज को निधान मानो कोटिक कृसानु भानु,
नख बिकराल, मुखु तैंसो रिस लाल भो॥[53]

गाज्यो कपि गाज ज्यों, बिराज्यो ज्वालाजालजुत,
भाजे बीर धीर, अकुलाइ उठ्यो रावनो।···[54]

सौप्तिकपर्व के वर्णनानुसार, योद्धा विगत युद्धकाल में प्रायशः स्वप्न में कालरात्रि एवं अश्वत्थामा को देखा करते थे (वे स्वप्न में कई-कई बार मारे जा चुके थे!) और अब प्रत्यक्ष में वही देख रहे थे—

---

52. महाभारत, सौप्तिकपर्व 8/69-70
53. कवितावली 5/4/3-8
54. वही, 5/8/1-2

यत: प्रभृति संग्राम: कुरुपाण्डवसेनयो: ।
तत: प्रभृति तां कन्यामपश्यन् द्रौणिमेव च ।।
तांस्तु दैवहतान् पूर्वं पश्चाद् द्रौणिर्व्यपातयत् ।
त्रासयन् सर्वभूतानि विनदन् भैरवान् रवान् ।।
तदनुस्मृत्य ते वीरा दर्शनं पूर्वकालिकम् ।
इदं तदित्यतन्यंत दैवेनोपनिपीडिता: ।।[55]

सौप्तिकपर्व और कवितावली के वर्णन सामूहिक भय के हैं। वैयक्तिक भय के सर्वश्रेष्ठ वर्णन रामायण और अध्यात्म-रामायण में प्राप्त होते हैं, जिनमें दूसरा वर्णन प्रथम का अनुवाद जैसा है। दोनों में आश्रय मारीच और आलम्बन राम हैं। रामायण के मारीच भयातिरेकग्रस्त व्यक्ति के रूप में बहुत ही सफलतापूर्वक चित्रित किए गए हैं—उन्हें वृक्ष-वृक्ष में धनुर्धर राम दीखते हैं; वे चतुर्दिक् सहस्रों रामों को खड़ा पाते हैं, स्वप्न एवं जागरण दोनों ही दशाओं में राम-ही-राम देखते हैं, 'र' वर्ण से सम्बद्ध कोई भी शब्द सुनकर राम का बिम्ब ही पाते हैं—

वृक्षे-वृक्षे हि पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्
गृहीत धनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम् ।।
अपि राम सहस्राणि भीत: पश्यामि रावण ।
रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे ।।
राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसेश्वर ।
दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामि विचेतन: ।।
रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण ।
रत्नानि च रथाश्चैव वित्रासं जनयन्ति मे ।।...
रणे रामेण युध्यस्व क्षमां वा कुरु रावण ।
न ते रामकथा कार्या यदि मां दृष्टुमिच्छसि ।।[56]

अध्यात्म-रामायण के मारीच, रामायण के मारीच के सदृश ही, राम का भयातिरेक जन्य स्मरण करते-करते सर्वत्र राम-ही-राम को देखते हैं—"स्मृत्वा-स्मृत्वा तदेवाहं रामं पश्यति सर्वत: ।"[57] उन्हें भी रकार मात्र आतंकित कर देती है, सोते-जागते और स्वप्न में भी बस राम-ही-राम का भय ग्रस्त किए रहता है—

राममेव सततं विभावये
भीतभीत इव भोगराशित: ।

---

55. महाभारत, सौप्तिकपर्व 8/73-75
56. रामायण 3/39-15-18, 20
57. अध्यात्म रामायण 3/6/18/1

राजरत्नरमणीरथादिकं
श्रोतयोर्यदि गतं भयं भवेत् ।।
राम आगत इहेति शंकया
बाह्यकार्यमपि सर्वमत्यजम् ।
निद्रया परिवृतो यदा स्वपे
राममेव मनसानुचिन्तयन् ।।
स्वप्नदृष्टिगत राघवं तदा
बोधितो विगतनिद्र आस्थितः ।...[58]

रामचरितमानस में यह प्रसंग अत्यधिक संक्षिप्त रूप में ही प्राप्त होता है—

भइ मति कीट भृंग की नाई। जहँ-तहँ मैं देखउँ दोउ भाई ।[59]

भयातिरेक ग्रंथि (फीयर कॉम्प्लेक्स या फीयर फोबिया) को मारीच ग्रंथि कहा जा सकता है। मारीच शताब्दियों तक भयभीत के उपमान रहे हैं। महाभारत में एक स्थल पर राजा दुर्योधन स्वयं को मारीच और अर्जुन को राम के अलंकरण में वर्णित करते हैं, क्योंकि कूटनीतिमर्मी होने के कारण वे जानते थे कि युद्ध में निर्णायक शक्ति अर्जुन की ही हो सकती है। उन्हें भीम से भी अर्जुन-जैसा भय नहीं है, यह वे स्वयं स्पष्ट करते हैं।

7. आत्मकथन

जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि
भयो परितापु पापु जननी-जनक को।
बारें ते ललात-बिललात द्वार-द्वार दीन
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को ।।
तुलसी सो साहेब समर्थ को सुसेवकु है,
सुनत सिहात, सोच बिधिहू गनक को।
नामु राम! रावरो सयानों किधौं बावरो,
जो करत गिरी तें गरु तृन तें तनक को ।।[60]

---

58. अध्यात्म रामायण, 3/6/22-23; 24/1-2
59. रामचरितमानस 3/24-7
60. कवितावली 7/73

कवितावली में दास्यभक्ति के अंतर्गत दैन्यप्रदर्शन की दिशा में तुलसी ने अनेक ऐसे उद्‌गार प्रकट किए हैं, जो उनके जीवन के अनेक बिन्दुओं को स्पष्ट कर देते हैं। यों तो यत्र-तत्र रामचरितमानस, विनयपत्रिका और दोहावली में भी तुलसी के कतिपय जीवन बिन्दु प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु कवितावली इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कवितावली के उत्तरकांड को तुलसी की दास्यभक्तिपरक आत्मकथा कहा जा सकता है, जिनमें उनके भिक्षुक अथवा ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न होने, अशुभजन्मा समझे जाने के कारण माता-पिता द्वारा परित्यक्त किए जाने, भिक्षाटन इत्यादि से लेकर सुखसम्पन्न जीवनयापन करने, विशद जनादर प्राप्त करने, महामुनि के सदृश पूजे जाने इत्यादि तक अनेक एवं समग्रजीवनव्याप्त विषयबिन्दु प्राप्त हो जाते हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'तुलसी-ग्रंथावली' के सारे अंतर्साक्ष्यपरक जीवनबिन्दुओं को परिश्रमपूर्वक संकलित किया है।[61] समग्र अंत-र्साक्ष्यपरक जीवनबिन्दुओं का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि उनके माता-पिता के नाम, उनके दुबे या मिश्र या शुक्ल होने के उल्लेख, उनके राजापुर या सोरों या हाजीपुर या हस्तिनापुर या अयोध्या में उत्पन्न होने के ऊहापोह इत्यादि तो कल्पित हैं ही, उनकी विवाह कथा भी कोरी कल्पना है। यदि तुलसीदास का विवाह हुआ होता, तो दास्यभक्तिपरक स्वदोषवर्णन में वे इस तथ्य का अनेकानेक बार उल्लेख करते। उनका रामप्रेम बाल्यकाल में ही परिपुष्ट हो चुका था, किसी रत्नावली या भारती या अन्य नामधारी पत्नी के द्वारा प्रेरित या स्फुरित या उत्ते-जित नहीं हुआ था—

सेइ साधु गुरु, समुझि, सिखि, रामभगति थिरताइ।
लरिकाईं को पैरिबो तुलसी बिसरि न जाइ॥[62]

तुलसी के इस अतीव महत्त्वपूर्ण दोहे की ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया। इस दोहे की संगति अन्य अन्तर्साक्ष्य से पुष्ट भी है—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तस बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥···
तदपि कही गुरु बारहिंबारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥[63]

स्पष्ट है कि अबोध शैशव से ही वे रामकथा के स्पर्श से पुलकित हुए थे और बाल्यकाल से ही उन्होंने रामभक्ति को जीवनदर्शन के रूप में सुस्थिर कर लिया

---

61. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 337-46
62. दोहावली 140
63. रामचरितमानम 1/30क, 30ख/1

था। अतएव, रामगुलाम द्विवेदी का उनको सजातीय अथवा आत्माराम दुबे का पुत्र घोषित करना, तथाकथित वेणीमाधवदास के तथाकथित गोसाईंचरित एवं तथाकथित रघुवरदास के तथाकथित तुलसीचरित में उनके विवाहित होने के उल्लेख इत्यादि नितांत कल्पित बिन्दु हैं। कोई भी ऐसा बिन्दु जो अंतर्साक्ष्य द्वारा पुष्ट नहीं है, तुलसी के जीवनवृत का अंग नहीं माना जा सकता। जहाँ तक विवाह की कल्पना का सम्बन्ध है, "ऐसी कथाएँ भक्तों के जीवन वृत्तों में सामान्य संसारी जीवों को प्रेरणा प्रदान करने के उद्देश्य से जोड़ दी जाती रही हैं। सूर, नन्ददास, रसखान इत्यादि के साथ भी ऐसी कथाएँ जुड़ी मिलती हैं। उनका प्रभाव अचूक हो सकता है, पर वे प्रामाणिक नहीं हैं।"[64] 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' इत्यादि कल्पनाप्रधान ग्रन्थों एवं कथाओं तथा इन पर आधृत 'व्रजमाधुरीसार' (सम्पादक वियोगीहरि) के कविवृत्त प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। जब स्वयं तुलसी ने अनेक बार ब्याह बरेखी न चाहने और किसी की बेटी से अपना बेटा न ब्याहने की बात कही है, तब उन पर विवाह थोपना उन पर घोर अन्याय करना है।

चार चने धर्म-अर्थ काम-मोक्ष अर्थात् चतुष्फल अर्थात् पुरुषार्थ के पर्याय थे ! राम के नाम के प्रताप से वही दरिद्र भिक्षुक महामुनि के रूप में पूजा जा रहा है—

जाति के, सुजाति के, कुजाति के, पेटागिबस
खाए टूक सबके, बिदित बात दुनीं सो।···
रामनाम को प्रभाउ, पाउ, महिमा, प्रतापु,
तुलसी सो जग मनिअत महामुनी सो।···[65]

अतएव, तुलसी को ठीक ही अपना जीवनवृत्त आश्चर्यजनक लगता था। विधाता जैसे ज्योतिषी को भी इस पर आश्चर्य था ! किंतु ऐसा सकारण था, क्योंकि रामचरित सर्वसक्षम हैं—

मंत्र-महामनि बिषय-ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥[66]

सम्भवतः संसार-साहित्य के किसी महाकवि ने उतना और वैसा आत्मपरक काव्य नहीं रचा, जितना और जैसा तुलसीदास ने। रामायण और महाभारत के वाल्मीकिपरक और व्यासपरक अंश स्पष्टतः प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि उनमें वे वर्ण्य हैं,

---

64. देखें 'तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ' का 'दोहावली' निबन्ध।
65. कवितावली 7/72/1-2, 5-6
66. रामचरितमानस 1/31/9

वर्णनकर्त्ता नहीं। कालिदास ने अपने विषय में कुछ नहीं के बराबर ही लिखा है। होमर ने अपने विषय में प्रत्यक्षतः कुछ नहीं कहा। दांते ने अवश्य यत्किंचित् लिखा है, किंतु वह विशेष आत्मपरक नहीं है और यही बात शेक्सपीयर के सॉनेट्स पर लागू होती है। फिरदौसी ने यत्र-तत्र स्वजीवनसम्बद्ध बिंदु दिए हैं, किंतु वे नितांत प्रासंगिक हैं। अतएव, कवितावली और विनयपत्रिका आत्मपरक काव्य का वैश्विक महत्त्व है।

8. युग स्थिति

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीबिकाबिहीन लोग सीद्यमान सोचबस,
कहैं एक-एकन सों, "कहाँ जाई ? का करी ?"
बेदहूँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकिअत,
साँकरे सबै पै राम ! रावरें कृपा करी।
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु !
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी ॥[67]

तुलसीदास जीवन-सापेक्षता के महाकवि हैं, जीवन-निरपेक्षता के नहीं। रामचरितमानस युग और चिर का सेतु-महाकाव्य है, जिसमें सामान्यतः नीति-वर्णन एवं विशेषतः कलिवर्णन के माध्यमों से तुलसी ने अपने समय का चित्रण किया है। कवितावली के उत्तरकाण्ड में तुलसी ने युगस्थिति का बहुत ही विस्तृत और यथार्थपरक चित्रण किया है, जिससे उनके एक महानतम जनकवि होने के अनेक अकाट्य प्रमाण प्राप्त हो गए हैं। सर्वरसनिष्पत्ति के साथ-साथ युगस्थिति-चित्रण कवितावली की सबसे बड़ी विशेषता है। उन्नीसवीं शताब्दी की बेरोज़-गारी, विशेषतः शिक्षित युवकों की बेरोज़गारी,[68] का भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यत्किंचित् चित्रण अवश्य किया है, किंतु हास्य के प्रतिकूल विषय को हास्य के

67. कवितावली 7/97
68. तीन बुलाए, तेरह आवें।
आपनि बिपदा हमैं सुनावें॥
आँखें फूटीं, भरा न पेट।
क्यों सखि साजन ? ना ग्रेजुएट ॥

अनुकूल रूप में प्रस्तुत करने के कारण उसमें गम्भीरता नहीं आ सकी। मानव की आजीविका-समस्या प्रायः चिरकाल से चली आ रही है। सत्रहवीं शताब्दी में उसके भयावह स्वरूप का तुलसी ने प्रभावी और तथ्यात्मक चित्रण करके अपने गहन इतिहासबोध का परिचय दिया है, "कवितावली में तुलसीदास का युगदर्शन राजनीतिबद्ध मात्र न होकर सर्वव्यापक है। अपने समय की जनता में व्याप्त भुखमरी और बेरोज़गारी के जैसे यथार्थ और मार्मिक चित्र तुलसीदास ने अंकित किए हैं वैसे संसार के किसी कवि ने नहीं। वारन्निकोव ने ठीक ही उन्हें जनकवि कहा है। जनकवि का महान् विशेषण वादबद्धता का सूचक नहीं है। जनकवि उस द्रष्टा महाकवि को ही कहा जा सकता है जिसकी सृष्टि समाज के सुख-दुःख के सारे छोरों को छू सकने की शक्ति रखती हो। जनकवि उस स्रष्टा महाकवि को ही कहा जा सकता है जिसकी दृष्टि में जनजीवन के सुख-दुःख बिम्बित हो गए हों। कवितावली के तुलसीदास सभी दृष्टियों से महान् जनकवि हैं।"[69]

केवल बुलंद दरवाज़ा या केवल ताजमहल देखकर जो किताबी इतिहासकार मुगलकाल (1526-1707 ई० तत्त्वतः, 1526-1857 ई० तिथितः) को स्वर्ण-काल कह मारते हैं, उनकी मिथ्या धारणा का खण्डन तुलसीदास की सर्वथा यथार्थपरक एवं वस्तुपरक कविता के द्वारा सरलतापूर्वक किया जा सकता है। केवल बादशाहों और सिपहसालारों का स्वर्णकाल इतिहास का स्वर्णकाल नहीं कहा जा सकता। स्वर्णकाल वही काल कहा जा सकता है, जिसमें व्यापक जनजीवन सुख-सम्पन्न एवं कलासम्पन्न हो। जिस काल में कृषक, श्रमिक, व्यवसायी, सभी जीविकाविहीनता के क्लेश से पीड़ित हों, भिक्षावृत्ति तक से निर्वाह न हो पा रहा हो, उसे स्वर्णकाल कहना बुद्धि के साथ बलात्कार करना मात्र है। ऐसे काल की गरिमा का अतिभावुक एवं अतिरंजित वर्णन भी वस्तुपरक नहीं माना जा सकता, जैसा कि महाराजकुमार डॉ० रघुवीरसिंह ने 'अवशेष' के 'फतहपुर सीकरी', 'ताज' इत्यादि निबंधों में किया है। तुलसीदास ने अपने काल की राजनीति का निरूपण भी किया है, जो जनता के सुख-दुःख का शाश्वत आधार रही है—

> ···राजकाजु कुपथु, कुसाज भोग रोग ही के,
> बेद बुध बिद्या पाइ बिबस बलकहीं।।···[70]

यह चित्र है विलासप्रिय जहाँगीर के राज्य का, जिसमें बादशाह बलात् अधिकृत नूरजहाँ के साथ शराब-कबाब का स्वाद लेता और कश्मीर का अटन

69. देखें 'विश्वकवि तुलसी और उनके प्रमुख काव्य' का 'कवितावली में युगदर्शन' निबंध।
70. कवितावली 7/98/3-4

करता था और गंग हाथी के पैरों तले कुचलवाए जाते थे और अब्दुर्रहीम खानेखानाँ का सर्वस्व हर लिया जाता था—वे बेचारे, जो किसी समय इसी बादशाह (सलीम) के गुरु थे, चित्रकूट में दयनीय निर्वासित-जीवन बिताते थे ! स्वयं तुजुकेजहाँगीरी (या जहाँगीरनामा, जिसका सुंदर हिंदी-अनुवाद ब्रजरत्नदास ने किया है) बादशाह को अत्यधिक मदपायी एवं क्रूर सिद्ध करती है।[71]

ऐसी विषम युगस्थिति में भी तुलसीदास निराशावादी नहीं हैं, "कवितावली में तुलसीदास ने मध्यकालीन भारत के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, समग्र अंधकार का चित्रण किया है। किंतु क्यों? प्रकाश प्राप्ति के लिए ! उनमें निराशा के स्वर कहीं नहीं हैं। उनके पास रामनाम चिराशा-विश्वास के रूप में विद्यमान है।"[72]

युगस्थिति के तीव्र चित्रण ने इस सुंदर कवित्त में व्याप्त छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, स्वभावोक्ति, रूपक, वीप्सा, परिकरांकुर इत्यादि अलंकारों को छिपा-सा रखा है।

9. गंगा-महिमा

देवनदी कहँ जो जन जान किए मनसा, कुल कोटि उधारे।
देखि चले झगरैं सुरनारि, सुरेस बनाइ बिमान सँवारे।।
पूजा को साजु बिरंचि रचैं तुलसी, जे महातम जाननिहारे।
ओक की नींव परी हरिलोक बिलोकत गंग ! तरंग तिहारे।।[73]

वेद-पुराण-प्रशंसित गंगा का माहात्म्य शाश्वत रहा है। अकबर-जैसे मुसलमान बादशाह तक पावन गंगाजलपान में गहन रुचि रखते रहे हैं। गंगा का शुद्ध जल कभी दूषित नहीं होता, ऐसा प्रसिद्ध है। खेद है कि आधुनिक-काल में अंग्रेज़ों ने बड़े-छोटे नगरों के गंदे नाले, चमड़े इत्यादि के कारखानों का बदबू से भरा पानी वगैरह-वगैरह गंगा में डालकर पावन देवापगा के पीयूष-वारि को दूषित करने का हिंदूधर्म-विद्वेषी षड्यंत्र रचा था, किंतु हर्ष है कि इस तक का प्रभाव जनमानस से गंगा के प्रति अगाध भक्ति को विचलित नहीं कर सका। अपनी सामान्यतम सरिताओं को भी स्वच्छ रखनेवाले गौरांगों ने

71. देखें 'विश्वकवि तुलसी और उनके प्रमुख काव्य' का 'कवितावली में युग-दर्शन' निबंध।
72. वही।
73. कवितावली 7/145

हमारी असामान्यतम सरिताओं तक को अस्वच्छ करना ही उचित समझा ! दुर्भाग्य है कि कोई ऐसा शासन नहीं प्राप्त हुआ, जो विश्व की पावनतम-पूज्यतम सरिता गंगा की आधुनिककाल से पूर्व की पवित्रता एवं स्वच्छता की पुनर्प्रतिष्ठा कर सकता ! ठीक ही है—"मढ़ो दमामा जात है कहुँ चूहे के चाम !"

गंगा की पूजा, वस्तुतः ऋग्वेद की नदीपूजा, ने समग्र विश्व को प्रभावित किया था। मिस्र की नीलपूजा, सामी देशों की उर्दुनपूजा ('जॉर्डन नदी को यहूदी, ईसाई और मुसलमान पूज्य मानते हैं। इस पवित्र नदी पर एक देश का नामकरण भी हुआ है। बाइबिल, विशेषतः 'न्यू टेस्टामेंट', में इसके वर्णन प्राप्त होते हैं—इसीके तट पर यूहना या जॉन ने एशु या ईसा को दीक्षा दी थी।) तथा अरब देशों की जमजम-पूजा इत्यादि बिन्दु इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं।

गंगा ने प्रचण्ड बुद्धि दार्शनिक शंकराचार्य को भावनाविह्वल कवि बनाया था। विद्यापति ने गंगा की लहरी में संगीत की लहरी मिलाई थी—

ब्रह्म-कमंडलु बास- सुबासिनि, सागर-नागर-गृह-बाले।
पातक-महिष-बिदारण-कारण घृत-करबाल-बीचिमाले ॥
जय गंगे, जय गंगे,शरणागत-भयभंगे ॥
सुर-मुनि-मनुज-रुचित पूजोचित कुसुम-बिचित्रित तीरे ॥
त्रिनयन-मौलि-जटाचय-चुम्बित भूति भूषित सित नीरे ॥
हरिपद-कमल-गलत-मधुसोदक पुण्य पुनित सुरलोके।
प्रबिलसदमरपुरी पद-दान-विधान विनाशित शोके ॥[74]

मैथिलकोकिल, अभिनवजयदेव, महा कवि विद्यापति ने गंगा से मार्मिक क्षमा-याचना की थी, अंतकाल में उन्हें न भुलाने की प्रार्थना की थी—

...एक अपराध छेमब मोर जानी। परसल माए, पाए तुअ पानी॥
कि करब जप-तप-जोग-धेयाने। जनम कृतारथ एकहि सनाने॥
भनइ विद्यापति समदओं तो ही। अंतकाल जनु बिसरह मोही॥[75]

गंगा के बल पर ही महाकवि पद्माकर ने अपने अपार कलि-पातक को भुज-दण्ड ठोंककर ललकारा था—

जैसे तैं न मोकों कहूँ नेकहू डेरात हुतो,
तैसे अब तोसों हैं ! हूँ नेकहू न डरिहौं।

---

74. विद्यापति का अमर काव्य (सं० गुणानंद जुयाल) 13/1-7
75. वही, 14/3-5

कहै पदमाकर प्रचंड जो परैगो तौ
उमँड़ करि तोसों भुजदंड ठोंकि लरिहौं ।।
चलो चलु, चलो चलु, बिचलु न बीच ही ते,
कीच बीच तो कुटुंबहि कचरिहौं ।
एरे दगाबाज मेरे पातक अपार ! तोहिं
गंगा के कछार मैं पछारि छार कमिहौं ।।[76]

आधुनिककाल की बौद्धिकता और बौद्धिकरस भी गंगा की उपेक्षा नहीं कर सके, क्योंकि यह उपेक्षा कोटि-कोटि प्राणों में उमगती भावना और आस्था की विगर्हणीय उपेक्षा ही हो सकती है, जो जनमानस को आत्ममानस का पर्यायवाची बनानेवाला कवि नहीं कर सकता—

गंगा की कहानी भारत की कहानी है,
गंगा का भूगोल भारत का भूगोल,
गंगा का जीवन भारत का जीवन है,
गंगा में जल नहीं, जीवन बहता रहता,
गंगा में जल नहीं, पुण्य का प्रवेग बहता ।···
गंगा हमारे देश की महान् नाड़ी है,
जिसके तट पर सहस्रों वर्षों के चलचित्र
सहसा दृश्यमान होते···[77]

ईषत्-पाश्चात्य एवं ईषत्-भारतीय जवाहरलाल नेहरू तक ने गंगा में भारतीय इतिहास, धर्म एवं साधना का सर्वस्व देखा-दिखाया और समझा-समझाया है ।[78]

---

76. गंगा-लहरी 8
77. बौद्धिक रस (कविता-संग्रह) पृष्ठ 120-21
78. "द स्टोरी ऑफ द गंगा, फ्रॉम हर सोर्स टु सी, फ्रॉम ओल्ड टाइम्स टु न्यू, इज़ द स्टोरी ऑफ इंडियाज़ सिविलाइज़ेशन ऐंड कल्चर—ऑफ द राइज़ एड फॉल ऑफ एम्पायर्स, आफ ग्रेट ऐंड प्रॉउड सिटीज़, ऑफ दि एडवेंचर ऑफ द मैन ऐंड द क्वेस्ट ऑफ द माइंड व्हिच् हैज़ सो ऑकुपाइड इंडियाज़ थिंकर्स, ऑफ द रिचनेस ऐंड फुलफिलमेन्ट ऑफ लाइफ ऐज़ वेल ऐज़ इट्स डिनायल ऐंड रिनंसिएशन, ऑफ अप्स ऐंड डॉउन्स, ऑफ ग्रोथ ऐंड डिके, ऑफ लाइफ ऐंड डेथ ।" (डिस्कवरी ऑफ इंडिया)

नेहरू का शरीर राजकुमार का, मन कवि का और बुद्धि देशभक्ति की थी—वे राजनीतिज्ञ नहीं थे । उनकी वसीयत में भी गंगा पर महान् विचार प्राप्त होते हैं ।

भावुक-सम्राट् तुलसी ने इस सवैये अत्युक्ति अलंकार का मनोहारी प्रयोग करते हुए, समग्र आस्था के साथ, भारत की नाड़ी गंगा का अतीव कलात्मक वर्णन किया है। रामचरितमानस हो या विनयपत्रिका या कवितावली, तुलसी गंगा का यथास्थान श्रद्धाभक्तिसंपृक्त वर्णन अवश्य करते हैं और ऐसा करके भारतीय संस्कृति के एक प्रतिनिधि महाकवि का गौरव भी प्राप्त करते चलते हैं, क्योंकि आदिग्रंथ ऋग्वेद के काल से ही भारतीय वाङ्मय गंगा का सम्मान करता चला आ रहा है। गंगारहित भारतीय संस्कृति की कल्पना भी कठिन है।

जिस व्यक्ति ने मन में भी गंगायात्रा का संकल्प किया, उसके करोड़ों कुलों का उद्धार हो गया ! यदि कहीं वह इस पावन यात्रा पर चल पड़ा, तो उसके साथ भावी वरण के हेतु स्वर्ग की सुंदरियों में कलह होने लगता है और स्वयं देवराज इंद्र उसके यथासमय-सम्भावित विमान की उपयुक्त सज्जा करने लगते हैं ! उसके तट के निकट आने पर गंगा-माहात्म्य-मर्मी ब्रह्मा पूजन-अर्चन की सामग्री जुटाने लगते हैं ! इधर वह तट पर आता और गंग-तरंग का अवलोकन करता है, उधर स्वर्ग में उसके आनंदभवन की नींव पड़ जाती है ! अभी तक तो उसने गंगा स्नान किया ही नहीं है; स्नान कर लिया, तो क्या होगा ? इस प्रश्न का उत्तर तुलसी पाठक या श्रोता पर छोड़ देते हैं, क्योंकि उन्हें उसकी मति, गति और भक्ति पर प्रत्यय है !

10. महामारी

संकर-सहर-सर, नर-नारी-बारिचर
बिकल सकल महामारी माजा भई है।
उछरत, उछरत, हहरात, मरि जात,
भभरि भगात, जल-थल मीचुमयी है ॥
देव न दयाल, महिपाल न कृपालचित,
बारानसीं बाढ़ति अनीति नित नई है।
पाहि रघुराज ! पाहि कपिराज, रामदूत !
रामहू की बिगरी तुहीं सुधारि लई है ॥[79]

प्रस्तुत सांगरूपकयुक्त कवित्त में शंकरशहर (वाराणसी अथवा आनंदवन अथवा आनंदकानन, जो पूर्ववैदिककाल में राजकाश्य या काश या (प्रकाश) के

---

79. कवितावली 7/176

राज्य काशी के नगर भाग के रूप में स्थापित किया गया था तथा वरुणा और असी नदियों के मध्य स्थित होने के कारण वाराणसी कहलाया था, तब से लगातार भारत की आत्मा रहा है, आज भी कोटि-कोटि हिंदुओं और बौद्धों का एक महानतम तीर्थ है) में फैले (वर्तमानकाल में प्रचलित शब्द का प्रयोग किया जाए तो) प्लेग नामक महारोग के कारण व्यापक और भीषण विनाश का भोगे हुए यथार्थ से सम्पृक्त वर्णन प्राप्त होता है। जलचर-रोग माजा से स्थलचर-रोग प्लेग की संगति ठीक है। इस विषय पर कवितावली में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, जिसमें "जिस 'बीसी बिस्वनाथ की' का उल्लेख है वह (रुद्रबीसी) अनेक विद्वानों के मतानुसार 1665 से 1684 विक्रमी में पड़ी थी। इस बीच स्वयं तुलसीदास की साक्षी के अनुसार वाराणसी में विषाद की अत्यधिक वृद्धि हुई थी।...मीन की 'सनीचरी' का उल्लेख है; मीन राशि पर शनि की स्थिति राजा-प्रजा, विनाश की सूचक होती है। विद्वानों के अनुसार यह योग 1669-71 विक्रमी में पड़ा था। इस बीच वाराणसी में भीषण महामारी फैली थी, जिसमें सहस्रों व्यक्तियों ने, भयावह पीड़ा सहते हुए, प्राण त्यागे थे।...तत्कालीन इतिहास के ग्रंथों में इसकी व्यापक चर्चा मिलती है, यद्यपि उनमें वाराणसी का पृथक् उल्लेख नहीं है। 'इकबालनामाएजहाँगीरी' में इसके लिए 'ताऊन' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसके लेखक मुतामिदखान के अनुसार इस बीमारी में बगल या जाँघ या गल-जोड़ में फोड़ा निकल आता था और लोग मर जाते थे। पंजाब से शुरू हुई यह बीमारी सरहिंद से होती दोआबे और दिल्ली तक फैल गई। इसकी लपेट में काश्मीर भी आ गया था। यह इतनी अधिक संक्रामक थी कि मृत रोगी के शव-स्पर्श, वस्त्र-स्पर्श इत्यादि से भी सम्बद्ध व्यक्ति के प्राण ले सकती थी। परिणाम यह हुआ कि घर-के-घर तबाह हो गए, लाशें सड़ती रहीं और उन्हें छूने या हटाने की हिम्मत तक न की जा सकी। संक्रमण गायों, कुत्तों इत्यादि तक फैलता गया और उनकी लाशों के ढेर-के-ढेर लग गए। उक्त इतिहासकार ने इस रोग के हिन्दुओं में अपेक्षाकृत अधिक प्रसार का उल्लेख किया है, जिसका कारण इस जन-वर्ग की परतंत्रता तथा बहुसंख्याजन्य दरिद्रता ही हो सकती थी। लगातार आठ सालों तक यह महामारी हिन्दुस्तान के समूचे क्षेत्र को रौंदती रही। इतिहासकार डॉ० ईश्वरीप्रसाद के अनुसार इसका प्रकोप 1616 ई० के आसपास हुआ था। मुतामिदखान ने इसकी शुरुआत के सिलसिले में लिखा है, चूहा बिल से पागल की तरह निकलकर मकान की दीवारों और दरवाज़ों पर टक्करें देता और मर जाता। तुलसीदास ने इसके रोगियों के बारे में ठीक यही बात लिखी है, 'उछरत, उतरात, हहरात, मरि जात'।...मुतामिदखान ने लिखा है कि ताऊन के मरीज़ की शक्ल इतनी डरावनी लगती थी कि उसको देख सकना तक मुश्किल था! 'महिपाल न कृपालचित' जहाँगीर की मदिरोन्मत्त-अर्द्धविक्षिप्तता की स्थिति में दिए गए

मरणदण्डादि की ओर भी संकेत करता है, जनता की उपेक्षा की ओर भी।"[80]

माजाग्रस्त मत्स्य और ताऊनग्रस्त मूषक के सदृश मनुष्य का असह्य क्लेश भोगने के अनंतर दयनीयतम अवसान तुलसी ने नितांत वस्तुपरक रूप में चित्रित किया है। जब भयावह विनाश लीला का ताण्डव होता है, तब दुश्चरित्र वर्ग को अनायास ही लूट-पाट, चोरी-बटमारी, छीना-झपटी और व्यभिचार-बलात्कार इत्यादि का अवसर प्राप्त हो जाता है, क्योंकि उखड़े हुए और दुर्बल विपत्ति-आखेट मानव समुचित प्रतिरोध कर सकने की स्थिति में नहीं रह पाते। तुलसी ने "बारानसीं बाढ़ती अनीति नित नई है" में इसी ओर संकेत किया है। स्वयं उनको डाकुओं और चोरों का प्रकोप सम्भवत: इसी अवधि में अनुभूत हुआ होगा—

बासर ढासनि के ढका, रजनी चहुँदिसि चोर।
संकर! निजपुर राखिए, चितै सुलोचन-कोर।।[81]

और शंकर ने उनकी यह प्रार्थना स्वीकार की, सुलोचन-कोर से दृष्टि डालकर उन्हें क्षतिमुक्त रखा, उन पर भौतिक ताप नहीं पड़ने दिए। आज जिस वाराणसी में मानस-मंदिर है, तुलसी-घाट है, संकटमोचन-मंदिर है अर्थात् तुलसी के सर्वाधिक स्मारक हैं, उसमें उन्हें जीवनकाल में शत-शत संकट झेलने पड़े थे! संकटजयी ही विश्वकवि बन सकता है।

11. संकटनाशक हनुमान्

सिंधुतरन, सियसोचहरन, रबिबालबरन-तनु।
भुज बिसाल, मूरति कराल कालहु को काल जनु।।
गहनदहन-निरदहनलंक नि:संक, बंक-भुव।
जाधुधान-बलवान-मान-मद-दवन पवनसुव।।
कह तुलसिदास सेवत सुलभ, सेवक-हित संतत-निकट।
गुनगनत, नमत, सुमिरत, जपत समन सकल संकट बिकट।।[82]

---

80. देखें 'विश्वकवि तुलसी और उनके प्रमुख काव्य का कवितावली में 'युग-दर्शन' निबंध।
81. दोहावली 239
82. कविताली, हनुमानबाहुक 1

आदिकाल की वीरगाथा-शैली का स्मरण कराने वाला यह महान् छप्पय अपने अद्भुत शब्दचयन, बिम्बालेखन एवं भक्तिभाव में उच्चतम कवच का स्थान ग्रहण करता है। इसका पाठ अतीव लाभकर है, क्योंकि यह महावीर हनुमान् का ध्यान लगवा सकने में सक्षम है। पृथ्वीराजरासो, हम्मीररासो, शिवराजभूषण, शिवा बावनी और छत्रसालदशक के भी बहुत ही थोड़े छंद इसकी समता कर पाएंगे। तुलसी के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्हें हनुमान् 'इष्ट' थे। तुलसी ने हनुमान् की प्रतिमाएं स्थापित की थीं और तुलसीघाट की मूर्ति तथा संकटमोचन की मूर्ति के प्रतिष्ठापक वे ही माने जाते हैं। महाराष्ट्र के महान् संत, छत्रपति शिवाजी के गुरु, समर्थ श्री रामदास भी राम और मारुति के प्रबल भक्त थे। सम्भवत: उन पर तुलसी का प्रभाव पड़ा था। दोनों महान् लोकनायक, द्रष्टा-स्रष्टा महापुरुष राम और मारुति की लोकरक्षक शक्ति से हिंदूजाति को प्रेरित करने में अत्यधिक सफल हुए हैं। रामचरितमानस विश्व का एक सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। उधर, दासबोध भी एक महान् विश्वग्रंथ ही है। तुलसी के हनुमान् से सम्बद्ध लोकवृत्त इस छंद से सिद्ध प्रतीत होते हैं। इसे पढ़ने पर प्रस्तुत दोहे का स्मरण आ जाता है—

प्रनवउँ पवनकुमार खलबनपावक, ग्यानघन।
जासु हृदय-आगार बसहिं राम सर-चाप-धर ॥[83]

तुलसी ने विनयपत्रिका में अनेक पदों में हनुमत्-स्तुति की है, जो अत्यंत उत्कृष्ट है। कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

जयत्यंजनी-गर्भ-अंभोधि-संभूत विधु, विवुधकुलकैरवानंदकारी।
केसरी-चारु-लोचन-चकोरक-सुखद, लोकगनशोकसंतापहारी ॥
जयति जय बालकपि केलि-कौतुक उदित-चंडकर-मंडल-ग्रासकर्ता।
राहु-रवि-शक्रपति-गर्व खर्वीकरण, शरण-भयहरण जय भुवनभर्ता ॥[84]

जयति मर्कटाधीश, मृगराज-विक्रम, महादेव, मुद-मंगलालय, कपाली।
मोहमदक्रोधकामादिखलसंकुला-घोर-संसारनिशि-किरणमाली ॥[85]

जयति मरुदंजनामोदमंदिर, नतग्रीव-सुग्रीव-दु:खैकबंधो।
यातुधानोद्धत -क्रुद्ध-कालाग्निहर, सिद्धसुरसज्जानंद-सिंधो ॥
जयति रुद्राग्रणी, विश्ववंद्याग्रणी, विश्वविख्यात भट-चक्रवर्ती।
सामगाताग्रणी, कामजेताग्रणी, रामहित-रामभक्तानुवर्ती ॥[86]

---

83. रामचरितमानस 1/17
84. विनयपत्रिका 25/1-4
85. वही, 26/1-2
86. वही, 27/3-6

निस्संदेह, निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' शीर्षक महान् कविता पर विनय-पत्रिका के हनुमान्-स्तोत्रों का प्रभाव पड़ा है—उनकी दूसरी महान् काव्यसृष्टि तो 'तुलसीदास' है ही ! आधुनिककाल के सर्वोपरि क्रांतिकारी-महाकवि निराला ने तुलसी की प्रतिभा से समुचित लाभ भी उठाया है और उसका सम्यक् आकलन भी किया है। स्वयं हनुमदाकार, अपोलो के अवतार, हिन्दी के हरक्युलीज़ निराला हनुमान् के भक्त थे। आधुनिक हनुमान्-भक्तों में चीन के महान् नेता माओ त्से-तुंग का नाम अग्रणी है और यह तथ्य बहुत ही कम लोगों को ज्ञात है !

हनुमानबाहुक और छत्रसालदशक हिन्दी-साहित्य के दो ऐसे परमोत्कृष्ट काव्य हैं, जो लघुतम आकार के होते हुए भी बृहत्तम गौरव के अधिकारी हैं। जिन्होंने इन्हें पढ़ा समझा है, वे इनसे अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकते। भक्त के लिए प्रस्तुत छप्पय संस्कृत के इस प्रख्यात कवच का स्थान ग्रहण कर सकता है—

मनोजवं मारुततुल्यवेगं,
जितेन्द्रियं, बुद्धिमतांवरिष्ठम् ।
वातात्मजं, वानरयूथमुख्यं,
श्रीरामदूतं शरणंप्रपद्ये ॥

12. हनुमान-विग्रह

स्वर्नसैलसंकास, कोटिरबितरुनतेजघन ।
उर बिसाल, भुजदंड चंड, नख बज्र, बज्र तन ॥
पिंग नयन, भृकुटी कराल रसना दसनानन ।
कपिस केस, करकस लँगूर, खलदलबलभानन ॥
कह तुलसिदास बस जासु उर मारुतसुत मूरति बिकट ।
संताप, पाप तेहि पुरुष पहिं सपनेहुँ नहिं आवत निकट ॥[87]

प्रस्तुत छप्पय अतीव सशक्त शब्दचयन, अतीव उत्कृष्ट बिम्बालेखन एवं अतीव सफल उदात्त के त्रित् में मानवजाति के साहित्य की एक अजर-अमर निधि है। होमर के देववर्णन का उदात्त अनायास ही स्मृत हो उठता है ! इलियड के दीर्घवृत्त का गौरव अनायास ही स्मृत हो उठता है ! 'पैराडाइज़ लॉस्ट' की कुछ सर्वोत्तम पंक्तियाँ अनायास ही स्मृत हो उठती हैं ! रावण की कृति के रूप में

87. कवितावली, हनुमानबाहुक 2

अमर शिवताण्डवस्तोत्र के भी दो महान् आरम्भिक श्लोक ही हनुमानबाहुक के दो आरम्भिक छप्पयों की समता कर सकते हैं—

जटाकटाहसम्भ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरी-
विलोलवीचिवल्लरी विराजमान मूर्धनि ।
धगद्धगद्धगज्ज्वलल्ललाटपट्टपावके,
किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम ।।
जटाटवीगलज्जलप्रवाहपावितस्थले
गलेऽवलम्ब्यलम्बितां भुजंगतुंगमालिकाम् ।
डमड्डमड्डमड्डमन्निनादवड्डमर्वयं,
चकार चण्डताण्डवं तनोतु नः शिवः शिवम् ।।[88]

निस्संदेह, शिवताण्डवस्तोत्र के मूल पंद्रह श्लोक संसार-साहित्य के पंद्रह सर्वश्रेष्ठ छंद हैं। इस दृष्टि से वे अतुलनीय हैं। हनुमानबाहुक के सारे चवालीस छंद मिलकर भी उनकी समता नहीं कर सकते। किंतु, जहाँ तक इन दो आरम्भिक छप्पयों का सम्बंध है, ये सर्वथा तुलनीय तथा महान् हैं। अन्य छंदों में कई घना-क्षरियाँ उत्कृष्ट हैं। सवैया और झूलना छंद अवश्य शिथिल हैं, क्योंकि ये छंद ओजगुण के बहुत अनुकूल नहीं होते। ओजगुण रोला, उल्लाला, छप्पय, घनाक्षरी (कवित्त) शार्दूलविक्रीडित इत्यादि छंदों में ही परमोत्तम कलेवर प्राप्त करता है। माधुर्यगुण के लिए सवैया, मालिनी, शिखरिणी, मंदाक्रांता, वंशस्थ इत्यादि छंद उपयुक्त होते हैं। प्रसादगुण चौपाई, दोहा, सोरठा, कुण्डलिया, हरिगीतिका इत्यादि छंदों में अच्छा खिलता है। यों, कवि का सामर्थ्य किसी भी छंद को किसी भी गुण का आलय बना सकता है।

प्रस्तुत छप्पय हनुमानबाहुक का सर्वश्रेष्ठ छंद है। इसके आधार पर ध्यान लगाया जा सकता है। यह विनयपत्रिका की इन पंक्तियों में चित्रित हनुमान्-विग्रह का स्मरण करा देता है—

जयति वातसंजात, विख्यातविक्रम, बृहदबाहु, बलविपुल, बालधिबिसाला
जातरूपाचलाकारविग्रह, लसल्लोल विद्युल्लता ज्वालमाला ।।
जयति बालार्कवरवदन, पिंगलनयन, कपीश-कर्कश-जटाजूटधारी ।
बिकट भृकुटी, वज्रदशननख, वैरिमदमत्तकुंजरपंज-कुंजरारी ।।[89]

---

88. शिवताण्डवस्तोत्रम् 1-2
89. विनयपत्रिका 28/1-4

तुलसी ने महावीर हनुमान् के सुस्पष्ट दर्शन किए थे, जो उनके अनेकानेक उदात्त बिम्बालेखनों से स्पष्ट हो जाता है। वस्तुत: राम के भक्तों में लक्ष्मण, हनुमान् और तुलसीदास प्रमुख हैं। एक अन्य हनुमान्-विग्रह का दर्शन करिए—

अतुलितबलधामं, स्वर्णशैलाभदेहं,
दनुजवनकृशानुं, ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं, वानराणामधीशं,
रघुपतिवरदूतं, वातजातं नमामि ।।[90]

90. रामचरितमानस 5/3

गीतावली

तुलसी की कृतियों में रामचरितमानस, विनयपत्रिका और कवितावली के अनंतर गीतावली का स्थान अन्यतम है। आकार में गीतावली रामचरितमानस के अनंतर तुलसी की बृहत्तम कृति है। यद्यपि इस उत्कृष्ट कृति के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं, तथापि गीता प्रेस, गोरखपुर का प्रस्तुतीकरण सर्वोत्तम है। इसमें कुल 330 पद हैं।[1] जैसाकि अभिधान से ही स्पष्ट है, गीतावली गीतिकाव्य है। गोस्वामीजी ने इसे आसावरी, सूहो, नट, केदारा, सोरठ, कल्याण, जैतश्री, बिलावल, टोड़ी इत्यादि रागों में निबद्ध किया है। विनयपत्रिका में भी गीतिकाव्य की अच्छी छटा है। वह भी राग-रागिनियों में निबद्ध है। किंतु उसके स्तोत्र पारम्परिक हिन्दी गीतिकाव्य की दृष्टि से विलक्षण प्रतीत होते हैं। श्रीकृष्णगीतावली भी गीतिकाव्य है, राग-रागिनियों में निबद्ध है, किन्तु एक तो वह लघुतर कृति है, दूसरे उस पर सूर का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है। अतएव, विशुद्ध गीतिकाव्य की दृष्टि से गीतावली तुलसी की प्रतिनिधि तथा प्रमुख रचना है, क्योंकि एक तो यह राग-रागिनियों में निबद्ध है, दूसरे इसका विषयचयन एवं शैलीशिल्प केवलमात्र गीतिकाव्य को ही परिलक्षित करते हुए निर्धारित किया गया है। पारम्परिक काण्डक्रम के बावजूद गीतावली में वात्सल्य, शृंगार एवं प्रपत्ति को ही वरीयता प्रदान की गई है। गीतावली में गेयता, आत्माभिव्यक्ति, कोमलता एवं अभिव्यक्तिगत प्रांजलता की सर्वोपरिता इसे एक सुनियोजित गीतिकाव्य सिद्ध करती है। इस मनोहारी कलाकृति का अंगीरस शृंगार है, यद्यपि तुलसी की अन्य कृतियों के सदृश यह भी भक्ति से ओतप्रोत है।

गीतावली में प्रमुख वर्ण्यविषय राम का सौन्दर्य है, जो आदि से अंत तक व्याप्त है। शिशु, बालक, किशोर, तरुण और युवक राम की नाना झाँकियाँ गीतावली को सौन्दर्यकाव्य सिद्ध करती हैं। राजकुमार राम, विश्वामित्र-यज्ञरक्षक राम, जनकपुर में राम, वनपथ पर राम, चित्रकूट में राम, संग्रामभूमि में राम, राजसिंहासन पर राम, हिंडोले पर राम इत्यादि वर्ण्यविषय में सौंदर्यचित्रण गुण एवं परिमाण की उभय दृष्टियों से अन्यतम है।

---

1. गीतावली (गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वादश संस्करण, 2027 वि०) में सम्पादक-अनुवादक (टीकाकार) श्री मुनिलाल के 'दो शब्द', पृष्ठ 7

गीतावली प्रकृतिचित्रण की दृष्टि से एक सफल कलाकृति है। चित्रकूट एवं अरण्य के वर्णन अनुभूति एवं अभिव्यक्ति दोनों ही पक्षों की दृष्टि से बहुत सुंदर हैं। इसमें आलम्बनात्मक, उद्दीपनात्मक एवं उपदेशात्मक प्रकृतिचित्रण प्रमुख हैं।

गीतावली की भाषा विशुद्ध किंतु अपेक्षाकृत अधिक संस्कृतनिष्ठ व्रजभाषा है, जिस पर तुलसी की अपनी निजी छाप यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

उल्लेखनीय गीतिकाव्य की दृष्टि से गीतावली हिन्दी-साहित्य की एक उत्कृष्ट कलाकृति है।

1. क्वासि ?

ए कौन ? कहाँ तें आए ?
नील-पीत-पाथोज-बरन, मन-हरन, सुभाय सुहाए॥
मुनिसुत किधौं भूपबालक किधौं ब्रह्म-जीव जग जाए ?
रूपजलधि के रतन ? सुछबि-तिय-लोचन ललित ललाए ?
किधौं रबिसुवन ? मदन-ऋतुपति ? किधौं हरिहर वेष बनाए ?
किधौं आपने सुकृत-तरुवर के सुफल रावरेहि पाए ?
भए बिदेह बिदेह नेहबस देहदसा बिसराए।
पुलकगात, न समात हरष हिय, सलिल सुलोचन छाए॥···[2]

"क्वासि ?" अथवा "कस्मै देवाय ?" का प्रश्न चिरंतन है। इस प्रश्न का प्रश्न ही बने रहना इसका उत्तर है। इस प्रश्न का प्रश्न ही बने रहना इसकी सर्वोच्चता का सूचक है। कोटि-कोटि प्रहेलिकाएँ, अंतर्लापिकाएँ एवं बहिर्लापिकाएँ इस प्रश्न के समक्ष नत हैं। याज्ञवल्क्य जैसे मानवजाति के एक सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक एवं महर्षि ने भी इस प्रश्न को प्रश्न के रूप में ही छोड़ना उचित समझा था, "विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ?"[3] जो सबको जानता है, उसे सब (हम) कैसे जान सकते हैं ? याज्ञवल्क्य के ही परम मित्र एवं शिष्य जनक राम को देखकर ठीक ऐसा ही प्रश्न कर रहे हैं। तुलसी ने कितनी गहन एवं सूक्ष्म संगति का परिचय दिया है ! रामचरितमानस, गीतावली और जानकीमंगल में तुलसी के जनक द्वारा राम के प्रथम दर्शन आत्मसाक्षात्कार के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत और

2. गीतावली 1/65/1-8
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/14

चित्रित किए गए हैं, जिनकी काव्यात्मक और दार्शनिक उत्कृष्टता सर्वोच्च कोटि की है। इस वर्णन में संदेह अलंकार का सर्वोच्च-स्तरीय प्रयोग प्राप्त होता है। सप्तम पंक्ति में मनोहारी यमक के दर्शन होते हैं। अंतिम पंक्ति में उत्कृष्ट भक्ति-बिम्ब तुलसीत्व का प्रतीक है। अप्रस्तुत-योजना जितनी कलात्मक है, उतनी ही दर्शनसम्पन और उसमें सूक्ष्म-स्थूल उभय तत्त्वों का समावेश ब्रह्म की व्यापकता के सर्वथा अनुकूल है। जनक की विह्वलता में भक्तिरस के अनुभाव-संचारीभाव हृदयहारी रूप में संपृक्त कर दिए गए हैं। प्रस्तुत पद क्या काव्यरस, क्या काव्य-कला, क्या भक्तिरस, क्या ब्रह्मरस सभी दृष्टियों से सर्वोच्च कोटि का है। जनक की रामदर्शनजन्य आनंदानुभूति को शब्दबद्ध करने में तुलसी बहुत सफल हुए हैं—

सुख के निधान पाए, हिय के पिधान लाए,
ठग के से लाडू खाए, प्रेममधु छाके हैं।
स्वारथरहित, परमारथी कहावत हैं,
भे सनेहबिबस, बिदेहता-बिबाके हैं।।...[4]

तुलसी का जनक के द्वारा और सूर, नंददास, रत्नाकर इत्यादि का उद्धव के द्वारा अंततोगत्वा निर्गुण पर सगुण, निराकार पर साकार, ज्ञान पर भक्ति, और योग पर प्रेम को वरीयता प्रदान कराना भक्तिदर्शन की दृष्टि से तत्त्वत: अभिन्न है। जनक और उद्धव दोनों मुख्यत: और मूलत: ज्ञानमार्गी-योगमार्गी हैं। निर्गुणवादी-निराकारवादी हैं। किंतु जनक राम का रूप देखकर और उद्धव गोपिकाओं की विह्वलता देखकर भक्तिमार्गी-प्रेममार्गी बन जाते हैं, सगुणवादी-साकार-वादी बन जाते हैं। जनक महत्तर ब्रह्मज्ञानी थे। अतएव, उनका चित्रण भी महत्तर है। तुलसी की महानतम प्रतिभा ने ब्रह्मज्ञानी जनक को अवतारवादी बनाने में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। "क्वासि ?" की यह टेर आधुनिक कविता में भी सुनी जा सकती है—

वह विराट् था हेम घोलता
नया रंग भरने को आज,
कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज।[5]

न जाने कौन ? अए द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान,

4. गीतावली 1/64/4-7
5. कामायनी, चिन्ता सर्ग

सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान;
अहे, सुख-दुख के सहचर मौन !
नहीं कह सकती, तुम हो कौन ?[6]

तुलसी ने निर्गुण-निराकार की सगुण-साकार और सगुण-साकार की निर्गुण-निराकार में सफल परिणति की है। इस दृष्टि से, समग्र भारतीय भक्तिसाधना और भक्तिसाहित्य में उनकी समता करने वाला कोई नहीं मिलता। वे कबीर इत्यादि के सदृश अपेक्षाकृत अधिक निर्गुणवादी नहीं हैं, वे सूर इत्यादि के सदृश अपेक्षाकृत अधिक सगुणवादी भी नहीं हैं। निर्गुणवाद-सगुणवाद के अद्वितीय समन्वय के कारण उनका ब्रह्मदर्शन पूर्णतम है। केवल उपनिषद् का ब्रह्मदर्शन ही तुलसी के ब्रह्मदर्शन की समता कर सकता है। तुलसी का अवतारवाद निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार, ज्ञान-भक्ति, योग-प्रेम, प्रवृत्ति-निवृत्ति एवं कर्म-धर्म का अप्रतिम समाहार है।

चरम सत्य का साक्षात्कार मानव के लिए सम्भव नहीं, क्योंकि चरम सत्य असीम है और मानव ससीम। मानव की ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बद्ध हैं, जबकि ब्रह्म मुक्त। मानव की जो क्षणभंगुर आँख एक ही वस्तु को सहज रूप में कुछ देखती है, चश्मा लग जाने पर कुछ-और, दूरबीन से कुछ-और, जॉड्रेल बैंक की वेधशाला से कुछ-और, वह असीम और अनंत ब्रह्म या सत्य का समग्र साक्षात्कार कैसे कर सकती है ? ससीम और सांत मानव असीम और अनंत ब्रह्म या सत्य का साक्षात्कार कैसे कर सकता है ? 'क्वासि ?' या 'कस्मै देवाय ?' या 'नेति' या 'शून्य' या 'निर्बीज' या 'अज्ञेय'[7] या 'रहस्यवाद' इत्यादि सत्य की असीमता और मानव की ससीमता के ही प्रतीक हैं। तुलसी ने परम ज्ञानी जनक के द्वारा राम या ब्रह्म या सत्य को देखकर जिस प्रश्नमयता की सृष्टि की है, वह उन्हें एक महान् दार्शनिक-कवि सिद्ध करती है। विश्वकवि के जनक की विह्वलता अथवा स्वविस्मृति भी अतीव सूक्ष्म है—जो विह्वल नहीं हो सकता वह आनंद के समीप नहीं पहुँच सकता, जो स्वविस्मृत नहीं हो सकता वह आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकता। दर्शन में अस्मिता सस्मिता नहीं बन सकती। संसार के परम ज्ञानियों ने अस्मिता को

---

6. पल्लव, मौन-निमन्त्रण
7. कांट का 'अज्ञेयवाद' और स्पेन्सर का 'अज्ञेय' विल ड्यूराँ की 'स्टोरी ऑफ फिलॉसॉफी' और बर्ट्राण्ड रसेल की 'हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसॉफी' जैसे ग्रंथों में सरलता पूर्वक समझाया गया है। वस्तुतः इसका उद्गम भारत के नेतिनेतिवाद में है।

वरेण्य नहीं माना। याज्ञवल्क्य हों या पश्चिम के याज्ञवल्क्य सुकरात, व्यास हों या पश्चिम के व्यास प्लेटो, शंकराचार्य हों या पश्चिम के शंकराचार्य कांट, संसार के सर्वोच्च चिंतकों ने अस्मिताविहीन प्रश्नवाद को ही श्रेयस्कर माना है। इस दृष्टि से, तुलसीदास संसार के एक महान् दार्शनिक भी माने जा सकते हैं। उनका दर्शन अस्मिताविहीन समन्वयवाद का यत्र-तत्र-सर्वत्र सम्मान करता है। उसमें यत्र-तत्र-सर्वत्र एक लचीली दार्शनिकता के दर्शन होते हैं, जो मानवजाति के लिए सर्वथा उपयोगी है।

2. विवाह-शोभा

दूलह राम, सीय दुलही, री !
घन-दामिन बर बरन, हरनमन, सुंदरता नख-सिख निबही, री ।।
ब्याह-बिभूषन-बसन-बिभूषित, सखिअवली लखि ठगि-सी रही, री।
जीवन-जनम-लाहु, लोचन-फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही, री ।।
सुखमा-सुरभि सिंगार-छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही, री।
मथि माखन-सियराम सँवारे, सकल भुवन छबि मनहु मही, री ।।
तुलसिदास जोरी देखत सुख, सोभा अतुल, न जात कही, री।
रूपिरासि बिरची बिरंचि मनो, सिला-लवनि रति-काम लही, री ।।[8]

उपर्युक्त पद हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ पदों में एक है, जिसमें विश्वकवि तुलसी का अप्रतिम सौन्दर्यबोध अतीव प्रशांत रूप में व्यक्त हुआ है। वरवधू शोभा समाज की सर्वोपरि शोभा है—जीवन के जीवन यौवन की कामना की कामना प्रीति से सम्पन्न, जीवन को शाश्वत रूप प्रदान करने की मूल शोभा। भारत, जहाँ विवाह एक परिवर्तनीय सामाजिक समझौता न होकर एक अटूट धार्मिक सम्बन्ध है, विवाह को सर्वोपरि महत्त्व देता आया है। तुलसी ने इस सर्वोपरिता को उपयुक्त गौरव के साथ अंकित किया है।

विवाहदर्शन में नारियों, विशेषतः कुमारियों की रुचि अत्यधिक बलवती होती है। तुलसी ने इस तथ्य का भी ध्यान रखा है। तुलसी की प्रतिभा जीवनरस से सराबोर है। परम संत होते हुए भी, उन्होंने जीवन के रागरंग की तनिक भी उपेक्षा नहीं की। परम विरक्त होते हुए भी, उन्होंने अनुरक्ति के सफलतम चित्रण किए हैं। परम निवृत्तिमय होते हुए भी, उन्होंने प्रवृत्ति के मनोहारी अंकन

8. गीतावली 1/106

किए हैं। तुलसी जीवन को सर्वोपरि मानते हैं—प्रवृत्ति, निवृत्त, सबकुछ जीवन के अंग हैं। इसलिए, जीवन का समग्र चित्रण करने में उन्हें सर्वोपरि सफलता प्राप्त हुई है।

सौन्दर्यचित्रण की दृष्टि से प्रस्तुत पद संसार-साहित्य की एक उत्कृष्ट निधि है। उदात्त और विराट्, विशद और कोमल, सरस और स्निग्ध, प्रायः सभी कोटियों के अप्रस्तुतों से राम-शक्ति को अतीव कुशलतापूर्वक सँवारा गया है। जहाँ तक अलंकरण का सम्बन्ध है, वह अद्वितीय वर्ग का है, "उपर्युक्त अवतरण की आरम्भिक दो पंक्तियों में वीप्सा, यथासंख्य (क्रम), भंगपद यमक, छेकानुप्रास, श्रुत्यनुप्रास सरलता से देखे जा सकते हैं; तृतीय-चतुर्थ पक्तियों में स्वभावोक्ति, वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास सरलता से देखे जा सकते हैं; पंचम-षष्ठ पंक्तियों में सांगरूपक, उत्प्रेक्षा, अत्युक्ति, वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास सरलता से देखे जा सकते हैं; सप्तम-अष्टम पंक्तियों में सांगरूपक, उत्प्रेक्षा, परिकरांकुर, प्रतीप, अतिशयोक्ति, छेकानुप्रास सरलता से देखे जा सकते हैं। आठ पंक्तियों में इतने और ऐसे अलंकार अन्यत्र कहाँ मिलेंगे?"[9] इतने पर भी, चतुर्थ पंक्ति में उदात्त और षष्ठ पंक्ति में ('भुवन' और 'मही') में पुनरुक्तवदाभास अलंकार छूट ही गए हैं! शब्दचयन की कोमलता और ध्वनिसम्पन्नता में भी प्रस्तुत पद उच्चतम श्रेणी का है।

3. वनपथ पर पथिकत्रय

मनोहरता के मानो ऐन।
स्यामल-गौर किसोर पथिक दोउ, सुमुखि! निरखु भरि नैन॥
बीच बधू बिधुबदनि बिराजति, उपमा कहुँ कोऊ है न।
मानहु रति-ऋतुनाथ सहित मुनिबेष बनाए है मैन॥
किधौं सिंगार-सुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग-चित-बित लैन।
अदभुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग-लोगन्हि सुख दैन॥
सुनि सुचि, सरल सनेह-सुहावने ग्राम-बधुन्ह के बैन।
तुलसी प्रभु तरुतर बिलँबे, किए प्रेम कनौड़े कै न॥[10]

---

9. देखें 'विश्वकवि तुलसी और उनके प्रमुख काव्य का गीतावली में अलंकार' निबंध।
10. गीतावली 2/24

रामवनगमन संसार के समग्र इतिहास की महतोमहीयान् घटना है, जो पितृ-प्रेम, विमातृप्रेम , भ्रातृप्रेम, पतिप्रेम और त्याग, तप, प्रेय, श्रेय से समन्वित होने के कारण मानवजाति को सदैव प्रेरणा देती रहेगी। तुलसी ने इसके गौरव की ठीक-ठीक परख की है। उनका रामवनगमन-वर्णन, विशेषत: वनपथ पर राम-सीता-लक्ष्मण का वर्णन, मौलिकता, भावुकता, संवेदनशीलता, प्रभावान्विति इत्यादि की दृष्टियों से सर्वोत्तम है। वाल्मीकि का रामवनगमन-वर्णन वस्तुपरक और यथार्थपरक है, तुलसी का आत्मपरक और भावपरक। तुलसी का यह वर्णन नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा और प्रकरणवक्रता की दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य में तो अद्वितीय है ही, संसार-साहित्य में भी अतुलनीय है। जहाँ तक अध्यात्म-रामायण का सम्बन्ध है, उसमें रामकथा एक तो संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत की गई है, दूसरे उसकी प्रामाणिकता और उसका काल इत्यादि संदिग्ध हैं। यों, उसमें रामवनगमन बहुत संक्षेप में वर्णित है। तुलसी का रामवनगमन उनका अपना है, जिसे उन्होंने रामचरितमानस, कवितावली और गीतावली में बहुत ही सुंदर और विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है। संसार-साहित्य की प्रकृति से अनभिज्ञ अथवा पूर्वाग्रहग्रस्त अथवा ख्यातिआखेटक अथवा व्यवसायमूलक अथवा राजनीतिप्रेरित कतिपय तत्त्व तुलसी की मौलिकता पर जो निम्नस्तरीय विवाद उठाते हैं, उन्हें रामचरितमानस, कवितावली और गीतावली के रामवनगमन, रामचरितमानस के सौन्दर्यचित्रण एवं भक्तिनिरूपण, विनयपत्रिका के आत्मोद्गार, कवितावली के आत्मपरक-युगबोधपरक छंद, गीतावली के सौन्दर्य-चित्रण एवं प्रकृतिचित्रण, दोहावली के आत्मपरक-युगबोधपरक दोहे, बरवै-रामायण के अलंकृत वर्णन इत्यादि का अनुशीलन करके विद्वानों की दृष्टि में अपने को उपहासास्पद एवं उपेक्षणीय बनने से बचाना चाहिए। सम्पूर्ण मौलिकता की कल्पना एक महामूर्ख ही कर सकता है। विश्वकवियों ने जीवन का विराट् चित्रण सदैव समग्र प्राप्त तत्त्वों को आत्मसात् करके ही किया है। रामायण वैदिक छंदों, कथाओं, अलंकरणों इत्यादि से परिपूर्ण है। महाभारत इन सब तत्त्वों के अतिरिक्त औपनिषदिक दर्शन एवं रामायण के प्रभाव से परिपूर्ण है। इलियड एवं ओडिसी महाकाव्यद्वय समग्र पूर्ववर्ती परम्परा से परिपूर्ण हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' महाभारत के प्रभाव से परिपूर्ण है, रघुवंशम् रामायण के, कुमारसम्भवम् शिवपुराण के। शाहनामा तो, पृथ्वीराजरासो के सदृश, अनेक कवियों के उल्लेख के द्वारा अपने ऊपर पड़नेवाले प्रभावों की स्पष्ट सूचना ही दे देता है। ऐनीड (ऐनियड) पर इलियड एवं ओडिसी का प्रभाव सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता रहता है। 'डिवाइन कॉमेडी' और 'पैराडाइज़ लॉस्ट' बाइबिल की कथाओं तथा यूनानी-लतीनी कविताओं के प्रभावों से ओतप्रोत है। शेक्सपीयर के विषय में प्रसिद्ध है कि वे कभी भी मौलिक न थे और उन्होंने ऐसा बनने का यत्न भी कभी नहीं किया—"शेक्सपीयर वाज़ नेवर

ऑरिजिनल नॉर एवर ही ट्राईड टु बी सो।" उनकी हैमलेट, मैकबेथ, ओथेलो, किंग लीयर, जूलियस सीज़र इत्यादि महान् त्रासदियाँ पूर्ववर्ती कृतियों की परिष्कृत छायाएँ मात्र हैं। उनकी कामदियों और उनके ऐतिहासिक नाटकों पर भी यही बात लागू होती है। गेटे की सर्वश्रेष्ठ कृति 'फॉस्ट' मॉर्लो के 'डॉक्टर फॉस्टस्' तथा अन्य अनेक कृतियों का विकास मात्र है। उत्तररामचरितम्, किरार्जुनीयम्, शिशुपालवध, नैषधीयचरितम् से लेकर प्रियप्रवास, साकेत, 'राम, की शक्ति-पूजा', कनुप्रिया इत्यादि तक कोई भी कृति शत-प्रतिशत मौलिकता का दावा नहीं कर सकती। प्रसाद पर भारतेन्दु हरिश्चंद्र, रवीन्द्र, मैथिलीशरण इत्यादि का पर्याप्त प्रभाव 'चित्राधार' से 'कामायनी' तक देखा जा सकता है। जहाँ तक पंत का सम्बन्ध है, निराला ने 'पंत और पल्लव' ही लिख मारा था! प्रयोगवादियों पर इलियट का प्रभाव सर्वविज्ञात है। अज्ञेय को तो डी० एच० लॉरेन्स के यौनवाद एवं टी० एस० इलियट के प्रयोगवाद का संगम ही कहा जा सकता है। फिर, महानतम कृतियों पर सामान्यतम कृतियोंवाला मौलिकता-सिद्धांत भिड़ाना अल्पज्ञता की सूचना देना मात्र है। महानतम कलाकार जीवन का विराट् चित्रण करता है, कलम की बाजीगरी नहीं दिखाता। यही कारण है कि विश्व की महानतम रचनाओं में शैली, शिल्प, प्रतीक, रूपकतत्त्व इत्यादि को वरीयता नहीं प्रदान की गई अपितु जीवन का अपेक्षाकृत यथार्थ एवं विराट् चित्रण किया गया है। यों, तुलसी में मौलिकता के गुण एवं परिणाम दोनों बहुत उच्च स्तर के हैं, किंतु उनकी महानता का प्रधान कारण मौलिकता नहीं प्रत्युत जीवन की विराट् प्रस्तुति है। संसार के अन्य समान कवियों के सदृश, उन्होंने मौलिकता की दिशा में आवश्यकता से अधिक ध्यान न देकर साहित्य का उपकार ही किया है, क्योंकि इससे वे समग्र जीवन का अबाध चित्रण कर सकने में सफल सिद्ध हो सके हैं। प्राचीन और मध्य कालों में मौलिकता का स्वरूप आज की मौलिकता के स्वरूप से भिन्न भी था। तब मान्य वृत्त अथवा सहज भाव का वैयक्तिकता के अपरिहार्य स्पर्श से पुलकित प्रस्तुतीकरण ही चरम और परम मौलिक माना जाता था। तब कवियों इत्यादि में अब जैसी तस्करवृत्ति भी विद्यमान न थी अन्यथा तुलसी बारम्बार वेद, पुराण, शास्त्र, वाल्मीकि, व्यास का उल्लेख न करते और सूर "भागवत अनुसार" की घोषणा करने से कतरा जाते। प्राचीन एवं मध्यकालीन कवि 'असम्भव मौलिकता' का दावा करने या मिथ्या-भाषण में रुचि नहीं रखते थे। तुलसी का सम्यक् अध्ययन इन विन्दुओं को समझे बिना सम्भव नहीं।

प्रस्तुत पद में एक नारी के द्वारा 'सुमुखी' सखी से राम-सीता-लक्ष्मण को दृष्टि भरकर निहारने का आग्रह द्विविध महत्व से सम्पन्न है—नारी स्वभावतः संवेदनमयी होती है और 'सुमुखी' सुंदरता का साधिकार एवं प्रात्ययिक आकलन

कर सकती है। सुंदर व्यक्ति सुंदरता का बारीकी से अध्ययन कर सकता है। अतएव, यहाँ 'सुमुखि' में परिकर अलंकार का ध्वनिपूर्ण प्रयोग हुआ है। सामान्यत: उत्प्रेक्षा एवं विशेषत: संदेह अलंकारों का प्रयोग भी सुंदर है। राम का प्रेम से कृतज्ञ होने का स्वभाव उन्हें तरु के तले विलम्ब तक रुकने को विवश कर देता है—जो देखना चाहते हैं, वे नयन भर देख लें और यह न सोचें कि राजवर्गीय महानता सामान्यता की उपेक्षा करती हुई आई और चली गई ! यह 'शालीनालंकार' सर्वोपरि है, इसमें संदेह नहीं !

रामचरितमानस के सदृश, गीतावली में वनपथ पर राम-सीता-लक्ष्मण का सुन्दर और सविस्तर चित्रण किया गया है। एकरस अलंकरण में यत्र-तत्र नव्यता भी कौंध जाती है—

रूप-सोभा-प्रेम के से कमनीय काय हैं।
मुनिबेष किए किधौं ब्रह्म-जीव-माय हैं ।।[11]

प्रीति के सुबालक-से लालत सुजन, मुनि,
मग चारु चरित लषन-राम-सी के हैं।[12]

4. उदात्त का प्रकृति-चित्रण

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे सृंगनि।
मनहु आदि-अम्भोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि ।।
सिखर परस घन-घटहि, मिलति बग-पाँति, सो छबि कवि बरनी।
आदि-बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन-धरि धरनी ।।
जलजुत-बिमल-सिलनि झलकत नभ-बन-प्रतिबिम्ब तरंग।
मानहु जगरचना बिचित्र बिलसति बिराट-अँग-अंग ।।[13]

गीतावली का चित्रकूट-चित्रण समग्र हिन्दी-साहित्य के प्रकृतिचित्रण में अत्यंत उच्च स्थान का अधिकारी है। इसमें आलम्बनात्मक, उद्दीपनात्मक (रामभक्ति के रसोद्रेक में), उपदेशात्मक तथा अलंकृत, चार प्रकार के, प्रकृति-

---

11. गीतावली 2/28/5-6
12. वही, 2/30/20-21
13. वही, 2/50/5-10

चित्रण तो प्राप्त होते ही हैं, रहस्यात्मक प्रकृतिचित्रण की प्रतीति भी की जा सकती है। गीतावली का प्रकृतिचित्रण आठ पदों में हुआ है, जिनमें तीन बड़े हैं और छोटा कोई नहीं है जिस पद में इस अतिशय महत्त्वपूर्ण चित्रण का उपसंहार किया गया है, उसकी उपर्युक्त पंक्तियों में उदात्त का अतिशय सफल प्रयोग प्राप्त है, "उदात्त शब्द के महान्, उदार, उच्च प्रभृति अनेक अर्थ हैं। साहित्य में भी इस शब्द का प्रयोग कई रूपों में प्राप्त होता है। काव्यशास्त्र में उदात्त तत्त्व का प्रयोग यूनानी आचार्य लाँजाइनस (लाँगिनुस) के साथ किया जाता है। ईसा की पहली अथवा दूसरी शताब्दी के इस आचार्य ने उदात्त (सब्लाइम) का प्रतिपादन अत्यंत व्यापक आधारों पर किया था, जिसमें विचारों के वैभव, भावों की विभूति, कलासम्पन्न शिल्प एवं उक्ति की गरिमा को विशिष्ट महत्त्व प्राप्त था। लाँजाइनस के शब्दों में, 'उदात्तता गौरवशाली मानस की प्रतिध्वनि है' (सब्लिमिटी इज़ दी इको ऑफ ए नॉब्ल माइंड)।··· भारतीय काव्यशास्त्र में उदात्त एक उच्च-स्तरीय अलंकार के रूप में प्राप्त होता है और पाश्चात्य 'सब्लाइम' अलंकार से मिलता-जुलता है। यह अलंकार वहाँ माना जाता है जहाँ वर्णन गौरव के क्षितिज का स्पर्श करता हो। यह अतिशयोक्ति अथवा अत्युक्ति से भिन्न गौरव-प्रतीति-युक्त अलंकार-वर्ग के अंतर्गत आता है।··· उदात्त और दिव्यता का सम्बन्ध, कम-से-कम अब तक, अन्योन्याश्रित रहा है। प्राय: अलौकिक का अव्यर्थ स्पर्श उदात्त का स्रष्टा रहा है। उदात्त सृष्टि चाहे स्नातक महाकवि दांते में हो, चाहे परास्नातक महाकवि मिल्टन में, चाहे आधुनिक ब्रजभाषा-महाकवि रत्नाकर में, चाहे बहुविध नवीनता के वाहक महाकवि निराला में, सर्वत्र दिव्यता के स्पर्श से पुलकित दृष्टिगोचर होती है। हिंदी में प्रयोगवाद के वाहक और नायक अज्ञेय की 'असाध्य-वीणा' ('आँगन के पार द्वार' संग्रह की तथा अज्ञेय की सर्वश्रेष्ठ कविता) में भी वह दिव्य के स्पर्श से पुलकित हुई है। भविष्य में अनंत आयामों तक प्रसरित विज्ञान उदात्त की सृष्टि का सम्बल बन सकता है। किंतु अभी तक धर्म अथवा दिव्य ही उसका प्रमुख प्रेरक रहा है।"[14] भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य (औचित्यविचारचर्चा' में निरूपित) पाश्चात्य काव्यशास्त्र में आचार्य लाँजाइनस के उदात्त से मिलता-जुलता है।

उपर्युक्त पंक्तियों में धर्म अथवा दिव्य के विराट् अलंकरण ने उदात्त का गौरवशाली समावेश कर दिया है। इसमें उत्प्रेक्षा के तीनों प्रयोगों में 'विराटोत्प्रेक्षा' का एक अन्य भेद रचे बिना संप्रेषण को परितोष प्राप्त नहीं हो सकता ! यहाँ तुलसी ने तीन 'विराटोत्प्रेक्षाएँ' प्रयुक्त की हैं—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा तथा

14. विश्वकवि होमर और उनके काव्य, होमर की कविता में उदात्ततत्त्व, पृष्ठ 189-92

फलोत्प्रेक्षा इतनी उदात्त कल्पनाओं का भार नहीं वहन कर सकतीं ! उदात्त की एक तात्कालिक पहचान विस्मयाविष्टता इस वर्णन में अतीव वैभवशाली रूप में विद्यमान है ।

वर्षाऋतु भारत की प्राणऋतु है, क्योंकि यह कृषिप्रधान देश है, ऊष्मा ज्वलित देश है। वर्ष और वर्षा में कितनी निकटता है ! भारतवर्ष और वर्षाऋतु में कितनी निकटता है ! भारत की भौगोलिक और आर्थिक अवस्थिति ने यहाँ की भाषाओं में जल के अनेक और अद्वितीय शब्दों की सृष्टि की है—पानीय, नीर, वारि, तोय, अम्बु, सलिल, रस, वन जीवन इत्यादि इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। जलधि, जलद और जलज के लिए भी भारत का शब्दकोष अतीव उदार रहा है। भारतवर्ष की संस्कृति वर्षा-संस्कृति है, रस-संस्कृति है, जलद-संस्कृति है, जलज-संस्कृति है। यही कारण है कि संस्कृति की प्रथम दुहिता कविता में वर्षा के शत-शत वर्णन प्राप्त होते हैं। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास इत्यादि विश्वस्तरीय महाकवियों ने वर्षा के बहुविध और मनोहारी वर्णन किए हैं। तुलसी ने सतत-सुंदर चित्रकूट के वर्षाऋतु में विशेष-सुंदर होने का वर्णन किया है, जो एकदम उचित है, क्योंकि वर्षाऋतु में पर्वत इंद्रजाललोक अथवा कुहकलोक की सृष्टि करते हैं। इस वर्णन की तीनों 'विराटोत्प्रेक्षाएँ' वर्षाऋतु के पार्वत्य सौन्दर्य की ही उद्भूतियाँ हैं। जलयुक्त शिलाओं पर अनंत एवं अरण्य की शोभाओं का झलकना अद्वैतदर्शनगत प्रतिबिम्बवाद के अप्रस्तुत के हेतु अतीव उपयुक्त है। यह दार्शनिक विराटोत्प्रेक्षा विश्व-साहित्य के अलंकरण की एक निधि है। तुलसी को सूर, भारतेन्दु और रत्नाकर के साथ-साथ हिन्दी-कविता में उत्प्रेक्षा का नरेश कहा जाता है। किंतु इन उत्प्रेक्षाओं के समक्ष स्वयं उनकी तथा इन, इस दृष्टि से उनसे तुलनीय, महाकवियों की बहुत ही कम उत्प्रेक्षाएँ ठहर पाएँगी। रत्नाकर ने गंगावतरण में अवश्य ही कुछ ऐसी उत्प्रेक्षाएँ प्रस्तुत की हैं, जिन पर, सम्भव है, इनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव पड़ा हो। जहाँ तक तुलसी की उत्प्रेक्षाओं का सम्बन्ध है, इस स्तर की एक उत्प्रेक्षा अनायास ही स्मृत हो उठती है—

हरित-गंभीर वानीर दुहुँ तीरवर,
मध्य धारा विशद, विश्व-अभिरामिनी।
नील-पर्यङ्क-कृत-शयन सर्पेश जनु
सहस-सीसावली-स्रोत सुरस्वामिनी ।।[15]

तुलसी की ऐसी विराटोत्प्रेक्षाएँ होमर, दांते और मिल्टन के 'उदात्त' का स्मरण कराए बिना नहीं रहतीं।

---

15. विनयपत्रिका 18/12-15

5. राम की आखेट-शोभा

सुभग सरासन सायक जोरे ।
खेलत राम फिरत मृगया बन, बसति सो मृदु मूरति मन मोरे ।।
पीत बसन कटि, चारु चारि सर, चलत कोटि नट सो तृन तोरे ।
स्यामल तनु स्रमकन राजत ज्यों नवघन सुधासरोवर खोरे ।।
ललित कंध, बर भुज, बिसाल उर, लेहिं कठरेखैं चित चोरे ।
अवलोकत मुख, देत परम सुख लेत सरदससि की छबि छोरे ।।
जटामुकुट सिर, सारसनयननि गौहैं तकत सुभौंह सकोरे ।
सोभा अमित समाति न कानन, उमगि चली चहुँदिसि मिति फोरे ।।
चितवत चकित कुरंग-कुरंगिनि, सब भए मगन मदन के भोरे ।
तुलसिदास प्रभु बान न मोचत सहज सुभाय प्रेमबस थोरे ।।[16]

तुलसीदास का सौन्दर्यचित्रण संसार-साहित्य में अतुलनीय है। वाल्मीकि, व्यास, होमर, कालिदास, फिरदौसी, दाँते, शेक्सपीयर जैसे उनके समकक्ष किसी भी विश्वकवि ने अपने किसी भी नायक अथवा पात्र का उतना और वैसा सौन्दर्य-चित्रण नहीं किया, जितना और जैसा तुलसी ने राम का किया है। तुलसी के राम का शक्तिकलित एवं शीलसमन्वित सौन्दर्य संसार के साहित्य में अतुलनीय है। राम के अतुल-आयामी जीवन की प्रत्येक भंगिमा को तुलसी ने असाधारण रूप से शब्दचित्रित किया है। उनकी महान् एवं तलस्पर्शी मौलिकता उनके सौन्दर्यचित्रण में अतीव सजीव हो गई है।

प्रस्तुत पद बिम्बालेखन की दृष्टि से अत्यंत सफल है। इसकी दस पंक्तियों में शक्ति, शील और सौन्दर्य का संगम दृग्गत हो जाता है। क्रमशः वृत्युनुप्रास, प्रतीप, उपमा, प्रतीप, अत्युक्ति, छेकानुप्रास, भ्राँतिमान, स्वभावोक्ति इत्यादि अलंकार राम के रूपरस में खो गए हैं।

आखेट सहस्राब्दियों तक समग्र संसार में एक प्रमुख राज-लक्षण रहा है, क्योंकि यह क्रीड़ाओं का राजा था, जिसमें व्यायाम, अश्वारोहण, लक्ष्यवेध, धावन, आत्मरक्षण इत्यादि अनेक तत्त्व समाहित थे। 'तुलसी का आखेट-वर्णन' निबंध का सुंदर विषय है। प्रतापभानु की कथा में इसका वस्तुपूरक वर्णन प्राप्त होता है, राम के संदर्भों में भावपरक। रामचरितमानस में भी अरण्य आखेटक राम की शोभा का सुंदर वर्णन प्राप्त होता है। अपहृता सीता राम की स्वर्णमृग के पीछे दौड़ती हुई मुद्रा को नयन में बसाए रहती हैं। कवितावली में भी आखेट-

16. गीतावली 3/2

व्यस्त अथवा मृगया-न्यस्त राम की शोभा का मनोहारी बिम्बालेखन प्राप्त होता है—

प्रेम सों पीछे तिरीछे प्रियाहि चितै, चितु दै, चले लै, चित चोरे।
स्याम सरीर पसेऊ लसै, हुलसै तुलसी छबि सो मन मोरे।।
लोचन, लोल, चलैं भ्रुकुटी, कल काम-कमानहु सो तृण तोरे।
राजत राम कुरंग के संग, निषंग कसे, धनु सों सर जोरे।।
सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि, पानी सरासन-सायक लै।
बन खेलत राम फिरैं मृगया, तुलसी छबि सो बरनै किमि कै।।
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी-मृग चौंकि चकैं, चितवैं चित दै।
न डगैं, न भगैं जिय जानि सिलीमुख-पंच धरे रतिनायक है।।[17]

तुलसी का सौन्दर्यचित्रण अतीव विस्तीर्ण है। वह केवल कोमल में बद्ध नहीं है। कोमलता मानव-सौन्दर्य की एक विभूति अवश्य है, किन्तु सबलता, तेजस्विता, विजयदीप्ति इत्यादि विभूतियाँ सत्यं एवं शिवं के समीपतर होने के कारण उसे अधिक गौरवशाली एवं पूर्णतम रूप प्रदान करती हैं। जहाँ तक स्वेद-सौन्दर्य का संबंध है, तुलसी उसके कदाचित् एकमात्र एवं सर्वश्रेष्ठ चितेरे हैं। स्वेद और वेद में कितना नैकट्य है! श्रम और आश्रम में कितना तादात्म्य है! तुलसी के श्रम-सबल एवं स्वेद-सम्पन्न राम वैदिककाल एवं आश्रम-संस्कृति की आत्मा को उजागर करते हैं।

6. विरही राम

भूषन-बसन बिलोकत सिय के।
प्रेम बिबस मन, कंप पुलक तन, नीरजनयन नीर भरे पिय के।।
सकुचत कहत, सुमिरि उर उमगत, सील-सनेह-सुगुनगन तिय के।।[18]

गीतावली के किष्किन्धाकाण्ड की इन तीन पंक्तियों में सीता के वियोग में राम की व्यथा का जैसा सरस एवं सम्पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है, वैसा रामायण, कम्ब-रामायण और रामचरितमानस के स्फीत वर्णनों में भी नहीं, क्योंकि इसमें भावात्मकता के क्षितिज का स्पर्श कर लिया गया है, जबकि उनमें कलात्मकता

---

17. कवितावली 2/26-27
18. गीतावली 4/1/1-3

को वरीयता प्रदान की गई है। भाव सर्वोच्च कला है। भाव प्राण है, कला शरीर। फिर, यह निदर्शन तो भावशबलता का है! रामकथा के सर्वोच्च तीन ग्रंथ रामायण, रामचरितमानस और कम्ब-रामायण हैं। रामायण वर्णनप्रधान है, रामचरितमानस भावप्रधान, कम्ब-रामायण कलाप्रधान। अपनी अभूतपूर्व भाव-प्रवणता के कारण रामचरितमानस को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है, सर्वाधिक सम्मान प्राप्त हुआ है। किंतु रामचरितमानस में भी विरह का ऐसा 'गागर में सागर' कहीं नहीं दृग्गत होता। संसार के विरहकाव्य में इन तीन पंक्तियों की समता नहीं। स्मरण अलंकार और विरहोपयुक्त अनुभावों-संचारीभावों का ऐसा सहजोद्भूत समायोजन संसार-साहित्य में शायद ही कहीं मिल पाए।

सुग्रीव इत्यादि के सीता द्वारा क्षिप्त वस्त्राभरण दिखाए जाने पर क्रिया की वीचियों में अव्यक्त प्रेम-मानस का तल अनायास ही प्रकट हो गया। संसार-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नायक राम का प्राण प्रेम से शिथिल हो गया, विवश हो गया, विकल हो गया। मौन प्रेम का सर्वोपरि उद्गार है। प्रेमविवश मन का मौन सर्वोपरि प्रेमकाव्य है। किंतु शरीर कम्प, रोमांच इत्यादि के द्वारा मन की दशा की दिशा का संकेत किए बिना मानती ही कहाँ है? अश्रु पर किसका वश चला है? और, अश्रु पर वश चलाने का ध्यान ही किसे है? "नीरजनयन नीर भरे पिय के" शब्दों में 'पिय' का सौन्दर्य अनायास ही व्यंजित हो गया है। अश्रु सर्वत्र भाव-प्रवण होता है, किन्तु सौन्दर्य का अश्रु तो कलामय, कवितामय, स्फुरणमय ही होता है। "सकुचत कहत" शब्दों में शील अनायास ही व्यंजित हो गया है। यदि सौन्दर्य शील तथा भावावेग से सम्पन्न स्वरूप प्राप्त कर लेता है, तो उसे अपवर्ग कहते हैं। कला सौन्दर्य के अपवर्ग की कल्पना मात्र से गौरवशालिनी हो जाती है। यहाँ कला गौरवशालिनी ही हुई है। महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का महान् उद्गार "कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला" ऐसे स्थलों पर ही स्पष्ट होता है। और, यह केवल तन का विरह नहीं, केवल मन का विरह नहीं, आत्मा का विरह है—"सील-सनेह-सुगुनगन तिय के" शब्दों में यह उत्कट तथा उत्कृष्ट तथ्य भी अनायास ही व्यंजित हो गया है। यहाँ 'अनायास' शब्द का बार-बार प्रयोग बहुत सोच-विचार कर किया गया है—योजना बनाकर ऐसी कविता नहीं लिखी जा सकती!

मिश्रबंधु[19] और आचार्य शुक्ल[20] इत्यादि आलोचकों ने सूर के श्रृंगाररस के सम्राट् होने की बात कही है। आचार्य शुक्ल[21] ने पदमावत में नागमती के

19. हिन्दी-नवरत्न (सूर पर निबन्ध)
20. भ्रमरगीतसार (भूमिका)
21. जायसी-ग्रंथावली (भूमिका)

विरहवर्णन के आधार पर जायसी के वियोगश्रृंगार के प्रमुख कवि होने की स्थापना की है। गुण और परिमाण की उभय दृष्टियों से ऐसा उचित भी हो सकता है। किन्तु, रामचरितमानस के पुष्पवाटिका-प्रसंग में संयोगश्रृंगार तथा गीतावली के किष्किधाकाण्ड की प्रस्तुत तीन पंक्तियों में वियोगश्रृंगार का गुण की दृष्टि से जितना रससम्पन्ना तथा गहन-पावन वर्णन तुलसी ने किया है, वह समग्र हिन्दी-साहित्य में तो अतुलनीय है ही, संसार-साहित्य में भी दुर्लभ है।

7. विरहिणी सीता

रघुकुलतिलक ! बियोग तिहारे।
मैं देखी जब जाइ जानकी, मनहु बिरह-मूरति मन मारे ॥
चित्र-से नयन अरु गढ़े-से चरन-कर, मढ़े स्रवन नहीं सुनति पुकारे।
रसना रटति नाम, कर सिर चिर रहै, नित निजपद-कमल निहारे ॥
दरसन-आस-लालसा मन महँ, राखे प्रभु-ध्यान प्रान-रखवारे।...[22]

प्रस्तुत पंक्तियाँ बिम्बालेखन की दृष्टि से अतीव सफल हैं। पाश्चात्य कला-चिन्तकों ने ललित कलाओं की मूल एकता का जो प्रतिपादन किया है, वह ऐसे उत्कृष्ट बिम्बालेखनों से युक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है! तुलसी को शब्दों का माइकेलेंगेलो कहा जा सकता है। 'तुलसी का ललितकला-बोध' एक उत्कृष्ट प्रबंध का सुंदर विषय बन सकता है। यदि तुलसी मूर्तिकार अथवा चित्रकार होते, तो भी अजर-अमर ही रहते! विरहिणी का ऐसा मार्मिक चित्राँकन कविकुलगुरु कालिदास के मेघदूतम् के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं प्राप्त हो सकता। "मनहु बिरह-मूरति" का शब्दकार इस महान् पद में सफल मूर्तिकार बनकर प्रकट हुआ है।

सीता का चरित और चरित्र संसार के समग्र साहित्य में अकेला ही है। सीता 'टाइप' नहीं 'इंडीविजुएल' हैं। उनकी तुलना न द्रौपदी[23] से हो सकती है, न हेलेन[24] से, न पेनीलोप[25] से। अन्य किसी से तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता—शकुन्तला का कण्व के आश्रम में दुष्यंत से गंधर्वविवाह तो चिन्त्य है ही, उनके जीवन में महानता का कोई बिन्दु भी नहीं मिलता और राधा का चरित्र नितांत

22. गीतावली 5/18/1-5
23. महाभारत की नायिका।
24. इलियड की नायिका।
25. ओडिसी की नायिका।

परवर्ती कल्पना का परिणाम मात्र है, भले ही आराधना या भक्ति या आस्था की प्रतीक के रूप में वे परम पूज्य हों। द्रौपदी दुर्योधन का अनावश्यक परिहास करके और अर्जुन को अधिक प्यार करके सौतेले भाइयों में भयावह युद्ध का एक कारण बनती हैं और सगे भाइयों में ईर्ष्या उत्पन्न करती हैं। हेलेन पेरिस के साथ स्वयं भागती हैं; भले ही, बाद में देवी अफ्रोडाइटी द्वारा मतिभंग का उल्लेख कर देती हों। पेनीलोप पतिव्रता हैं, किन्तु द्विधामुक्त नहीं। सीता का चरित और चरित्र स्वयं रावण का सम्मान प्राप्त करता है। वह उन्हें अशोकवन में रखता है। लंका के माल्यवान् और विभीषण जैसे अनेक विवेकी महानुभाव उनके अडिग पतिव्रत से संप्रेरित होकर रावण का विरोध करने लगते हैं। सीता के कारण लंका का जन-मत रावण के विरुद्ध हो गया था। विभीषण रावणविरोधी जनमत के प्रतीक थे, जिन्होंने लंका को बचा लिया अन्यथा रावणवध के अनंतर उसके राजा सुग्रीव या अंगद या अन्य वानरवीर होता और वह संहार तथा धननाश होता जो महायुद्ध के बाद अवश्य होता है। विभीषण की सद्गुणवृत्ति, राजनीतिज्ञता तथा दूरदर्शिता ने मानवमूल्यों की तो प्रतिष्ठा बढ़ाई ही, लंका को सम्पूर्ण विनाश से भी बचाया। क्षुद्रतापूर्ण संकीर्णता से ऊपर उठकर मानवता की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले विभीषण ठीक ही पूज्य माने जाते हैं। उनकी प्रत्यालोचना वे अल्पज्ञ ही कर सकते हैं, जिन्होंने न रामायण का अनुशीलन किया है, न इतिहास का, न राजनीति का और जो सामान्यता से संपृक्त होकर ही जी सकते हैं। कुसुमकोमल सीता रावण को तृणवत् समझती है—उससे वार्ता के समय तृण को सम्बोधित करती है; जिसका एक अभिप्राय यह है कि मैं तुझे तिनके के बराबर समझती हूँ और दूसरा अर्थ है कि मैं तुझ से नहीं प्रत्युत तृण से वार्ता कर रही हूँ; वज्रकठोर होकर उस परमप्रचण्ड विश्वयोद्धा को शृगाल और रासभ कहती हैं। उनका राम-प्रेम हिमालयवत् अडिग रहता है। द्रौपदी में कोमलता नहीं है, हेलेन में निष्ठा नहीं है, पेनीलोप में दृढ़ता नहीं है। उधर शकुन्तला में धृति नहीं है, राधा में यथार्थता नहीं है। किन्तु सीता का चरित्र कोमलता, निष्ठा, दृढ़ता, धृति तथा यथार्थता का पंचामृत है। संसार के समग्र साहित्य में नारीत्व का सीता-जैसा सम्पूर्ण प्रतीक दूसरा नहीं प्राप्त होता। "काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्!" वाल्मीकि ने सीता के चरित और चरित्र को व्यापक रूप से चित्रित किया है। तुलसी ने सीता के चरित और चरित्र के कोमल पक्ष ही अधिक चित्रित किए हैं।

रामचरितमानस, गीतावली और बरवै-रामायण में सीता का विरह अच्छे रूप में वर्णित हुआ है, किंतु प्रस्तुत पद की समता नहीं। गीतावली में ही, संस्कृत और हिन्दी की अतिशय-अलंकृत अत्युक्ति-परिपाटी का विरह-वर्णन भी प्राप्त होता है, जिसे विश्वकवि की स्फीति अभिरुचि के एक रोचक निदर्शन के

रूप में भी विवेचित-विश्लेषित किया जा सकता है—

तुम्हरे बिरह भई गति जौन ।
चित दै सुनहु राम करुणानिधि! जानौं कछु, पै सकौं कहि हौं न ।।
लोचननीर कृपिन के धन-ज्यों रहत निरन्तर लोचनन-कोन ।
'हा'-धुनि खगी लाज-पिंचरी महँ राखि हिय बड़े बधिक हठि मौन ।।
जेहि वाटिका बसति, तहँ खग-मृग तजि-तजि भजे पुरातन भौन ।
स्वास-समीर भेंट भइ भोरेहु, तेहि मग पग न धर्‌यो तिहुँ पौन ।।
तुलसिदास प्रभु ! दसा सीय की मुख करि कहत होति अति गौन ।
दीजै दरस, दूरि कीजै दुख, हो तुम्ह, आरत-आरति दौन ।।[26]

उपर्युक्त पद में भी भावप्रवणता एवं प्रपत्तिवाद के दर्शन हो जाते हैं। अतएव, इसकी तुलना जायसी, सूर, केशव, बिहारी, देव, पद्‌माकर इत्यादि की केवलमात्र अलंकृत-चमत्कृत उक्तियों से, आँख मूँदकर नहीं की जा सकती। "लोचननीर कृपिन के धन-ज्यों रहत-निरंतर लोचनन-कोन" का अलंकरण तुलसी को बहुत प्रिय है। स्वयंवर-प्रकरण में भी उन्होंने इसका प्रयोग किया है—

लोचनजलु रह लोचनकोना । जैसे परमकृपिन कर सोना ।।[27]

8. राम-लक्ष्मण की प्रीति

हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै ।
पाइ सजीवन, जागि कहत यों प्रेम पुलकि, बिसराय सरीरै ।।
मोहि कहा बूझत पुनि-पुनि जैसे पाठ-अरथ-चरचा कीरै ।
सोभा-सुख, छति-लाहु भूपकहँ, केवल काँति मोल हीरै ।।
तुलसी सुनि सौमित्रि-बचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै ।
उपमा राम-लषन की प्रीति की क्यों दीजै खीरै-नीरै ।।[28]

राम और लक्ष्मण की भ्रातृप्रीति संसार के इतिहास में दुर्लभ है। यह भी एक विलक्षण संयोग है कि दोनों विमातृबंधु थे ! सगे और सौतेले का अन्तर राम-

26. गीतावली 5/20
27. रामचरितमानस 1/258/2
28. गीतावली 6/15

भरत, राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्न के भ्रातृप्रेम में ही नहीं मिटा, (एक अन्य रूप में) कृष्ण-बलराम के भ्रातृप्रेम में भी मिटा है, युधिष्ठिर-भीम-अर्जुन और नकुल-सहदेव के भ्रातृप्रेम में भी मिटा है। जहाँ तक वात्सल्यरस का संबंध है, यशोदा-कृष्ण में उसका सर्वोच्च रूप निष्पन्न हुआ है। दोनों सगे न थे। सगापन-सौतेलापन यहाँ भी टूक-टूक हो गया है। वात्सल्यभाव केवल आत्मज में बद्ध नहीं है।[29] शृंगाररस में भी स्वकीया-परकीया का बिन्दु विवादास्पद माना जाता है। तत्त्वत: भाव प्रधान है, रक्तसंबंध गौण, यद्यपि सर्वत्र, एक धक्के में, इसे भी निरूपित नहीं किया जा सकता।

"हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै" इन पांच शब्दों में असंगति अलंकार का जैसा भाव सम्पन्न और सुंदर स्वरूप प्रकट हुआ है, वैसा समग्र कविता में यत्र-तत्र ही प्राप्त हो सकता है। उपमा, दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास, अत्युक्ति, प्रतीप, यथासंख्य, व्यतिरेक इत्यादि अन्य अलंकार इस पद की शोभा में अतिरिक्त वृद्धि करते हैं। किंतु 'प्रेमरस'[30] इसका प्राण है। "धरि न सकत धीरौ धीरै" से दो अर्थ व्यक्त होते हैं—धैर्यवान भी धैर्य-धारण नहीं कर सकते, स्वयं धैर्य भी धैर्य धारण नहीं कर सकता। यहाँ पर "सुंदरता कहुँ सुंदर करई", जासु त्रास डर कहुँ डर होई", "धीरजहू कर धीरज भागा", "कालहु कर काला" इत्यादि रामचरित-मानस के मनोहारी प्रयोगों का स्मरण आ जाता है। राम-लक्ष्मण की प्रीति की उपमा क्षीर-नीर की प्रीति से भी नहीं दी जा सकती, क्योंकि यद्यपि क्षीर-नीर मिलने पर एकरूप हो जाते हैं तथापि अग्निपरीक्षा में नीर पहले जल जाता है, जबकि राम-लक्ष्मण की एकरूपता प्रत्येक परिस्थिति में एकरस-एकरूप ही रहती है।

रामचरितमानस के लंकाकांड में लक्ष्मण के मूर्च्छित होने पर राम के "निज जननी के एक कुमारा" तथा "मिलइ न जगत सहोदर भ्राता" उद्‌गार उनकी प्रेमातिरेकजन्य वस्तुविस्मृति के सुंदर प्रतीक हैं। 'प्रलाप' एक प्रभावी संचारी-भाव है। तुलसी के राम नरलीला कर रहे हैं। अत: उनके उद्‌गार में 'प्रलाप' संचारी भाव का समावेश रसदृष्टि से सर्वथा उचित है। यों, इसे 'उद्वेग' में भी समाविष्ट किया जा सकता है। स्वाभाविकता की दृष्टि से भी इसका औचित्य स्पष्ट है। कला की दृष्टि से तो यह अमूल्य ही है। कला केवल भाव से संपृक्त रहती है—उसके अद्वैत में सगा-सौतेला, स्वकीय-परकीय, ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा इत्यादि स्थान नहीं प्राप्त कर सकते। गीतावली के इस पद में लक्ष्मण के द्वारा

---

29. 'खड़ी बोली-कविता में विरह-वर्णन' में इस बिन्दु पर प्रकाश डाला गया है।
30. उक्त प्रबन्ध में ही 'प्रेमरस' निबन्ध।

मानो रामचरित मानस के राम के उद्‌गारों की प्रतिक्रिया व्यक्त कराई गई है, क्योंकि "मोहि कहा बूझत पुनि-पुनि जैसे पाठ-अरथ-चरचा कीरै" तथा "सोभा सुख, छति-लाहु भूपकहँ, केवल कांति-मोल हीरै" उद्‌गार तीव्रतम उद्‌गार हैं, सहज उद्‌गार नहीं। सामान्यतः लक्ष्मण इस शैली में नहीं बोलते। अतएव, इनका 'उद्वेग' की दृष्टि से एक विशिष्ट कलात्मक मूल्य है।

9. राम की राजशोभा

राम राजराज मौलि, मुनिमनहरन, सरन-
लायक, सुखदायक रघुनायक देखौ, री।
लोकलोचनाभिराम, नीलमनि-तमाल-स्याम,
रूप-सील-धाम, अंगछबि अनंग को, री॥
भ्राजत सिर मुकुट पुरटनिरमित, मनिरचित, चारु,
कुंचित कच रुचिर परम, सोभा नहिं थोरी।
मनहुँ चंचरीकपुंज कंजबृंद-प्रीति लागि
गुंजत कलगानतान दिनमनि रिझयो, री॥
अरुनकंजदलबिसाल-लोचन भ्रू, तिलक भाल,
मंडित स्रुति कुंडल बर सुंदरतर जोरी।
मनहुँ संबरारि कारि, ललित मकर-जुग बिचारी,
दीन्हें ससि कहँ पुरारि, भ्राजत दुहुँ ओरि॥
सुंदर नासा, कपोल, चिबुक अधर अरुन, बोल,
मधुरे, दसन राजत जब चितवत मुख मोरी।
कंजकोस भीतर जनु कंजराज-सिखर-निकर,
रुचिर रचित बिधि बिचित्र तड़ित-रंग बोरी॥···
निरमल अति, पीत चैल, दामिनि जनु जलद नील
राखि निज शोभाहित बिपुल बिधि निहोरी।
नयनन्हि को फल बिसेष, ब्रह्म आगुस सगुन बेष,
निरखहु तजि पलक, सफल जीवन लखौ, री॥···[31]

संसार के किसी महाकवि ने अपने नायक की शत-शत शोभाओं और भाव-भंगिमाओं के उतने और वैसे वर्णन नहीं किए, जितने और जैसे तुलसीदास ने।

---

31. गीतावली 7/7/1-16, 21-24।

कोई प्रश्न कर सकता है, संसार साहित्य में राम के समकक्ष नायक ही कहाँ है ? छुटभैयों को तो राम की महानता, उनके अपने मनोविज्ञान के कारण, राम को 'मिथक' या 'पुराण' इत्यादि के कहने के लिए विवश एवं निरूपाय कहती रहती है। मदिरोन्मत्त एवं महत्त्वाकांक्षाज्वलित पश्चिम राम या सीता या भरत उत्पन्न कर सकता है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर कठिन है। पाश्चात्य विद्वान या व्यक्ति राम को 'मिथ' या 'लेजेन्ड' या 'फेबल' कहे, तो आश्चर्य ही क्या ? उसने 'राम' को न 'देखा' है, न 'सुना' है, न 'उनकी' कल्पना की है—कल्पना सत्य का प्राथमिक रूप है, सत्य कल्पना से भी विलक्षण होता है। किंतु जब भरत का नकलची छुटभैया राम को 'मिथ' या 'लेजेन्ड' या 'फेबल' कहता है, तब दया आती है—उसके कुंठित या विकृत या त्रस्त या प्रतिबद्ध अहं पर, जो सर्वोच्च पर प्रहार के मनोविज्ञान की शरण लेने पर विवश होता है—लोकेषणा या वित्तेषणा का निरूपाय आखेट बनता है; क्योंकि भारत में आज भी छोटे-छोटे राम मिल जाते हैं, छोटी-छोटी सीताएँ मिल जाती हैं और कभी-कभी तो छोटे-छोटे भरत या छोटे-छोटे लक्ष्मण भी मिल जाते हैं। राम भारत की आत्मा हैं। राम का अवमूल्यन भारत का अवमूल्यन है। अतएव, ऐसे छुटभैये सफल नहीं हो सकते—सफल हो सकते हैं मैथिलीशरण, निराला, सत्यनारायण, पुटप्पा इत्यादि ही। उक्त प्रश्न सत्य है। राम की शक्ति, शील और सौन्दर्य से त्रिविधपूर्ण नायकता सर्वथा अतुलनीय है। किन्तु रामकाव्य का ही कोई अन्य महाकवि भी तो तुलसी के सदृश राम का विशदतम-स्फीततम सौन्दर्य-चित्रण नहीं कर सका ! ऐसे महाकवियों में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, कम्बन् (कम्बर), केशवदास इत्यादि मूर्धन्य स्रष्टा भी समाहित हैं ! अतएव तुलसी का नायक के सौन्दर्य को नाना रूपों में चित्रित करने का वैशिष्ट्य अतुलनीय ही माना जा सकता है।

गीतावली वस्तुतः एवं तत्त्वतः सौन्दर्यावली है। इसमें आदि से अन्त तक राम की शत-शत छवियों को शब्दों में उरेहा गया है। और, गीतावली का उत्तरकाण्ड तो लगभग शतशः सौन्दर्यकाण्ड ही है। इसकी सारी उत्तम कविता राम के रूप में संपृक्त है। राजा राम की ऐश्वर्यमयी शोभा का वर्णन केवल गीतावली के उत्तरकाण्ड अथवा सौन्दर्यकाण्ड में ही प्राप्त होता है, क्योंकि रामचरितमानस का उत्तरकाण्ड दर्शनकाण्ड है, कवितावली का उत्तरकाण्ड आत्मकाण्ड है, बरवै रामायण का उत्तरकाण्ड भक्तिकाण्ड है। रामाज्ञा-प्रश्न का उत्तरकाण्ड शकुनकाण्ड है।

"एक मास ऋतु आगे धावै" के सत्य के अनुसार हिन्दी-साहित्य के इतिहास के पुनरुत्थानकाल[32] अथवा भक्तिकाल[33] के अंतिम चरण में कविता आगामी शास्त्रीय

---

32. हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिपरक इतिहास (रामप्रसाद मिश्र)
33. हिन्दी-साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल)

काल[34] अथवा अलंकृतकाल[35] अथवा रीतिकाल[36] अथवा कलाकाल[37] अथवा श्रृंगारकाल[38] के लक्षणों की ओर आकृष्ट होने लगी थी। गीतावली के उत्तरकाण्ड की श्रृंगारोन्मुख अलंकृत कविता इस तथ्य की एक प्रतीक मानी जा सकती है। मर्यादावादी तुलसी ने सीता का नखशिख वर्णन या सौन्दर्यचित्रण नहीं किया, किन्तु आगामी या जन्म लेते हुए काल के प्रभाव ने राम के नखशिख वर्णन या सौन्दर्य चित्रण में अभिव्यक्ति का पथ निकाल ही लिया! बरवै-रामायण के संकीर्ण कलेवर में भी राम और सीता के अलंकृत सौन्दर्य चित्रण इस तथ्य को स्पष्टतर रूप में प्रमाणित करते हैं। केशव की कविप्रिया और रसिकप्रिया तथा रहीम के बरवै-नायिकाभेद कृतियाँ तो रीतिकाल पूर्व की रीति-कृतियाँ-सी ही हैं —यही बात सेनापति के कवित्त-रत्नाकर पर लागू होती है—मिश्रबंधु ने अपने अलंकृत का समारम्भ सेनापति से ही किया है। कृपाराम की हित-तरंगिणी को तो रीति-परम्परा का आदि हिन्दी ग्रंथ ही कहा जा सकता है।

गीतावली के उत्तरकाण्ड में राम का सौन्दर्यचित्रण अपने शब्दचयन, ध्वनि-वैभव और अलंकरण के त्रित् में एकदम अनूठा है। उत्प्रेक्षा इस वर्णन का प्रमुख अलंकार है। अप्रस्तुतों का समायोजन यत्र-तत्र दुरुह है, यत्र-तत्र दुरूढ़। भाषा अपेक्षाकृत अधिक संस्कृतनिष्ठ है। अतः कलागौरव की दृष्टि से प्रशस्य होने पर भी इस वर्णन की क्लिष्टता खटक जाती है—विशेषकर तुलसी की कविता में, जिसका प्रसादगुण जगजाहिर है; विशेषकर गीतिकाव्य में, जिसमें दुरूहता एवं दुरूढ़ता के दोष अतिदोष बन जाते हैं।

---

34. हिन्दी-साहित्य का प्रवृत्तिपरक इतिहास
35. मिश्रबंधु-विनोद
36. हिन्दी-साहित्य का इतिहास
37. हिन्दी-साहित्य का इतिहास (डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल') और 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (डॉ० रामकुमार वर्मा, षष्ठ संस्करण के कुछ शब्द' में)
38. हिन्दी-साहित्य का अतीत, भाग 2 (विश्वनाथप्रसाद मिश्र)

दोहावली

रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली और गीतावली महाकवि तुलसी-दास की प्रमुख कृतियाँ हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम्, रघुवंशम्, कुमारसम्भवम् और मेघदूतम् के महाकवि कालिदास के अतिरिक्त, भारत के किसी भी महाकवि की ऐसी चार उत्कृष्ट कृतियाँ नहीं प्राप्त होतीं। समग्र संसार में भी चार महान् कृतियों का स्रष्टा महाकवि केवल एक है—शेक्सपीयर, जिनके हैमलेट, मैकबेथ, ओथेलो और किंग लीयर सर्वथा स्मरणीय विश्व-नाटक हैं, अप्रतिम त्रासदियाँ हैं। इन चार त्रासदियों के अतिरिक्त भी, शेक्सपीयर ने बहुत-कुछ लिखा है। कालिदास पर भी यह तथ्य लागू होता है। तुलसी पर भी। इन चार कृतियों के अनंतर, दोहावली उनकी सर्वाधिक उल्लेखनीय कृति है, "इसमें 573 दोहे हैं, जिनमें 23 सोरठे हैं। ये भगवन्नाम-माहात्म्य, धर्मोपदेश, नीति आदि पर हैं। इनमें से प्रायः आधे रामायण, रामाज्ञा-प्रश्न तथा वैराग्य-संदीपिनी में भी मिलते हैं। यह संग्रह संभव है कि तुलसीदासजी ने स्वयं किया हो या उनके पीछे किसी अन्य ने। पर इन दोहों में संसार की अनेक अनुभूत बातों तथा गूढ़ तत्त्वों का वर्णन है और प्रेम-भक्ति का अच्छा निरूपण किया है।"[1] श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार के शब्दों में, "गोस्वामी जी ने अपनी अनुभूतियों को बड़े ही भावपूर्ण दोहों में व्यक्त किया है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, प्रेम, नीति आदि विविध विषयों पर इतने सरस दोहे गोस्वामीजी की कृतियों के अतिरिक्त शायद ही कहीं मिलें।"[2] तुलसी के नीति के दोहे कबीर और रहीम के नीति के दोहों से विलक्षण हैं—कबीर के दोहों में तुलसी की सी काव्यकला नहीं प्राप्त होती, रहीम के दोहों में तुलसी के दोहों की सी गम्भीरता नहीं प्राप्त होती। कबीर में फकीराना अंदाज ज्यादा पुर-असर है, रहीम में प्रसादगुणसम्पन्न काव्यकला अधिक आकर्षक है, किंतु तुलसी में इन दोनों गुणों का विशिष्ट समन्वय प्राप्त होता है। आदिकाल में नीतिकाव्य का विशेष प्रणयन देवसेन कृत 'सावयधम्म दोहा' में ही प्राप्त होता है भक्तिकाल नीतिकाव्य

---

1. तुलसी-ग्रंथावली (दूसरा खण्ड) पृष्ठ 3
2. दोहावली (गीता प्रेस) पृष्ठ 3

का स्वर्णकाल था। रीतिकाल के अधिकांश नीतिकाव्यकारों वृंद, घाघ, बैताल, गिरिधर इत्यादि में कला और दर्शन का वैभव कहाँ ? हिन्दी-नीतिकाव्य के सर्वाधिक उत्कृष्ट कवि दीनदयाल गिरि में अनुभव की विराटता कहाँ ? अतएव, हिंदी के समग्र नीतिकाव्य में तुलसी का एक विशिष्ट स्थान है और इस स्थान का प्रधान कारण दोहावली है। 'हिन्दी-नीतिकाव्य' शोधप्रबंध का विषय है और इसमें देवसेन, कबीर, रहीम, तुलसी और दीनदयाल गिरि को प्रमुख स्थान प्राप्त होगा। भारतीय नीतिकाव्य अत्यंत महान् है, जिसमें भर्तृहरि को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है तथा तमिल के भर्तृहरि तिरुवल्लुवर को लगभग वैसा ही। कबीर और तुलसी भी भारतीय नीतिकाव्य में उच्च स्थान रखते हैं।

दोहावली भक्तिनीतिकाव्य है, कोरा नीतिकाव्य नहीं। इसलिए, इसमें अनुभूति की सरसता तथा अभिव्यक्ति की बंकिमता के दर्शन आद्यंत होते रहते हैं। "दोहावली तुलसीदास के व्यापक अनुभव से सम्पन्न प्रौढ़ ग्रंथ है। इसका क्षेत्र अत्यंत विशद है। वेदमूलक भारतीय संस्कृति की महत्ता-रक्षा, परम्परागत भक्ति-भावना का प्रतिपादन, शुद्धाचार, नीति, समाज-समीक्षा प्रभृति अनेक महत्वपूर्ण तत्त्व-बिन्दुओं के प्रभावी स्पर्श से सम्पन्न दोहावली मानस, विनयपत्रिका, कवितावली और गीतावली के पश्चात् तुलसीदास की सर्वाधिक उत्कृष्ट कृति है। यदि इसका लगभग आधा अंश अन्य कृतियों से सम्बंधित न होता, अथवा यह एक शतशः स्वतंत्र कृति होती, तो इसका स्थान और अधिक ऊँचा होता।"[3]

1. निर्गुण-सगुण को एकता

हियँ निर्गुन, नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट-संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥
ग्यान कहै अग्यान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास॥
अंक अगुन, आखर सगुन, समुझिय उभय प्रकार।
खोएँ राखें आपु भल तुलसी चारू बिचार॥[4]

तुलसी निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, ज्ञान-भक्ति, योग-प्रेम, तप-कर्म इत्यादि बाह्यतः परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाले तत्त्वों के आभ्यन्तर अविरोध के प्रतिपादक हैं। अविरोधवाद तुलसी के जीवनदर्शन का मूल एवं प्रधान तत्त्व है।

---

3. देखें 'तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ ग्रंथ का 'दोहावली' निबंध।
4. दोहावली 7, 251-52

वे अनेकता में एकता के अन्वेषक, विश्लेषक एवं उद्घोषक हैं। तुलसी का समन्वय-वाद उन्हें उपनिषद् के याज्ञवल्क्य, उद्दालक इत्यादि एवं ब्रह्मसूत्र के बादरायण जैसे महर्षियों तथा महाभारत (गीता जिसका एक अंश है) के महानतर दृष्टा परमगुरु व्यास के एकदम समीप खड़ा कर देता है।

एक आराध्य की हृदय में निर्गुण (क्योंकि हृदय सूक्ष्मग्राही है) एवं नेत्रों में सगुण (क्योंकि नेत्र बिम्बग्राही है) प्रतिष्ठा ही साधना के सिद्धांत एवं व्यवहार पक्षों में अद्वय स्थापित कर सकती है, साधक को परमानंद प्रदान कर सकती है। इस परमानंद की प्राप्ति का सर्वसुगम साधन रामनाम का जप है। कलियुग में जप ही तप है। यदि हृदय में निर्गुणतत्त्व, नेत्रों में सगुणदर्शन एवं रसना में जप-रस की सिद्धि प्राप्त हो गई तो मानो मनोहर रत्न स्वर्णसंपुटक में सुरक्षित-सुशोभित हो गया—नामरत्न निर्गुण-सगुण-सम्पुट में ही पूर्ण शोभा प्राप्त कर सकता है।

जिस प्रकार ज्ञान-अज्ञान, प्रकाश-अंधकार इत्यादि अन्योन्य हैं, उसी प्रकार सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। वस्तुत: ईश्वर निर्गुण-निराकार की अपेक्षा सगुण-साकार अधिक है, जैसा-कि जगत के दर्शन से ही अनुभूत होता रहता है। शतशः जगत-निरपेक्ष एवं जीवन-निरपेक्ष ईश्वर से किसी का क्या प्रयोजन हो सकता है? शतशः निर्गुण-निराकार ईश्वर के प्रतिपादन से नास्तिकता को बल एवं संबल प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि ऐसा ईश्वर न तो सिद्ध ही किया जा सकता है ("ईश्वरासिद्धेः"—कपिल का सांख्यशास्त्र ऐसे ही ईश्वर को नकार सकता है) और न हमारे किसी काम का ही है। ऐसा ईश्वर कोरे बुद्धि-व्यभिचार या वायवीय वाग्विलास की निधि मात्र बन-कर रह सकता है। अतएव, निर्गुण-सगुण का समन्वय ही वरेण्य है। निर्गुण अंक (1,2 आदि) है, तो सगुण अक्षर (एक, दो आदि); सुविधा और प्रामाणिकता के लिए सुधीजन दोनों का एक साथ प्रयोग करते हैं। अंक भी शाश्वत है, अक्षर भी। दोनों में कोई मूलभूत अंतर नहीं है। वस्तुत: संसार के किसी धर्म का ईश्वर न पूर्णतः निर्गुण है और न पूर्णतः सगुण, न पूर्णतः निराकार है और न पूर्णतः साकार। आकार के बिना आकारी मानव का काम नहीं चल सकता—वह पर-मात्मा को देवता या देवी, राम या कृष्ण, बुद्ध या महावीर, ईसा या मुहम्मद, मूसा या जरथुस्त्र, नानक या अन्य आकारी के माध्यम से ही पूज सकता है। अतएव, निर्गुण-निराकार अथवा सगुण-साकार का विवाद, सूक्ष्मपूजा अथवा मूर्तिपूजा के विवाद के सदृश, तत्त्वतः निस्सार है, विगर्हणीय है। यह विवाद इस्लाम के प्रभाव का परिणाम है, मुसलमानों के मध्यकालीन सुदीर्घ शासन का "यथा राजा तथा प्रजा" के नियमानुसार एक अपरिहार्य प्रतिफलन, जिसके प्रभाव में अनपढ़ और भोलेभाले कबीर, नानक इत्यादि संत ही नहीं आए, पढ़े-लिखे और चतुर सुंदर-

दास, चरणदास इत्यादि संत भी आए थे। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म एक ही वर्ग के हैं—हिन्दूधर्म, बौद्धधर्म, जैनधर्म, सिखधर्म के सदृश। ईसाईधर्म के निराकार ईश्वर, मूर्तिपूजा-खण्डन इत्यादि का प्रभाव राममोहन राय, दयानंद इत्यादि पर बहुत अधिक पड़ा था, जिसे आज भी कट्टर ब्रह्मसमाजियों, आर्यसमाजियों इत्यादि में आसानी से देखा जा सकता है। अतएव, तुलसी का ब्रह्मतत्त्वनिरूपण सदाबहार महत्त्व रखता है।

तुलसी की विराट् मानवतावादी दृष्टि निर्गुण-निराकार अथवा सगुण-साकार की तात्त्विक एकता का प्रतिपादन करती है—

अगुन-सगुन दुई ब्रह्म-सरूपा। अकथ, अगाध, अनादि, अनूपा।।...
एक दारुगत, देखिअ एकू। पावक-सम जुग-ब्रह्म-बिबेकू।।[5]

सगुनहि-अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि, पुरान, बुध, बेदा।।...
जो गुनरहित सगुन सोइ कैसें? जलु, हिम, उपल बिलग नहिं जैसे।।[6]

निर्गुण शिरोधार्य है, किंतु सगुण दृग्गम्य और दोनों तत्त्वतः अभिन्न हैं—विचार और स्वर के सदृश अथवा अनुभूति और अभिव्यक्ति के सदृश अथवा सुरभि और सुमन के सदृश किंतु, दृग्गम्य की उपेक्षा कैसे सम्भव हो सकती है? और, ऐसी उपेक्षा की अपेक्षा ही क्या है? उपयोगिता ही क्या है? महत्ता ही क्या है? अतएव—

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा।।[7]

आखिर 'निर्गुण' है तो उपदेश ही! और, उधर, राम प्रत्यक्ष हैं, समक्ष हैं, अभिराम हैं, विराम हैं! तब, विवाद की आवश्यकता क्या? क्यों? कैसी? आवश्यकता है जीवन में आनंद की, जिसे निर्गुण-लक्ष्य के ज्ञान-पथ पर चलकर भी प्राप्त किया जा सकता है, सगुण-लक्ष्य के भक्ति-पथ पर चलकर भी—

भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव-संभव खेदा।।[8]

---

5. रामचरितमानस 1/22/1,4
6. वही, 1/115/1,3
7. वही, 7/110/11
8. वही, 7/114/13

2. राम, केवल राम !

जौं जगदीस तौ अति भलो, जौं महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि रामचरन—अनुराग।।[9]

अपनी व्यक्तिगत साधना में तुलसी 'राम, केवल राम' के अनन्य उपासक हैं। यदि राम ररंकारमूलक अथवा सर्वव्यापक ब्रह्म हैं, जगदीश्वर हैं, भगवान् हैं, तो बहुत ही अच्छा ! यदि अवधेश्वर हैं, राजराजेश्वर हैं, ऐश्वर्याधिपति हैं, तो भाग्य की बात है ! किंतु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है, राम के प्रति तुलसी का जीवन-पर्यन्त अविरल, अनवरत, अप्रतिहत अनुराग। व्यंजना है कि यदि राम ब्रह्म नहीं, अवतार नहीं, भगावान् नहीं, अवधनरेश नहीं, राजराजेन्द्र नहीं, वैभवशाली नहीं, केवल राम हैं—शक्ति, शील, सौन्दर्य के आगार राम; तुलसी के प्राण, मन, लोचनों में समाए राम—तो भी तुलसी की आजीवन अनुराग-स्पृहा अविकल, अबाधित, एकरस है। राम कौन ? क्या ? कैसे ? इन प्रश्नों और इनके उत्तरों के बिना भी तुलसी का अनवरत-अप्रतिहत अनुराग गतिशील ही रहेगा। दोहावली की प्रसिद्ध चातकभक्ति में अनन्यता ही परम प्रतिपाद्य है। प्रेम व्यापार नहीं, लेन-देन नहीं, तराजू-बँटखरा नहीं—हो गया तो हो गया ! वह अटल है, अपरिवर्तनीय है ! जब मजनू अपनी काली लैला के प्रेम में खुद खुदा से कह सकता है कि यदि तुम चाहते हो कि मैं आँखें खोलकर तुम्हें देखूँ तो लैला बनकर आओ, तब तुलसी अपने सर्वसुंदर राम के प्रेम में संसार से यह कैसे नहीं कह सकते कि उन्हें राम और केवल राम से सरोकार है !

भक्ति अथवा प्रेम के अपरिवर्तन-तत्त्व के अमूल्य प्रतिपादक इस गहन-गम्भीर दोहे की आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने बहुत ही सुंदर समीक्षा की है, "भक्ति में बड़ी भारी शर्त है निष्कामता की। सच्ची भक्ति में लेन-देन का भाव नहीं होता। भक्ति के बदले में उत्तम गति मिलेगी, इस भावना को लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्त के लिए भक्ति का आनंद ही उसका फल है। वह शक्ति, सौन्दर्य और शील के अनंत समुद्र के तट पर खड़ा होकर लहरें लेने में ही जीवन का परम फल मानता है। तुलसी इसी प्रकार के भक्त थे। कहते हैं कि वे एक बार वृन्दावन गए थे। वहां किसी कृष्णोपासक ने उन्हें छेड़कर कहा, 'आपके राम तो बारह कला के ही अवतार हैं। आप श्रीकृष्ण की भक्ति क्यों नहीं करते जो सोलह कला के अवतार हैं ?' गोस्वामी जी बड़े भोलेपन के साथ बोले, 'हमारे राम अवतार भी हैं, यह हमें आज मालूम हुआ।' राम विष्णु के अवतार हैं इससे उत्तम फल या

---

9. दोहावली 91

उत्तम गति दे सकते हैं, बुद्धि के इस निर्णय पर तुलसी राम से भक्ति करने लगे हों, यह बात नहीं है। राम तुलसी को अच्छे लगते हैं, उनके प्रेम का यदि कोई कारण है तो यही है।[10]

3. तुलसी के जीवन-बिन्दु

घर-घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय।
जो तुलसी तब राम बिनु, ते अब अब राम सहाय॥
सेई साधु-गुरु, समुझि, सिखि, रामभगति थिरताई।
लरिकाई को पैरिबो तुलसी बिसरि न जाइ॥
तुलसी तनु-सर, सुख-जलज, भुजरुज-गज बरजोर।
दलत दयानिधि ! देखिए, कपि केसरीकिसोर॥
भुज-तरुकोटर, रोग-अहि, बरबस कियो प्रबेस।
बिहगराज-बाहन ! तुरत काढ़िय, मिटै कलेस॥
बाहु-बिटप, सुख-बिहँगथुल, लगी कुपीर-कुआगि।
राम ! कृपाजल सींचिए बेगि दीनहित लागि॥
बासर ढासनि के ढका, रजनीं चहुँदिसि चोर।
संकर ! निजपुर राखिए चितै सुलोचन-कोर॥[11]

कवितावली का उत्तरकाण्ड तुलसी के जीवन पर, अंतर्साक्ष्य के आधार पर, प्रकाश डालनेवाले विद्वानों के हेतु कल्पतरु रहा है, है, रहेगा। किन्तु, उसके अनन्तर, इस दिशा में, दोहावली सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है। यों, कुछ बिन्दु विनयपत्रिका और एकाध रामचरितमानस में भी प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त दोहों में प्रथम विश्व कवि के आरम्भिक जीवन के अपार कष्टों और संघर्षों की सूचना देता है, जिसमें टुकड़े-टुकड़े का मोहताज होकर भीख माँगना भी सम्मिलित है। इसी के साथ, कालांतर में राजा-महाराजाओं तक के द्वारा चरणपूजन भी स्पष्टतः सूचित है। कहते हैं, यह दोहा आमेर के इतिहास प्रसिद्ध राजा तथा अकबर के नामी-गिरामी सेनापति और सम्बन्धी मानसिंह (जिनके अर्थात् 'वीर मानसिंह' के नाम पर पूर्वी भारत के वीरभूमि, मानभूमि तथा सिंहभूमि जिलों के नामकरण खुद अकबर ने किए थे !) की काशी की तीर्थयात्रा के संदर्भ में, तुलसी के चरणवंदन

10. गोस्वामी तुलसीदास, तुलसी की भक्ति-पद्धति, पृष्ठ 11
11. दोहावली 109, 140, 234-36, 239

के तत्काल पश्चात्, रचा गया था ? इतना महान् विपर्यय—तभी तो कवि भी इतना महान् हो सका ! विपर्यय महानता का वाहक है। कवितावली में भी ऐसी ही सूचना प्राप्त होती है—

जाति के, सुजाति के, कुजाति के, पेटागिबस
खाए टूक सबके, बिदित बात दुनी सो।···
रामनाम को प्रभाउ, पाउ, महिमा, प्रतापु,
तुलसी-सो जग मनिअत महामुनी-सो।···[12]

···बारें ते ललात-बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हो चारिफल चारि ही चनक को।।
तुलसी सो साहेब समर्थ को सुसेवकु है,
सुनत सिहात, सोचु बिधिहू गनक को।···[13]

द्वितीय दोहे में शैशव एवं बाल्य कालों से ही रामभक्ति को जीवनदर्शन के रूप में सुस्थिर करने का तथ्य स्पष्ट किया गया है, जो विश्वकवि तुलसी के साथ नितान्त परवर्ती एवं अप्रामाणिक गोसाईंचरित, तुलसीचरित इत्यादि ग्रंथों के आधार पर रत्नावलीप्रेरणा-कथा का खण्डन करता है। अन्यत्र भी, विश्वकवि के "तब अति रहेउँ अचेत"[14] शब्द यह स्पष्ट कर देते हैं कि किन्हीं रत्नावली की प्रेरणा से रामभक्त नहीं बने थे, शैशव से ही उन्हें यह कामधेनु प्राप्त हो गई थी। तुलसी की विवाहकथा कोरी कल्पना है।[15] रत्नावली कल्पना की अत्यंत परवर्ती कृति हैं। उनके द्वारा रचित दोहे तुलसी के जन्मस्थान के विवाद के परिणाम मात्र हैं। अपने बारह प्रामाणिक (तथा अन्य अनेक तथाकथित, जैसे हनुमानचालीसा, संकटमोचनस्तुति) ग्रंथों में कहीं भी तुलसी ने अपने विवाह का संकेत तक नहीं किया। अतएव, रत्नावली-कथा को, सूर की प्रेमकथा के सदृश, कालातीत मानना ही उचित है।[16] "ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हौं"[17] तथा "काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब"[18] कहकर विश्वकवि ने इस कथा की निर्मूलता स्वयं

---

12. कवितावली 7/72/1-2, 5-6
13. वही, 7/73/3-6
14. रामचरितमानस 1/30 क
15. देखें 'तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ' के 'दोहावली' तथा 'तुलसी : कुछ नए बिन्दु' निबंध।
16. क्या तुलसी अविवाहित थे ? (रामप्रसादमिश्र, 'हिन्दुस्तान' 13-8-1978)
17. विनयपत्रिका 76/14
18. कवितावली 7/106/2

सिद्ध कर दी है। पण्डित रजनीकान्त शास्त्री ने तुलसी के "तथाकथित विवाह" के न होने का प्रतिपादन ठीक ही किया है।[19]

सांगरूपक, अनेक छेकानुप्रासों, परिकर, श्लेष, परिकरांकुर इत्यादि नाना अलंकारों से सम्पन्न तृतीय दोहे में तुलसी ने 1616 ई० के आसपास फैलकर लगातार आठ वर्षों तक समूचे हिन्दुस्तान को श्मशान बनाने वाली ताऊन (प्लेग) की महामारी में स्वयं अपने बाहुकष्ट का वर्णन किया है। रुज (रोग) रूपी गज का नाश केसरी (सिंह) के किशोर सरलता से कर सकते हैं! चतुर्थ दोहे में भी सांगरूपक और परिकर के संयोग से रोगनाश की प्रार्थना की गई है। पंचम दोहे में भी सांगरूपक का इसी आशय से प्रयोग किया गया है। कवितावली के उत्तरकाण्ड में इस जीवनबिन्दु पर प्रभूत सृजन के दर्शन होते हैं —'हनुमानबाहुक' का तो शीर्षक ही बाहुकष्ट एवं हनुमान से प्रार्थना की सूचना दे देता है। तुलसी की प्रार्थना सुन ली गई थी और वे महामारी के बाद भी जीवित रहे थे!

षष्ठ दोहे में तुलसी के जीवन-संघर्ष पर महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त होती है। 'ढासनि' शब्द का एक अर्थ डाकुओं[20] से लगता है, दूसरा ठगों[21] से। 'ढका' का अर्थ आक्रमण या आशंका या धक्का[22] है। मेरी समझ में, 'ढका' से झुंड या गिरोह का अर्थ भी व्यक्त होता है। "दिन" में डाकुओं के ठट्ट-के-ठट्ट और रात में चोरों के झुंड-के-झुंड!" रामचरितमानस की चोरी के यत्न के संदर्भ में, प्रसिद्ध है कि तुलसीदास के आवास पर दो चोर आए थे, किन्तु दो धनुर्धर वीरों को प्रहरी-रूपों में देखकर लौट गए थे और उनका हृदयपरिवर्तन हो गया था।[23] आज भी वाराणसी के तुलसीघाट पर स्थित तुलसीभवन की ऊपरी मंजिल पर वह स्थान दिखलाया जाता है! अब उसे लोहे के जंगले से घेर-सा दिया गया है। फिर, यह दोहा तो सम्भवतः महामारी और स्वरोग के विकटतम काल में रचा गया जान पड़ता है, क्योंकि इसके आगे-पीछे के दोहे ऐसा ही सिद्ध कर सकते हैं। स्वयं इसका संदर्भ भी इसी सम्भावना के निकट है, क्योंकि महामारियों के समय डाकुओं, ठगों और चोरों की व्यस्तता बढ़ जाती थी। वे ताऊन इत्यादि के कारण गाँवों और मुहालों से दूर बसे लोगों के घरों को सन्नाटे में पूरे सुभीते से मूसते थे। उनके धावे दूर की अस्थायी बस्तियों पर भी होते थे क्योंकि

---

19. मानस-मीमांसा, पृष्ठ 37-38
20. तुलसी-ग्रंथावली (दूसरा खण्ड) पृष्ठ 103
21. दोहावली (गीता प्रेस) पृष्ठ 82
22. वही, पृष्ठ 82
23. रामचरितमानस (मूल मोटा टाइप, गीता प्रेस) पृष्ठ 23

रुग्ण या अशक्त या कुण्ठित व्यक्तियों का धन लूटना या ठगना या चुराना अपेक्षाकृत सरलतर होता है। 'बनारसी ठग' एक प्रोक्ति है ही! दिल्ली तक में एकाध 'बनारसी ठग' इधर-उधर 'चमकता' मिल जाएगा! तुलसी ने 'बनारसी ठग' के इतिहास का एक 'प्रकाश-बिन्दु' अवश्य प्रदान किया है! इस महत्त्वपूर्ण दोहे से यह सूचना भी अनायास ही प्राप्त हो जाती है कि इस समय तक तुलसीदास पर्याप्त सम्पन्न हो गए थे। प्रसिद्ध है कि वे काशी के लोलार्क कुण्ड पर स्थित एक मठ के महंत हो गए थे और 'गोस्वामी' शब्द के प्रयोग का कारण यही था, क्योंकि उस मठ के महंत गोसाईं या गोस्वामी कहे जाते थे।[24] लोलार्क कुण्ड अब भी है—गौरवहीन रूप में भी लोग उसे देखने जाते हैं। मठ का भवन, सम्भव है, आज का तुलसीभवन ही रहा हो, क्योंकि यह पास ही है। संकटमोचन, तुलसीघाट, तुलसीभवन और लोलार्ककुण्ड वाराणसी के तुलसीतीर्थ हैं—हाँ, एक नया तुलसीतीर्थ और जुड़ गया है, जिसे मानसमंदिर कहते हैं और जो इन तुलसी तीर्थों के पास ही स्थित है। यह नया (1966 ई० में बना) तुलसीतीर्थ अतीव भव्य है और नित्यप्रति सहस्रों यात्रियों को आकृष्ट करता रहता है। सम्प्रति वाणारसी पैंतालीस प्रतिशत विश्वनाथपुर है, पैंतालीस प्रतिशत तुलसीपुर और दस प्रतिशत बुद्धपुर (सारनाथ के कारण)। 'धर्मनिरपेक्ष' सरकार नब्बे प्रतिशत पर कुछ भी व्यय करना उचित नहीं समझती, किन्तु दस प्रतिशत पर स्वर्णवर्षा करती रहती है, जिससे सारा संसार उसकी प्रशस्ति करता रहे—खेद है कि यह प्रशस्ति कहीं नहीं सुनाई पड़ती!

मठों के महंत प्रायः अविवाहित व्यक्ति बनाए जाते हैं। इससे भी तुलसी के अविवाहित जीवन की पुष्टि होती है।

4. तुलसी का भाषा-दर्शन

स्याम-सुरभि-पय बिसद अति, गुनद, करहिं सब पान।
गिरा-ग्राम्य सियरामजस गावहिं-सुनहिं सुजान॥
हरिहरजस सुर-नर-गिरहुँ बरनहिं सुकबि-समाज।
हाँड़ी-हाटकघटितचरु राँधे स्वाद सुनाज॥
का भाषा, का संसकृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जु आवै कामरी, का लै करिअ कुमाच॥[25]

24. तुलसीदास (डॉ० माताप्रसाद गुप्त) पृष्ठ 189-92
25. दोहावली 196-97, 572

तुलसी का भाषा-दर्शन अतीव व्यापक एवं लोकसंग्रहसम्पन्न था। वे इस दिशा में भी कुण्ठारहित थे, "तुलसीदास ने, दाँते के सदृश, लोकभाषा में सृजन किया था, किन्तु वे कबीर के सदृश, अक्खड़ होकर संस्कृत-जैसी गीर्वाण-भारती को 'कूपजल' नहीं कह सकते थे, क्योंकि वे उसे जानते थे, पहचानते थे, और इस कारण कबीर की सी निराधार निरंकुशता-स्वच्छन्दता से काम ले सकने में रुचि नहीं रख सकते थे। दूसरी ओर—

भाषा बोलि न जानई जिनके कुल को दास।
भाषा-कबि भो मंदमति तिहि कुल केसवदास ॥[26]

कहने की कोई कुण्ठा यहाँ विद्यमान नहीं है। भाषा नहीं भाव मुख्य है। तुलसीदास का यह दृष्टिकोण अतीव स्वस्थ था, इसमें संदेह नहीं। परम्परा और उपयोगिता दोनों के मध्य संतुलन स्थापित करने में तुलसीदास की कोई समता नहीं; भाव में, भाषा में सर्वत्र यह तथ्य शतशः स्पष्ट है।[27]

माध्यम नहीं, उद्‌गार प्रधान है। ग्राम्यगिरा में भी यदि लोकमंगलमय सृजन किया जाए, तो सुजान उसे गौरव प्रदान करते हैं। यदि नागरवाणी में भी सारहीन रचना की जाए, तो वह उपेक्षणीय होती है। दुग्ध मुख्य है, श्याम या धवल गौ नहीं। काव्यरस मुख्य है, काव्य कलेवर नहीं। चाहे सुरगिरा संस्कृत हो या नरगिरा हिन्दी, सृजन का श्रेयपक्ष ही प्रधान है। हाँड़ी में पके या स्वर्णपात्र में, आस्वाद ही लक्ष्य है। यदि काम कमली से ही निकल रहा हो, तो दुशाले को लेकर क्या किया जाएगा? "जहाँ काम आवै सुई, कहा करै तरवार?" यदि हिन्दी में सृजन कोटि-कोटि मानवों को रसास्वाद से आह्लादित करता है और संस्कृत में सृजन से इस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती, तो प्रथम ही वरेण्य है।

विश्व की जिस महानतम एवं प्राचीनतम भाषा में ऋग्वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत (गीता जिसका अंश है): अष्टाध्यायी, महाभाष्य, योगसूत्र, ब्रह्मसूत्र, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मेघदूतम् इत्यादि सर्वोच्च-स्तरीय ग्रंथ प्राप्त होते हैं तथा जिसका जन्म, विवाह, मृत्यु इत्यादि संस्कारों में अनवरत प्रयोग होता रहता है, उसे तुलसी जैसा पंडित एवं लोकसंग्रही महाकवि अनादृत नहीं कर सकता। संस्कृत का अनादर भारतीय संस्कृति का अनादर है, कोटि-कोटि भारतीयों का अनादर है— संस्कृत भारत की साहित्य भाषा थी, संस्कृत भारत की संस्कार भाषा है। संस्कृत के शत-शत श्लोक, उसकी अनेक लोकोक्तियाँ एवं प्रोक्तियाँ चिरन्तन स्वरूप प्राप्त कर चुकी हैं। संस्कृत को वही व्यक्ति अनादृत

26. 'कविप्रिया' में।

27. 'तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ' का 'दोहावली' निबंध।

कर सकता है, जो उससे अनभिज्ञ हो अथवा कुण्ठित हो। संस्कृत कूपजल नहीं है, मृतभाषा नहीं है, क्योंकि उसे बोलने-समझने वाले विद्यमान हैं, उसकी आत्मा का संदेश सर्वप्रेरक है, उसके मंत्र एवं श्लोक सर्वप्रचलित हैं, उसका साहित्यिक प्रभाव सर्वव्यापक है। हाँ, संस्कृत लोकभाषा नहीं है, शताब्दियों पूर्व से नहीं है। तुलसी ने इस तथ्य को सर्वथा अकुण्ठित रूप में व्यक्त किया है। इस दृष्टि से, वे कबीर और केशव से भिन्न तथा संतुलित हैं—इस क्षेत्र में भी एक स्वस्थ समन्वयवादी ही हैं।

पार्वती-मंगल

पार्वती-मंगल सोहर छंद के 148 तुकों (द्विपदियों) और हरिगीतिका के 16 छंदों में निबद्ध छोटा-सा खण्डकाव्य है, जिसमें पार्वती के मंगल (विवाह) का शिवपुराण, कुमारसम्भवम्, पार्वती-परिणय इत्यादि में प्राप्त वृत्त और वर्णन बहुत ही मर्यादित और शालीन रूप में प्रस्तुत किया गया है। सोहर एक मांगलिक लोकछंद है। इसके गायन की अनेक शैलियाँ प्रचलित हैं। स्त्रियाँ जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह इत्यादि आनंदमय अवसरों पर सोहर छंद में निबद्ध गीत गाती हैं। तुलसी ने पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल में इस छंद को प्रधानता प्रदान कर विषय और लोक दोनों ही पक्षों के साथ समन्वित न्याय किया है। विवाह के लिए सोहरछंद अत्यंत उपयुक्त है। साहित्यिक छंद हरिगीतिका को क्रमबद्ध रूप से जोड़कर वर्णनात्मकता को गति प्रदान की गई है। सोहर वर्णनात्मकता का छंद नहीं है। इसीलिए, जहाँ वर्णनात्मकता नहीं है, वहाँ रामललानहछू में तुलसी ने केवल सोहर का ही प्रयोग किया है। तुलसी ने इस खण्डकाव्य की रचनातिथि गुरुवार फाल्गुन शुक्ल में जय संवत् लिखी है। अपने समय के सुप्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य और साहित्य पंडित महामहोपाध्याय श्री सुधाकर द्विवेदी ने इस जय संवत् को 1643 वि० माना है।[1] यह खण्डकाव्य, जानकी-मंगल और रामललानहछू के सदृश, शुद्ध अवधी में रचा गया है।

"शिव भारतीय संस्कृति और साहित्य के महानतम् गौरव-मानदण्डों में एक हैं। उनसे सम्बद्ध साहित्य और दर्शन महान् और गम्भीर है। पुराण, स्तोत, कथा इत्यादि साहित्य के अनेक रूप उनसे सम्बद्ध होकर पावन बन गए हैं। शिव भारत की राष्ट्रीय एकता के महान प्रतीक हैं—हिममण्डित गिरिगुहा के अमरनाथ, समतल वसुधा पर काशी के विश्वनाथ, यत्किंचित् असमतल वसुधा पर अवंति के महाकाल, सागर के वक्ष पर रामेश्वरम् इत्यादि कुछ प्रख्यात निदर्शन इस तथ्य को स्पष्ट कर देते हैं। समग्र भारत में लक्ष-लक्ष शिव मंदिर विद्यमान

---

1. तुलसी-ग्रंथावली (दूसरा खण्ड) पृष्ठ 2

हैं। तुलसीदास जैसा भारतीय संस्कृति का महान् आख्याता और महानतर व्याख्याता शिव पर सृजन न करता, यह बहुत कठिन था। मानस में शिव गुण तथा परिमाण में राम के पश्चात सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रूप में चित्रित किए गए हैं। विनयपत्रिका में उनकी स्तुति पर्याप्त परिमाण में दृष्टिगोचर होती है। श्रीकृष्णगीतावली तक में उनका पावन उल्लेख प्राप्त होता है। किंतु, इन ग्रंथों में प्राप्त उक्त वर्णनों से शिव संबंधी साहित्य में पृथक् ग्रंथ-रूप से वृद्धि नहीं होती। पार्वती-मंगल के द्वारा ऐसी स्वतंत्र-सत्तापरक वृद्धि भी हो जाती है, शिवभक्ति भी व्यक्त हो जाती है। अतएव पार्वती-मंगल का एक विशेष महत्त्व बन जाता है। पार्वती-मंगल और श्रीकृष्ण गीतावली तुलसी की समन्वय-साधना के दो स्वतन्त्र स्मारक हैं।"[2] तुलसी रामकाव्य के सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं—यह जगजाहिर है। किंतु वे कृष्णकाव्य तथा शिवकाव्य के कवियों में भी समाविष्ट हैं—यह श्रीकृष्ण गीतावली तथा पार्वती-मंगल से ही स्पष्ट होता है, भले ही उन्होंने अपने स्फीत रामकाव्य में श्रीकृष्ण तथा शिव के प्रकीर्णक तथा व्यवस्थित उल्लेख किए हैं।

1. तपस्विनी पार्वती

सकुचहिं बसन-बिभूषन परसत जो बपु।
तेहि सरीर हर हेतु अरंभेउ बड़ तपु॥
पूजहि सिवहि, समयतिहुँ करहि निमज्जन।
देखि प्रेम, ब्रतु, नेमु सरावहिं सज्जन॥
नींद न भूख-पियास, सरिस निसि-बासरु।
नयन नीर, मुख नाम, पुलक तनु, हिय हरु॥[3]

कविकुलगुरु कालिदास ने अपने विश्वविश्रुत महाकाव्य कुमारसम्भवम् में पार्वती का विशद एवं विस्तृत चित्रण किया है। महत्तम सुंदरी राजकुमारी का कठोरतम तप करना अपने-आप में एक पावन एवं कलामय विरोधाभास है। कालिदास ने इस पर अनेक उच्चतम-स्तरीय छंद रचे हैं। अत्यधिक मूल्यवान शैया पर करवट लेते हुए केशक्षिप्त पुष्प से भी कष्ट पाने वाली पार्वती लतावत् कोमल भुजा को उपधान बनाकर कठोर भूमि पर सोती और बैठती थीं—

---

2. देखें 'तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ का 'पार्वती-मंगल' निबंध।
3. पार्वती-मंगल 39-41

महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः
स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी
निषेदुषी स्थण्डिल एव केवलम ।।[4]

पार्वती के तपोमय जीवन के महान् परिवर्तन को अन्यत्र भी इसी प्रकार व्यक्त किया गया है—

शेते या किल हंसतूलशयने, निद्राति सा स्थण्डिले,
वस्ते या मृदुलं दुकुलमबला, गृह्णाति सा वल्कलम् ।
हा वा चन्दनपङ्कलेपशिशिरे धारागृहे वर्त्तते,
पञ्चानामुदितोष्मणाँ हुतभुजां सा मध्यमासेवते ।।[5]

नियमित शिवपूजा, अभिषेक (तीन बार स्नान) इत्यादि का तप सज्जन-प्रशस्ति का पात्र कैसे न बनता ? अभिषेकपूता, अग्निहोत्रनिरता, वल्कलवसना, वेदाध्ययनपावनी पार्वती का दर्शन करने के लिए ऋषि-मुनि आने लगे, क्योंकि तप में बढ़े-चढ़े व्यक्ति की आयु नहीं देखी जाती—

कृताभिषेकां हुतजातवेदसं
त्वगुत्तरासङ्गवतीमधोतिनीम् ।
दिदृक्षबस्तामृषयोभ्युपागम—
न्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते ।"[6]

कुमारसम्भवम् एक सुनियोजित एवं कलागौरवसम्पन्न महाकाव्य है, पार्वती मंगल एक त्वरितसृजित एवं सोद्देश्य भक्तिकृति है। दोनों में बहुत अधिक अंतर है। दोनों की तुलना का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। तुलसी ने कथानक का मौलिकतासम्पन्न मर्यादावादी रूप प्रस्तुत किया है, कालिदास ने श्रृंगारसम्पन्न कलावादी रूप प्रस्तुत किया है। किंतु, दोनों महाकवियों ने महापुरुषों द्वारा तपस्विनी पार्वती के सम्मान का वर्णन किया है। कालिदास ने "न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते" के अर्थान्तरन्यास अलंकार द्वारा वर्ण्य को सम्पन्नतर रूप प्रदान कर दिया है। अन्यत्र भी, कालिदास ने ऐसा ही उद्गार व्यक्त किया है, "तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ।"[7] नाट्यकार कालिदास के समकक्ष भवभूति ने इस

4. कुमारसम्भवम् 5/12
5. पार्वती परिणय 4/2
6. कुमारसम्भवम् 5-16
7. रघुवंशम 11/1

भावना को स्पष्टतर रूप में व्यक्त किया है, "गुणा: पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्ग न च वय: ।"[8] "प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतु"[9] का नीतिवाक्य इस भावना का अनुमोदन करता है। तुलसी ने, लोकोक्ति-सृष्टि न करते हुए भी, पार्वती के तप की ऐसी ही प्रशस्ति की है—

देखि, सराहहिं गिरिजहि मुनिवरू, मुनि बहु ।
अस तप सुना न दीख कबहुँ काहू कहुँ ।।[10]

किन्तु तुलसी ने "नयन नीर, मुख नाम, पुलक तनु, हिय हरु" की जो अपूर्व, कलात्मक एवं बिम्बसम्पन्न सृष्टि की है, वह अतुलनीय है, "कालिदास ने पंचाग्नितपरता पार्वती की 'शुचिस्मिता'[11] शोभा में साधना की सुन्दर-पावन दृढ़ता को बिम्बित किया है, तुलसीदास ने 'नयन नीर' में प्रेम की तन्मयता को बिम्बित करते हुए उसे 'मुख नाम' से अधिक स्पष्ट किया और तब 'पुलक तनु' के द्वारा मूल आनंद का संकेत करके 'हिय हरु' में सारे भाव को पराकाष्ठा पर प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की है। यह छंद पार्वती-मंगल का सर्वोत्तम छंद है, जो विश्व-वाङ्मय के सर्वोत्तम छंदों में स्थान ग्रहण करने का अधिकारी है। दृश्य 'नयन नीर, मुख नाम' अदृश्य 'हिय हरु' के सहायक हैं। दो-दो शब्दों में चार सोपानों का यह पूर्ण वर्णन पार्वती-मंगल की प्रौढ़ता का चरम निदर्शन है। यह पार्वती का बिम्ब नहीं, भक्ति का बिम्ब है। 'नयन नीर, मुख नाम, पुलक तनु, हिय हरु' के द्वारा भक्ति की प्रतिमा का निर्माण किया गया है। महाकवि शेक्सपीयर कहते हैं, प्रेम अश्रुविजड़ित शोभा में सुन्दरतम हो जाता है।' यहाँ प्रेम सुन्दरतम शोभा धारण किए है। यद्यपि तुलसीदास ने प्रेममय अथवा भक्तिमय बिम्बों की रचनाएँ मानस और दोहावली इत्यादि में अनेक अवसरों पर की हैं, किन्तु पार्वती-मंगल के 'नयन नीर, मुख नाम' पुलक तनु, हिय हरु' की क्रमसम्पन्नता और संक्षिप्तता अतुलनीय है, इसमें संदेह नहीं।"[12] निस्संदेह, पार्वती-मंगल का इकतालीसवाँ छंद साहित्य की एक अमूल्य निधि है।

---

8. उत्तररामचरितम् 1/41
9. नीतिशतकम् 58
10. पार्वती-मंगल 44
11. कुमारसम्भवम् 5/20
12. देखें 'तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ का 'पार्वती-मंगल' निबंध।

2. वटु के प्रश्न

अगम न कछु जग तुम कहँ, मोहि अस सूझइ ।
बिनु कामना कलेस क लेस न बूझइ ।।
जौ बर लागि करहु तपु, तौ लरिकाइय ।
पारस जौ घर मिलै, तो मेरु कि जाइय ।।
मोरे जान कलेस करिय बिनु काजहि ।
सुधा कि रोगिहि चाहहि, रतन कि राजहि ।।[13]

"मेरी समझ में, संसार में तुम्हें कुछ भी अनुपलब्ध नहीं हो सकता, क्योंकि तुम स्वर्ग-तुल्य हिमालय के पावन अंचल की सर्वसम्पन्न राजकुमारी हो, अनुपम एवं अनिंद्य सुंदरी हो। न तुम्हें ऐश्वर्य का अभाव हो सकता है, न वर का। तरुणी को इन्हीं की कामना होती है। जैसे युवा लता तरु का आलिंगन चाहती है, वैसे ही तरुणी वर का—तरुणी शब्द ही इस तथ्य को व्यंजित करता है; अतः, सम्भव है, तुम वर के लिए तप कर रही हो? यदि यह सत्य है, तो बचपने की बात हुई! तुम्हारे लिए त्रिलोक का कोई भी वर स्वयं दौड़ा आएगा! यदि घर पर ही पारसमणि उपलब्ध हो, तो स्वर्ण के निमित्त सुमेरु के कठिनतम अभियान का क्या प्रयोजन? रोगी सुधा चाहता है, सुधा रोगी नहीं चाहती! राजा रत्न के लिए दौड़ता है, रत्न राजा के लिए नहीं दौड़ता! सुधा के लिए कष्टसाध्य सागरमंथन होता है, रत्न के लिए कष्टसाध्य उत्खनन होता है—सुधा या रत्न कष्टसाध्य आयास नहीं करते! अतएव, मेरी मान्यता तो यही है कि तुम अकारण ही यह असमय तप कर रही हो, क्योंकि तुम्हारी आयु और स्थिति तप के अनुरूप नहीं है?" इन बिन्दुओं और प्रश्नों को तुलसी ने ब्रह्मचारी के वेष में आए शिव के द्वारा पार्वती के समक्ष बड़े ही मर्यादित और शालीन रूप में प्रस्तुत कराया है। "कलेस क लेस" में भंगपद यमक अलंकार का बहुत सुंदर प्रयोग किया गया है; स्वभावोक्ति, दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास तो इन छंदों में प्रधान अलंकार हैं ही।

रामचरितमानस में भी शिवविवाह का वर्णन किया गया है, किंतु उसमें पार्वती के अवलोकन एवं प्रेमपरीक्षण के हेतु शिव स्वयं नहीं जाते अपितु सप्तर्षियों को भेजते हैं—

---

13. पार्वती-मंगल 50-52

तबहिं सप्तरिषि सिव पहिं आए। बोले प्रभु अति बचन सुहाए ।।
पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम-परिच्छा लेहु ।
गिरिहि प्रेरि पठएहु भवन, दूरि करेहु संदेहु।।[14]

पार्वती-मंगल में, कुमारसम्भवम्[15] के सदृश, शिव स्वयं वटु का वेष धारण-कर तपोनिरता पार्वती के समक्ष जाते हैं। कुमारसम्भवम् के वटुवेषधारी शिव अतीव कलामय, रसमय एवं निगूढ़ प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं, जिनमें विशुद्ध कलाकार-महाकवि कालिदास का श्रृंगार रस उन्मुक्त रूप में विवृत हुआ है। पार्वती-मंगल के वटुवेषधारी शिव कलामय, रसमय एवं निगूढ़ प्रश्न तो करते हैं, किंतु उनकी झड़ी नहीं लगाते, और इन प्रश्नों में भी विशुद्ध मर्यादावादी-लोक-मंगलवादी तुलसीदास ने अपने अनुरूप प्रस्तुतीकरण ही किया है। इस प्रकार, पार्वती-मंगल के कवि तुलसीदास कुमारसम्भवम् के महाकवि कालिदास से प्रभावित होते हुए भी मौलिक हैं। सम्भवतः इसीलिए, उन्होंने कालिदास का नामोल्लेख कहीं नहीं किया। फिर भी, कालिदास के कुछ उत्कृष्ट प्रश्नों का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है—

कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधस-
स्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वय-
स्तपःफलं स्यात्किमतः परं वद ।।...
दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः
पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः।
अथोपयन्तारमलं समाधिना
न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ।।[16]

मानवजाति के स्रष्टा ब्रह्मा के कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है, शरीर में तीनों लोकों का सौन्दर्य उदित है, ऐश्वर्य-सुख का तुम्हें अन्वेषण नहीं करना क्योंकि वह प्रचुरतम परिमाण में अनायास सुलभ है, आयु नवल है—फिर, बताओ, तपस्या का इस सबसे बढ़कर और कौन-सा फल हो सकता है? यदि तुम स्वर्ग की इच्छा से तप कर रही हो तो वह व्यर्थ है क्योंकि तुम्हारे पिता का प्रदेश स्वयं देवभूमि है और यदि किसी वर की कामना से ऐसा कर रही हो तो तप त्याग दो क्योंकि रत्न किसी को नहीं ढूँढ़ता अपितु वह स्वयं ढूँढ़ा जाता है।

---

14. रामचरितमानस 1/76/8, 77
15. सर्ग 5
16. कुमारसम्भवम् 5/41, 45

पार्वती-मंगल में "तुलसीदास का उद्देश्य शिवचरितगान है, कलाकृतिनिर्माण नहीं। यों भी, कालिदास गुण के कवि अधिक हैं, तुलसीदास परिमाण के कवि अधिक हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मेघदूतम्, रघुवंशम् और कुमारसम्भवम् के स्तर की चार कृतियाँ तुलसीदास नहीं रच सके, रामचरितमानस के स्तर की एक कृति कालिदास नहीं रच सके। कुल मिला कर, दोनों प्रथम श्रेणी के विश्वकवि हैं, किन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर है। इस अन्तर के दर्शन, एक सीमा में ही सही, पार्वती-मंगल में किए जा सकते हैं।"[17]

---

17. देखें, 'तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ' का 'पार्वती-मंगल' निबंध।

जानकी-मंगल

जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल के सदृश ही, शुद्ध अवधी में लिखित खण्डकाव्य है, "इसमें सोहर के 192 तुक तथा 24 छंद हैं और प्रति आठ सोहर पर एक-एक छंद है।...मानस की कथा से इसमें कुछ भेद किया गया है। जैसे—(क) पुष्प-वाटिका में रामचंद्र तथा सीता के एक-दूसरे के देखने का वर्णन नहीं है। धनुषयज्ञ से ही कथा का आरम्भ है। (ख) इसमें लक्ष्मण के कोप करने के बाद विश्वामित्र की आज्ञा पर रामचंद्र का धनुष तोड़ना नहीं दिया है प्रत्युत जनक के संदेह प्रकट करने तथा विश्वामित्र के राम की महिमा कहने पर रामचंद्र ने धनुष तोड़ा है। (ग) इसमें विदाई के पीछे परशुरामजी आए हैं, धनुषभंग के बाद ही नहीं।"[1] रामाज्ञा-प्रश्न में भी ऐसा ही है। ऐसा वाल्मीकि-रामायण की प्रेरणा से हुआ है। जानकी-मंगल और रामाज्ञा-प्रश्न में तुलसी ने प्रकरणवक्रता या प्रसन्नराघव इत्यादि के प्रभाव से काम नहीं लिया। यह मंगलकाव्य आद्यंत मंगलमय है। श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार के शब्दों में, "जनकपुर में स्वयंवर की तैयारी से आरम्भ करके विश्वामित्र के अयोध्या जाकर श्रीराम-लक्ष्मण को यज्ञरक्षा के व्याज से अपने साथ ले जाने, यज्ञरक्षा के अनंतर धनुषयज्ञ दिखाने के बहाने उन्हें जनकपुर ले जाने, रंगभूमि में पधारकर श्रीराम के धनुष तोड़ने तथा श्रीजनकराजतनया के उन्हें वरमाला पहनाने, लग्नपत्रिका तथा तिलक की सामग्री लेकर जनक-पुरोधा महर्षि शतानंदजी के अयोध्या जाने, विवाह-संस्कार सम्पन्न होने के अनंतर बरात के विदा होने, मार्ग में भृगुनंदन परशुरामजी से भेंट होने तथा अंत में अयोध्या पहुँचने पर वहाँ आनंद मनाए जाने आदि प्रसंगों का बड़ा ही सरस एवं सजीव वर्णन किया गया है।"[2]

सगुणोपासकों में राम के विवाह का महत्त्व सर्वोपरि है। राम की बाललीला, विवाहलीला, वनलीला, विरहलीला, युद्धलीला इत्यादि में सर्वाधिक मंगलमय

---

1. तुलसी-ग्रंथावली (दूसरा खण्ड) पृष्ठ 2-3
2. जानकी-मंगल (गीता प्रेस) पृष्ठ 3

होने के कारण विवाहलीला का महत्त्व अप्रतिम माना जाता है। आधुनिककाल में रामाजी, रामशंकरशरणजी महाराज अर्थात् श्री पुजारीजी[3] इत्यादि अनेक भक्तों ने विवाहलीला का बहुत प्रचार-प्रसार किया। लक्ष-लक्ष मधुरोपासक विवाहलीला देखकर अभिभूत होते रहते हैं। निस्संदेह, इसका श्रेय तुलसी को प्राप्त है और इसका प्रस्थानग्रंथ रामचरितमानस है। किंतु, जानकी-मंगल का इस दिशा में उल्लेखनीय स्थान तो है ही।

यद्यपि रामचरितमानस में राम-सीता-विवाह के उच्चतम-स्तरीय विस्तृत वर्णन के कारण जानकी-मंगल को यथेष्ट ख्याति नहीं प्राप्त हुई, तथापि अपने-आप में यह एक सफल खण्डकाव्य है। भक्तिकाल के खण्डकाव्यों में कला की दृष्टि से राठौड़राज प्रिथीराज का 'बेलि क्रिशन-रुकमणी री' सर्वोत्तम है, जिसका स्थान समूचे हिन्दी-साहित्य में भी बहुत ऊँचा है, किंतु लोकप्रियता की दृष्टि से नरोत्तमदास का सुदामाचरित अग्रणी है। इनके अनंतर जानकी-मंगल तथा पार्वती-मंगल का नाम लिया जा सकता है। शिव-पार्वती-विवाह के संदर्भ में भी, रामचरितमानस का वर्णन ही अधिक लोकप्रिय है, पार्वती-मंगल का नहीं। इन दोनों मंगलकाव्यों में पार्वती-मंगल रम्यतर है, क्योंकि उसमें शिवपुराण, कुमारसम्भवम् और पार्वती-परिणय की कथा-कला तुलसी के मर्यादावाद से मिलकर भव्यतर-नव्यतर रूप में व्यक्त हुई है, जबकि जानकी-मंगल में अधिकतर रामायण का ही आश्रय लिया गया है।

1. जनक का राम-दर्शन

देखि मनोहर मूरति, मन अनुरागेउ।
बँधेउ सनेह बिदेह, बिराग बिरागेउ।।
प्रमुदित हृदय सराहत भल भवसागर।
जहँ उपजहिं अस मानिक, बिधि बड़ नागर।।
पुन्यपयोधि-मातुपितु ए सिसु सुरतरु।
रूपसुधा-सुख देत नयन-अमरनि बरु।।
"केहि सुकृती के कुँवर?" कहिय मुनिनायक।
"गौर-स्याम छबिधाम, धरे धनु-सायक।।

3. श्रीसद्गुरुचरितामृत (लेखक श्री रामयत्नशरण, प्रकाशक विवहुती भवन, अयोध्या, 2031 वि०) के चरितनायक।

बिषयबिमुख मन मोर सेइ परमारथ।
इन्हहिं देखि भयो मगन, जानि बड़ स्वारथ॥"[4]

तुलसी के जनक का राम-दर्शन निवृत्ति पर प्रवृत्ति का विजयकाव्य है। इस दृष्टि से, यह वर्णन भ्रमरगीत निवृत्ति पर प्रवृत्ति का विजयकाव्य है। तुलसी ने रामचरितमानस, गीतावली और जानकी-मंगल में निर्गुणोपासक एवं महान् ब्रह्मवादी जनक को राम-रूप से अभिभूत कराकर वस्तुतः सगुणोपासना एवं साकारवाद का विजयगान गाया है। "जीवन सर्वोपरि है"—तुलसी की समूची काव्य-चेतना का यही मूल सूत्र है। उनकी जीवनरस से सराबोर कविता की अद्वितीय लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण उसका परमोत्कट एवं परमोत्कृष्ट जीवनवादी होना है।

जनमानस "सर्वं अनित्यम्" अथवा "सर्वं अनात्मम्" अथवा "निर्वाणं शान्तम्" अथवा "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" इत्यादि में नहीं रम सकता—जो व्यक्ति श्रम करता है, स्वस्थ है, अकुण्ठित है, उसे जीवनरस ही सर्वोपरि लगता है, क्योंकि वही वास्तविक है, नित्यानुभूत है। वह स्याद्वाद में भी नहीं रम सकता, क्योंकि स्याद्वाद वस्तुतः ढुलमुलवाद है। (यों, तत्त्वतः स्याद्वाद तर्कसम्पन्न संधिवाद है।) मरुधर्मों के अनुयायी यहूदी, ईसाई और मुसलमान भाई तक जेरूसलम की रोदित-भित्ति (वेलिंग वॉल) या रोम की ईसा-मूर्ति या मरियम-मूर्ति या मक्का के श्याम-प्रस्तर (संगेअसवद) के आश्रय की स्पृहा करते रहते हैं। अपने को कट्टर निर्गुणवादी कहनेवाले सिख और आर्यसमाजी मित्र भी नानक या गोविन्दसिंह और दयानन्द के चित्रपूजन से आह्लादित होते रहते हैं। संसार का कोई धर्म प्रतिमा अथवा प्रतीक से न तो मुक्त है और न हो ही सकता है—उसके ऐसा होने की कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्य का जीवन बिना रूप, रस और आश्रय के आनंदलाभ नहीं कर सकता।

"विदेह का सदेह राम को देखकर अनुरक्त अथवा विराग-विरक्त होना निर्गुण, निराकार, ज्ञान, योग अथवा निवृत्ति का सगुण, साकार, भक्ति, प्रेम अथवा प्रवृत्ति से अभिभूत होना है। कृष्णकाव्य में ज्ञानी उद्धव प्रेमी गोपिकाओं से अभिभूत हो जाते हैं। ऐसा होना अकारण नहीं है। इसके पीछे "अहं ब्रह्मास्मि" और "न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्" का गम्भीर दर्शन विद्यमान है।"[5]

इन पंक्तियों में विरोधाभास-अलंकार कविता का आभ्यन्तर-उल्लास बन गया है। ऐसे स्थलों को देखकर लगता है कि अलंकार को भावपक्ष में न रखकर कलापक्ष में समाहित करना निर्विवाद नहीं है!

---

4. जानकी-मंगल 46-50
5. देखें 'तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ' का 'जानकी-मंगल' निबंध।

2. वर-वधू-शोभा

रूपरासि जेहि ओर सुभाय निहारइ ।
नीलकमल-सर-स्रेनि मयन जनु डारइ ।।
छिनु सीतहि, छिनु रामहि पुरजन देखहिं ।
रूप, सील, बय, बंस बिसेष बिसेषहिं ।।
राम दीख जब सीय, सीय रघुनायक ।
दोउ तन तकि-तकि मदन सुधारत सायक ।।
प्रेम-प्रमोद परसपर प्रगटत गोपहिं ।
जनु हिरदय गुन-ग्राम-थूनि थिर रोपहिं ।।
राम-सीय बय, समौ सुभाय सुहावन ।
नृप-जोबन छबि-पुरइ चहत जनु आवन ।।
सो छबि जाइ न बरनि, देखि मन मानै ।
सुधापान करि मूक कि स्वाद बखानै ।।[6]

यहाँ मनोहारी शील-संकोच, सम्मोहक यौवन-शोभा, अद्वितीय विवाह-वैभव इत्यादि को उत्प्रेक्षाओं, रूपकों और दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास इत्यादि से संपृक्त कर दिया गया है । क्या आश्चर्य, यदि तुलसी के रामसीता विवाह-वर्णन ने मधुरोपासकों और रसिक-सम्प्रदायों से प्रभावित भावुकों में विवाहोपासकों का एक वर्ग ही खड़ा कर दिया, है भले ही उसका आधार रामचरितमानस हो, जानकी-मंगल नहीं ! ऐसे ही एक प्रभावी और प्रेरक भक्त रामाजी थे । श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी के शब्दों में,"श्री रामाजी के इष्ट दूल्हा राम थे । वे रामायण में विवाह तक ही प्रकरण पढ़ते । उनके राम विवाह करके जनकपुरी में ही घरजमाई बनकर रह गए । उनके राम न कभी वन में गए, न कभी सीता का परित्याग ही हुआ । प्रिया-प्रीतम-दूल्हा-दुलहिन सदा जनकपुर में ही विराजते हैं । उनकी साली-सलहजें उन्हें नित्य लाड़-लड़ाती रहती हैं । वे अपने को श्री रामजी की साली मानकर उन्हें भाँति-भाँति की मीठी-मीठी गालियों से ही रिझाते रहते थे । उनका इष्ट-विवाह प्रकरण ही था । उनके राम सदा 'नौसे बबुआ' ही बने रहते । उनके माथे पर सदा विवाह का मौर और श्री किशोरीजी के माथे पर विवाह की चंद्रिका रखी रहती । उनकी सर्वप्रिय लीला विवाह लीला ही थी । वे किसी भी जाति के दूल्हा को देखते, उसके पीछे लगते, उसमें अपने इष्ट का रूप मानकर भगवत्बुद्धि से

6. **जानकी-मंगल 92-97**

उसकी तब तक सेवा करते रहते जब तक विवाह सम्पन्न हो । कैसी मधुर उपासना है, कैसी सरस भावना है ।"[7] जड़बुद्धिवादी इस अतिभावुकता की आलोचना कर सकता है, किंतु उसे यह न भूलना चाहिए कि सारी धर्मसाधना, कला, कविता इत्यादि का आधार तर्क नहीं है—वह बेचारा किस-किस की आलोचना करेगा ? बुद्ध ने पहले विवाह किया, पिता बने और तब सोती हुई पत्नी को, पुत्र को छोड़कर भाग खड़े हुए—उनके भागने से संसार की कौन-सी समस्या हल हो गई ? ईसा ने बिना मालिक से पूछे गधा पकड़ा और उस पर जेरूसलम जा धमके, जहाँ मन्दिर में उत्पात मचाने के और पूजास्थल के अपमान करने के अपराध में सलीब पर लटका दिए गए—उनके इस सब के करने से कौन-सी समस्या हल हो गई ? फिर भी, कोटि-कोटि मानव बुद्ध और ईसा को पूजते हैं । कारण ? भावना ! अतएव, भावना पर प्रहार व्यर्थ है—विशेषकर तब, जब वह जीवनरस से सराबोर हो, सेवा भावना से ओतप्रोत हो !

रामाजी के उत्तराधिकारी और शिष्य श्री रामशंकरशरण अर्थात् पुजारी जी थे । महंत गंगादास के शब्दों में, उनका "लीलाविहारी युगलस्वरूप में अनन्य भाव था । अतएव उनके उपासना-जीवन में⋯भाव पूरे-के-पूरे घटित हुए । माधुर्य-भाव में श्रीमिथिलाधाम-विवाहलीला की ही प्रधानता है अतः आप चैत्र, वैशाख और ज्येष्ठ मास छोड़कर शेष नव महीनों की प्रत्येक पंचमी को विवाह-उत्सव बड़े धूम-धाम से मनाते थे और उसी लीला में युगल लीलाविहारी की रूपमाधुरी में विभोर रहा करते थे । आपकी सर्वकालीन यही परिचर्या थी । श्री युगलविहारी सरकार से सदा लाड़ लड़ाया करते थे। उसी में परमानन्द सुख की अनुभूति करते हुए उन्होंने तत्सुख में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया—

'सगुन उपासक, परम हित, निरत नीति दृढ़ नेम'

यह गुण आपमें परिपूर्ण था । जो विवाहलीला सदा गाते सुनते हैं, उनमें सदा ही आनंद-उत्साह बना रहता है—

श्री रघुवीर बिवाह, जे सप्रेम गावहिं-सुनहिं ।
तिन कहँ सदा उछाह, मंगलायतन राम जस ।।"[8]

मधुरोपासना की पर्याप्त आलोचना हुई है । फिर, रामाजी या पुजारी जी जैसे विवाहोपासक तो भावुक भक्त थे ! आलोचना कई बार जीवन की लाइलाज बीमारी बन जाती है—26 जनवरी या 15 अगस्त या 2 अक्टूबर के सरकारी

7. श्रीसद्गुरुचरितामृत, पृष्ठ 17-18
8. वही, पृष्ठ 19

जलसों में करोड़ों रुपये फूँकने वाला नेता, प्रगतिशीलता का तमगा लगवाने के लिए विकल होकर, जन्माष्टमी या दीवाली या दशहरा के व्यय पर टूट पड़ता है, जबकि उस-समेत सबको पता है कि सरकारी त्यौहारों में आम जनता की रुचि नहीं होती है और सामाजिक त्योहारों में अत्यधिक होती है, जिनका सारा व्यय वह स्वयं वहन करती है, जिनका व्यय आयकरदाता की जेब नहीं काटता ! नेता तो नाम-दाम-काम बनाने के लिए, आलोचना का स्वाँग करता है, पर उसके छुटभैये अनुयायी स्वाँग को सत्य मानकर बहस-मुबाहिसे तो करते ही हैं, दंगा-फसाद तक करा डालते हैं। पहली जनवरी (नववर्ष दिवस) का नंग-नाच करने वाले शराबी-कवाबी होली के हुड़दंग का रोना रोते नहीं थकते ! अतएव, जनता जीवन रसहीन या पाखण्डपूर्ण या न्यस्तस्वार्थग्रस्त आलोचना को आलू-चना मानकर पचाती रहती है । लाखों लोग इस उपासना से आनंद प्राप्त करते हैं। तुलसी ने विवाह-वर्णन सर्वोपरि उत्साह से किया भी है। रामचरितमानस, कवितावली और गीतावली में यह वर्णन बहुत ही सुंदर रूपों में प्राप्त होता है। इतने पर भी, उनकी तृप्ति नहीं हुई और उन्होंने पृथक रूप से जानकी-मंगल रचा ! इस समग्र महान वर्णन की एक महती विशेषता यह है कि यह अतीव प्रशांत है। इसमें कहीं भी कोई उत्तेजना नहीं है। 'तुलसी का विवाह-दर्शन' पृथक एवं पृथुल निबंध का विषय है। राम को देखकर सारी जनकपुरी की नारियाँ विह्वल, शिथिल और अभिभूत हो जाती हैं। किन्तु उनमें कोई उन्हें अपना पति नहीं बनाना चाहती। वे सब-की-सब राम को सीता का पति ही बनाना चाहती हैं। यह विवाह-दर्शन नूतन एवं गहन अनुसंधान की अपेक्षा रखता है। प्रसिद्ध पत्रकार श्री शैलेन्द्र दिल्ली की जनकपुरी में विवाहलीला का आयोजन कराते रहते हैं। वे 'हिन्दुस्तान' में इस विषय पर लिखते भी रहते हैं। रामचरितमानस के सदृश्य ही, जानकी-मंगल में भी तुलसी में रामसीता विवाह को परम श्रेयस्कर घोषित किया है—

> उपबीत, ब्याह, उछाह जे सियाराममंगल गावहीं।
> तुलसी सकल कल्यान ते नर-नारि अनुदिनु पावहीं ।।[9]

जानकी-मंगल में राम-सीता की शोभा का वर्णन उच्च कोटि का है। अपनी नायिका एवं अपने नायक के अद्वितीय एवं अनिन्द्य सौन्दर्य की प्रशस्ति में हिन्दी-साहित्य के इतिहास "पिंगल के सर्वोत्कृष्ट आचार्य"[10] कविराज सुखदेव मिश्र की कुछ पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं—

---

9. जानकी-मंगल 216/3-4
10. मिश्रबंधु-विनोद, पृष्ठ 289

हाथहि ए छबि मैलिए होति, बिरंचि मनो मन ही सो बनाई।···[11]

निस्संदेह, कविराज सुखदेव मिश्र की यह उद्भावना उत्तमोत्तम है, विश्व-स्तरीय है। उपर्युक्त छवि नायिका की है। नायक पर भी उन्होंने ऐसी ही उत्तमोत्तम एवं विश्वस्तरीय सर्जना की है—

काहू के होत हैं नैनई नीके औ काहू के आनन ही में निकाई।
काहू की होति चितौनिये नीकी औ काहू की चाल ही में चतुराई॥
और बिरंचि है कोऊ कहूँ जो मनोहर मूरति ऐसी बनाई।
नागर नंद लड़ाइते के नख ते शिख लौं सब सुंदरताई।।[12]

तुलसी ने "राम-सीता की युग्म-कल्पना में विह्वल नर-नारियों का सुंदर चित्रण करने में सफलता प्राप्त की है।···राम-सीता के दर्शनों में खोए लोगों की मंत्रमुग्धता का यहाँ दृष्टांत सम्पन्न वर्णन मानस के 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी' जैसे विश्व-काव्य में प्रथम श्रेणी के शब्दों की सर्वथा उचित स्मृति कराता है। ऐसे उद्गार अपने ढंग से, कबीर ने भी प्रकट किए हैं—

अकथ कहानी प्रेम की किछू कही न जाई।
गूँगे केरी सरकरा बैठी मुसुकाई॥

और दादू ने भी 'गूँगे का गुड़' खाकर सबके 'हैरान' होने की बात कही है। किंतु वहाँ, सूर के शब्दों में, 'रूप, रेख, गुन जाति, जुगति बिनु निरालम्ब मन चक्रत धावै'! यहाँ जो व्यक्त बिम्ब विद्यमान है, वह वहाँ सम्भव नहीं। क्या आश्चर्य इस साकार शोभा ने निराकार की कल्पना का प्रभाव अत्यंत सीमित कर दिया!"[13]

तुलसी का जानकी-मंगल उनकी सृजनशक्ति का एक उल्लेख्य प्रतीक है। इसके सृजन की प्रेरणा उन्हें अपने अंतःकरण से ही प्राप्त हुई थी। वे उन कवियों में न थे, जिनकी भर्त्सना ठाकुर (बुन्देलखण्डी) ने इन शब्दों में की है—

सीखि लीनो मीन, मृग, खंजन, कमल नैन,
सीखि लीनो जस औ प्रताप को कहानो है।

---

11. सुखदेव-सौरभ, रसार्णव 149/1-2 (सं० प्रिंसिपल डॉ० दुर्गाशंकर मिश्र)
12. वही, 148
13. देखें, तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ, का 'जानकी-मंगल' निबंध।

सीखि लीनो कल्पबृक्ष, कामधेनु, चिंतामनि,
सीखि लीनो मेर औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहुँ बाँधियत बानो हैं।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कबित्त कीबो खेलि करि जानो हैं ।।[14]

14. घनआनन्द (ग्रंथावली) सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृष्ठ 12

बरवै-रामायण

बरवै रामायण तुलसी के रुचि-वैविध्य का प्रतीक अलंकृत-काव्य है, जिसमें कुल 69 बरवै छंद हैं। समय-समय पर स्वतंत्र-स्वच्छंद रूप में रचे गए इन बरवै छंदों के मूलतः दो संकलन प्राप्त होते हैं, जिनकी छंदसंख्या एक ही है, किंतु बालकाण्ड के 19 छंदों के प्रस्तुतीकरण में अंतर है। बाबू बैजनाथ की टीका वाले प्रस्तुतीकरण[1] में सीता का सौन्दर्य-वर्णन इत्यादि पहले है, राम का शैशव वर्णन बाद में। श्री वंदन पाठक की टीका वाले प्रस्तुतीकरण[2] में राम का शैशव-वर्णन पहले है, सीता का सौन्दर्य-वर्णन इत्यादि बाद में। यद्यपि काशी नागरी प्रचारिणी सभा के व्यापक प्रभाव के कारण बाबू बैजनाथ द्वारा प्रस्तुत पाठ अधिक प्रचलित हो गया है, तथापि गीता प्रेस से प्रकाशित श्री वंदन पाठक द्वारा प्रस्तुत पाठ अधिक युक्तियुक्त है। तथाकथित बाबा वेणी माधवदास कृत तथाकथित गोसाईं चरित के अनुसार, तुलसी को अपने प्रिय मित्र नवाब अब्दुर्रहीम खानेखाँना (जो रहीम के नाम से प्रसिद्ध हैं) के द्वारा बरवै-नायिका भेद काव्य दिखाने पर बरवै-रामायण (जो एक स्वतन्त्र, सुन्दर एवं मौलिक कलाकृति है) के सृजन का स्फुरण प्राप्त हुआ था।[3] बरवै-रामायण, गीतावली के उत्तरकाण्ड के सदृश तुलसी पर अलंकृतकाल या रीतिकाल या कलाकाल या शृंगारकाल या शास्त्रीयकाल के स्वाभाविक पूर्वप्रभाव की सूचना देने वाला काव्य है। इसकी उत्कृष्ट कविता अलंकृत तो है ही, शृंगारिक भी है। अतएव, इसका एक विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व भी है। इसका नाम सम्भवतः कड़खा-रामायण, कुंडलिया-रामायण, छप्पय-रामायण, झूलना-रामायण, रोला-रामायण इत्यादि तुलसीकृत कही जाने वाली अप्रामाणिक रचनाओं का प्रेरक रहा है।

सीता का अलंकृत सौन्दर्य-चित्रण बरवै-रामायण का सर्वोपरि धन है। सीता के विरह का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन इसकी एक अन्य विशेषता है। उत्तरकाण्ड का

---

1. तुलसी-ग्रंथावली (दूसरा खण्ड) में।
2. बरवै-रामायण (गीता प्रेस, टीकाकार श्री सुदर्शनसिंह) पृष्ठ 23
3. तुलसी-काव्य-मीमांसा (डॉ० उदयभानुसिंह) पृष्ठ 23

भक्तिभाव सहज तुलसीरस की निष्पत्ति करता है। एक छंद, जो कबीर की उलट बाँसियों या सूर्य के दृष्टकूटों का स्मरण कराता है, चमत्कार-काव्य के अंतर्गत आएगा—

वेद नाम कहि, अँगुरिन खंडि अकास।
पठयो सूपनखाहि लखन के पास।।[4]

इसमें 'श्रुति (कान) और 'आकाश' (स्वर्ग या 'नाक') के क्लिष्ट प्रयोग प्राप्त होते हैं, जो विश्वकवि की कविता-क्रीड़ा के सूचक हैं। अन्यत्र भी, व्याज-स्तुति अलंकार का चमत्कारपूर्ण प्रयोग प्राप्त होता है—

कुजनपाल, गुनबर्जित, अकुल, अनाथ।
कहहु कृपानिधि ! राउर कस गुणगाथ।।[5]

बरवै-रामायण के बालकाण्ड में 19, अयोध्याकाण्ड में 8, अरण्यकाण्ड में 6, किष्किन्धाकाण्ड में 2, सुन्दरकाण्ड में 6, लंकाकाण्ड में1 और उत्तरकाण्ड में 27 छंद है। यह एक सम्पूर्णत: मुक्तककाव्य है, जिसकी भाषा उच्चकोटि की साहित्यिक अवधी है।

1. अलंकृत सौन्दर्य

केस मुकुत सखि ! मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत।।
सम सुबरन सुखमाकर, सुखद न थोर।
सीय-अंग सखि ! कोमल, कनक कठोर।।
सियमुख सरदकमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसिदिन यह बिगसाइ।।
चंपकहरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय-हियरें जब कुँभिलाइ।।

---

4. बरवै-रामायण 3/1
5. वही, 4/2

सिय ! तुव अंग-रंग मिलि अधिक उदोत ।
हार-बेल पहिरावौं चंपक होत ।।···
का घूंघट मुख मूदहु नबला नारि !
चांद सरग पर सोहत यहि अनुहारि ।।[6]

उपर्युक्त बरवै छंद सौन्दर्य का अलंकृत किन्तु काव्यरससम्पन्न वर्णन प्रस्तुत करते हैं । सीता के घने और काले केशों में (मुक्ताभरण के) मोती पन्ने लगने लगते हैं किंतु यदि (संदेहनिवारणार्थ !) हाथ में लेकर देखे जाएँ तो फिर मोती-के-मोती हो जाते हैं । इस सुंदर छंद में तद्गुण और पूर्वरूप अलंकारों का सफल प्रयोग प्राप्त होता है । सीता का वर्ण स्वर्णवत् जाज्वल्यमान् और अपार-सुखद तो है, किन्तु कठोर स्वर्ण में सीता की कोमलता कहाँ ? यहाँ व्यतिरेक अलंकार है, क्योंकि उपमेय को उपमान से (सकारण) श्रेष्ठतर सिद्ध किया गया है । शरद-कमल को सीतामुख के सदृश्य कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि वह रात्रि में मलिन हो जाता है, जबकि यह दिन-रात विकसित रहता है ? यहाँ भी व्यतिरेक अलंकार है । चम्पकहार सीता के अंग से मिलकर 'अधिक' शोभायमान होता है—इसमें सीता के अंग की श्रेष्ठतरता के कारण प्रतीक अलंकार माना जा सकता है, किंतु यदि 'अधिक' का अर्थ केवलमात्र बहुत लिया जाए, अधिकतर नहीं, तो एक पंक्ति में मीलित अलंकार की ध्वनि आती है, यद्यपि मुरझाने पर उसके पृथक् अस्तित्व के कारण पूरे छंद में उन्मीलित अलंकार ही, निर्विवाद रूप से, सिद्ध होता है । वेला का हार सीता के शरीर पर चम्पा का हार बन जाता है ! यहाँ तद्गुण अलंकार का सुंदर प्रयोग प्राप्त होता है । "हे नवला नारी ! हे मुग्धे ! घूँघट से मुँह क्यों छिपाती हो ? आकाश का चंद्रमा भी तो ऐसा ही है ! उसे तो सब देखते ही हैं ! तब तुम घूँघट से मुँह छिपाने पर भी अनदेखी कहाँ रह जाती हो ?" इस छंद में व्याजस्तुति की ध्वनि भी आती है, प्रतीप की भी । "इस मुख जैसा ही" के सदृश प्रयोग प्रतीप में भी किए जाते हैं । व्याजस्तुति यों है "तुम्हारा मुख कोई बहुत विस्मयकारक नहीं, क्योंकि चंद्रमा भी तो ऐसा ही है, जिससे सब परिचित हैं !"

तुलसी के ऐसे अलंकृत प्रयोगों का रीतिकालीन कवियों पर प्रभाव विवेचित किया जा सकता है ।

6. बरवै-रामायण 1/9-13, 16

श्रीकृष्णगीतावली

श्रीकृष्णगीतावती 61 पदों का एक छोटा-सा गीतिकाव्य है, जिसमें 23 पद बाललीला के हैं, 9 कृष्ण के प्रवास पर गोपीविरह के, 27 भ्रमरगीत के, 2 द्रौपदी-चीर विस्तार के। भ्रमरगीत श्रीकृष्णगीतावली का प्रधान वर्ण्यविषय है, जो गुणगत दृष्टि से भी सर्वोपरि है, परिमाणगत दृष्टि से भी। कवितावली में भी भ्रमरगीत-परम्परा के तीन छंद (दो सवैये और एक कविता) प्राप्त होते हैं।[1] स्पष्ट है कि निर्गुण पर सगुण, निराकार पर साकार, ज्ञान पर भक्ति और योग पर प्रेम को वरीयता प्रदान करनेवाला भ्रमरगीत-दर्शन तुलसी को बहुत प्रिय है। इस विशिष्ट भ्रमरगीत-दर्शन के आदिकवि सूर हैं, जिनका भ्रमरगीत समग्र भ्रमरगीत-परम्परा में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वस्फीत है। यों, भ्रमरगीत-परम्परा का प्रस्थानग्रन्थ भागवत[2] है, किन्तु उसमें कोई दार्शनिक उद्देश्य नहीं दृष्टिगोचर होता, क्योंकि उसके सृजन के समय निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार, ज्ञान-भक्ति, योग-प्रेम इत्यादि में विवाद की वह विषम परिस्थिति विद्यमान न थी जो इस्लाम के प्रभाव के कारण सूर, तुलसी, नंददास इत्यादि के समय में प्रचण्ड रूप ग्रहण कर चुकी थी। श्रीकृष्णगीतावती पर सूरसागर की छाप आद्यन्त व्याप्त है। इसके अनेक पद सूरसागर से ले लिए गए हैं, किंतु इनमें नाम तुलसीदास का लिख दिया गया है, जो इस तथ्य की स्पष्ट सूचना देता है कि तुलसी ने सम्भवत: वृन्दावन इत्यादि की यात्रा के अवसर पर, अथवा उससे प्रेरित हो कालांतर में, कुछ कृष्णपरक पद रचे थे, जिनकी संख्या को बढ़ाकर उनके भक्तों ने एक नई पुस्तक ही खड़ी कर दी।

श्रीकृष्णगीतावली आसावरी, कान्हरा, केदारा, गौरी, घनाश्री, नट, बिलावल, मलार, ललित और सोरठ रागों में निबद्ध है।[3] गीतिकाव्य की दृष्टि

---

1. कवितावली, उत्तरकाण्ड 133-135
2. श्रीमद्भागवतमहापुराण, दशम स्कंध, अध्याय 47
3. श्रीकृष्णगीतावली (गीता प्रेस, टीकाकार हनुमान प्रसाद पोद्दार) पृष्ठ 6

से गीतावली और विनयपत्रिका के साथ-साथ श्रीकृष्णगीतावली तुलसी की तीसरी रचना है। इन गीतिकाव्यों के कारण हिन्दी-गीतकाव्य के इतिहास में विद्यापति, मीराँ, सूर इत्यादि के साथ-साथ तुलसी का भी एक सुनिश्चित स्थान बन चुका है।

श्रीकृष्णगीतावली तुलसी की महान् समन्वय-साधना की एक उज्वल प्रतीक है। पार्वती-मंगल इस दिशा की कृति है। विनयपत्रिका के अनेक पदों में भी तुलसी ने कृष्ण का सम्पूर्ण भक्तिभावना के साथ उल्लेख किया है। अतएव, "तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष-बाण लो हाथ" से सम्बद्ध साम्प्रदायिक, संकीर्ण एवं अप्रमाणिक कथा निराधार सिद्ध होती है। इस दोहे की भाषा-शैली भी तुलसी की नहीं है। तीसरे, यह प्रक्षिप्त भी है, क्योंकि तुलसी की किसी भी कृति में नहीं प्राप्त होता।

1. भ्रमरगीत

ऊधो! या ब्रज की दसा बिचारो।
ता पाछे यह सिद्ध अपनी, जोग कथा बिस्तारौ॥
जा कारन पठए तुम माधव, सो सोचहु मन माहीं।
केतिक बीच बिरह-परमारथ, जानत हौ किधौं नाहीं॥
परम चतुर, निज दास स्याम के, संतत निकट रहत हौ।
जब बूड़त अवलम्ब फेन कौ फिरि-फिर कहा कहत हौ॥
वह अतिललित, मनोहर आनन कौने जतन बिसारौं।
जोग-जुगुति अरु मुकुति बिबिध बिधि वा मुरली पर वारौं॥
जेहि उर बसत स्यामसुंदरघन, तेहि निर्गुण कस आवै।
तुलसिदास सो भजन बहावौ जाहि दूसरो भावै॥[4]

साधना वही वरेण्य है, जो व्यावहारिक हो। निर्गुण-साधना अथवा योग-साधना अधिक व्यावहारिक नहीं है, विशेषतः उसके लिए जो सगुण-साधना अथवा प्रेम-साधना में रस गया हो। इसीलिए, गोपिकाएं सर्वप्रथम उद्धव से ब्रज की परिस्थिति एवं परिवेश के आकलन एवं पर्यवेक्षण का आग्रह करती हैं। विरह और परमार्थ (मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, परमपद) के बीच कितनी अधिक दूरी है? इस प्रश्न पर विचार का आग्रह करती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से, किसी

4. श्रीकृष्णगीतावली 33

विरहिणी को अद्वैतवाद के आधार पर विरहविरत करने का यत्न क्या माना जाएगा ?" तुम्हारा प्रियतम तुम में है, तुम प्रियतम में हो—फिर, विरह कैसा ? यह अज्ञान है, मोह है, भ्रम है !" यह प्रश्न और उपदेश सचमुच विचित्र होगा ! विरहिणी का अवलम्बन उसका प्रियतम ही हो सकता है, निर्गुण-निराकार, अज-अनंत, निरंग-निरंजन, अकाल-अबाध परब्रह्म नहीं! जो अतिशय ललित, मनोहर-मनोरम आकार नयनों में बसा है, वह भुलाया कैसे जा सकता है ? उस नटवर की वेणु पर योग-युक्तियों और मुक्ति को निछावर किया जा सकता है ! एक हृदय में एक मोहन ही रह सकते हैं,[5] उसमें निर्गुण-निराकार ब्रह्म कैसे प्रवेश पा सकता है ?[6] स्थान ही कहाँ है ?[7] उस साधना को दूर ले जाओ, बहा दो, फेंक दो, जो दूसरों की ओर आकृष्ट होती हो !

प्रस्तुत उत्कृष्ट पद में एक आदर्श भ्रमरगीत के निर्गुण पर सगुण, निराकार पर साकार, ज्ञान पर भक्ति तथा योग पर प्रेम को वरीयता प्रदान करने का मूल दार्शनिक उद्देश्य के सफलतापूर्वक व्यंजित हुआ ही है, विरहकाव्य की रस राजनिष्पत्ति भी सफलतापूर्वक की गई है, उपालम्भकाव्य के उद्धवमूलक तत्त्व की प्रस्तुति भी प्राप्त होती है, व्यावहारिकता एवं एकनिष्ठा का निर्वाह भी किया गया है, कलातत्त्व की संरक्षा के दर्शन भी होते हैं। भ्रमरगीत निवृत्ति पर प्रवृत्ति का विजयकाव्य है—यह पद इस सत्य का सम्यक् उद्‌घाटन करने में पूर्णतः सफल है। अतएव, इसमें एक आदर्श एवं उत्तम भ्रमरगीत की समग्र प्रवृत्तियों के दर्शन किए जा सकते हैं।

---

5. ऊधौ, मन न भए दस-बीस।
   एक हुतो सो गयो स्याम सँग, को अवराधै ईस ॥
   (सूरदास)
6. उर में माखुनचोर गड़े।
   अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधो ! तिरछे ह्वै जु अड़े ॥
   (सूरदास)
7. रहैं क्यों एक म्यान असि दोय ?
   जिन नैनन्ह महँ हरिरस छायो तिन्ह क्यों भावै कोय ॥
   (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

रामललानहछू

रामललानहछू बीस सोहर चतुष्पदों का छोटा-सा मुक्तक लोककाव्य है, जो तुलसी के जनकवि होने को प्रमाणित करता है। यह काव्य पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल की जाति का मंगलकाव्य ही है, यद्यपि खण्डकाव्य नहीं। मिश्रबंधु इसे प्रामाणिक नहीं मानते और 'कल्पित' कृति घोषित करते हैं।[1] किन्तु वेणी-माधवदास, वंदन पाठक, महादेव प्रसाद, रामगुलाम द्विवेदी, कोदोराम, रामचंद्र शुक्ल इत्यादि विद्वान् इसे तुलसीकृत मानते हैं।[2] रामचंद्र शुक्ल, ब्रजरत्नदास और भगवानदीन 'दीन' द्वारा सम्पादित तुलसी-ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड) में इसे स्थान प्रदान किया गया है। मेरे मन से रामललानहछू तुलसीकृत तो है ही, वह विश्वकवि को जनकवि का गौरव प्रदान करने में सहायक भी है।[3] श्री सद्गुरु-शरण अवस्थी ने इसे बहुत युक्तिपूर्वक तुलसीकृत सिद्ध किया है।[4] तुलसी ने सबके लिए रामचरितमानस रचा, योगियों और मनीषियों के लिए विनयपत्रिका रची, काव्यरसिकों के लिए कवितावली रची, संगीतप्रेमियों के लिए गीतावली रची, नीतिमर्मियों के लिए दोहावली रची, उत्सवप्रेमियों के लिए जानकी-मंगल रचा, अलंकारप्रेमियों के लिए बरवै-रामायण रची, विरक्तों के लिए वैराग्य-संदीपिनी रची, शकुनप्रेमियों के लिए रामाज्ञा प्रश्न रचा और नारीजाति के लिए रामललानहछू रचा—इस प्रकार, उन्होंने रामकाव्य को सार्वभौम रूप प्रदान कर दिया, जो अपने आयामों की अतुलनीयता के कारण 'न भूतो, न भविष्यति' कहलाए बिना नहीं मानता।

रामललानहछू के वर्ण्यमूल पर भी मतभेद है। रामगुलाम द्विवेदी के अनुसार यह राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के यज्ञोपवीत[5] के समय का है, किन्तु इसमें

1. हिन्दी-नवरत्न, पृष्ठ 66-67
2. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 362-71
3. देखें 'तुलसी के अध्ययन की नई दिशाओं का 'रामललानहछू' निबंध।
4. 'तुलसी के चार दल' के नहछू पर निबंध में।
5. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 373

प्राप्त 'दूलह' के आधार पर इसे विवाह[6] के समय का भी माना जा सकता है। अब प्रश्न उठता है कि विवाह जनकपुर में हुआ था और इस काव्य में 'अवधपुर' का उल्लेख है, दशरथ के उल्लेख हैं, कौशल्या इत्यादि के उल्लेख हैं? इसे कर्ण-वेध[7] के समय का मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि 'दूलह' शब्द स्पष्टतः अंकित है। वस्तुतः तुलसीदास ने रामललानहछू की रचना कर्णवेध, यज्ञोपवीत, विवाह इत्यादि सभी मांगलिक उत्सवों को ध्यान में रखकर की है। यह काव्य वस्तुपरक न होकर, उत्सवपरक है। डॉ०रामप्रसाद वर्मा ने यह वाक्य एकदम ठीक लिखा है, "इसमें कथा की सत्यता पर न जाकर प्रथा की सत्यता पर जाना चाहिए, राम का नहछू तो एक बहाना मात्र है।"[8] तुलसी संस्कारों और उत्सवों के कवि हैं—जीवन रस से सराबोर कविता के स्रष्टा। अनेक संस्कारों में नाइनें शिशु या बालक या युवक के पैरों के नाखूनों पर अपनी नहरनी फिराती हैं। अवध के आसपास (उत्तर प्रदेश, बिहार आदि में) यह प्रथा विशेष प्रचलित है। अतएव, इसकी सुंदर अवधी भी सर्वथा सार्थक है।

1. राम की संस्कार-शोभा

आजु अवधपुर आनंद, नहछू राम क हो।
चलहु नयन भरि देखिय सोभाधाम क हो॥
अति बड़ भाग नउनियाँ छुऐ नख हाथ सों हो।
नैनन्ह करति गुमान तौ श्रीरघुनाथ सों हो॥
जो पगु नाउनि धोवइ, राम धोवावहिं हो।
सो पगधूरि सिद्ध, मुनि दरस न पावहिं हो॥
अतिसय पुहुप क माल राम-उर सोहइ हो।
तिरछी चितवनि आनंद मुनि सुख जोहइ हो॥
नख काटत मुसुकाहिं, बरनि नहिं जातहि हो।
पदुमरागमणि मानहुँ कोमल गातहि हो॥
जावक रचि क अंगुरियन्ह मृदुल सुठारी हो।
प्रभु कर चरन पछालत अति सुकुमारी॥[9]

6. रामललानहछू, छंद 2,13,20
7. तुलसी-ग्रंथावली (दूसरा खंड) पृष्ठ 2
8. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ, 373
9. रामललानहछू 13-15

उपर्युक्त पंक्तियों में तुलसीरस के चार अमृतबिन्दु प्राप्त होते हैं—जीवन के ऊभचूभ आनन्दोत्सवों इत्यादि में गहन रुचि, राम का रूप, राम की सज्जा, भक्तिभावना, भक्तिरस तुलसीरस का पर्याय है, जिसे रामरस भी कहा जा सकता है। तुलसी ने दसों रसों को भक्तिरस अथवा रामरस के अंगों के रूपों में प्रस्तुत किया है—उनका अंगीरस भक्तिरस अथवा रामरस ही है।

उपर्युक्त पंक्तियाँ तुलसी-काव्य की मूल प्रकृति के सारे प्रधान तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करती हैं। ऐसी स्थिति में, रामललानहछू को तुलसीकृत न मानना न्यायसंगत नहीं लग सकता। केवल अहीरिन, नाइन इत्यादि के अंगोल्लेख और दशरथ द्वारा उनमें रुचि लेने के वर्णन के आधारों पर रामललानहछू को तुलसी-साहित्य से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। यदि तुलसी ने एकाध स्थल पर सामान्य मनोविज्ञान का सम्मान कर दिया, तो इससे उनकी जीवन की समग्रता के प्रति रुचि ही विवृत होती है। अत्यधिक आदर्शवादी दृष्टि से काव्य अथवा कला का अवलोकन-अनुशीलन तलस्पर्शी नहीं होता। वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपीयर प्रभृति विश्वकवियों ने रामायण के अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दर काण्ड में, रघुवंशम्, कुमारसम्भवम्, मेघदूतम् में, 'वीनस ऐंड एडोनिस' में जिस उल्लंग मांसलता का चित्रण किया है, उसके देखते हुए तुलसी का अहीरिन इत्यादि का वर्णन कुछ भी नहीं है। सम्भवतः इस प्रवृति को देखते हुए ही संस्कृत के आचार्य ने "क्वचित् अश्लीले गुणे"[10] की स्थापना की थी।

10. मम्मट 'काव्यप्रकाश' में।

वैराग्य-संदीपिनी

वैराग्य-संदीपिनी "दोहे-चौपाइयों में छोटी-सी रचना है। तीन प्रकाशों में सन्त-स्वभाव, सन्त-महिमा तथा शान्ति का वर्णन किया है। इसमें कुल 62 छन्द हैं।"[1] इन 62 छन्दों में 2 सोरठे भी हैं।[2] वैराग्य-संदीपिनी, जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, एक निर्वेदकाव्य है। डॉ० श्यामसुन्दरदास इसका रचनाकाल (1640 वि०) से पूर्व 1636-39 वि० के मध्य मानते हैं।[3] पण्डित रामनरेश त्रिपाठी इसे तुलसी की प्रथम कृति मानते हुए रचनाकाल (1620 वि०) बताते हैं।[4] वैराग्य-संदीपिनी की सरलता, कलान्यूनता, अतिशय-प्रभावग्रहणता इत्यादि के आधार पर इसे तुलसी की प्रथम अथवा आरम्भिक कृति मानना ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इसे रामचरित मानस (1631 वि०) की परवर्ती कृति मानना विश्व-कवि के कलाविकास के साथ अन्याय करना होगा। 'तुलसी-दर्शन-मीमांसा' तथा 'तुलसी-काव्य-मीमांसा' के अनुसंधानकुशल और अध्यवसायी लेखक डॉ० उदय भानु सिंह ने इसका रचनाकाल 1626-27 वि० के लगभग माना है, इसे कवि की आरम्भिक कृति माना है, जो युक्तियुक्त प्रतीत होता है।[5] डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने वैराग्य-संदीपिनी को तुलसीकृत नहीं माना।[6] किन्तु, "वैराग्य-संदीपिनी को तुलसीकृत मानने का मुख्य आधार यह है कि परम्परा ने उसके कर्तृत्व के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया। रामायणी पण्डितों और टीकाकारों में श्री वंदन पाठक, पण्डित रामगुलाम द्विवेदी, श्री बैजनाथदास, पण्डित महादेव प्रसाद श्री कोदोराम, महात्मा अंजनीनंदनशरण, पण्डित श्रीकान्तशरण आदि ने एक

---

1. तुलसी-ग्रन्थावली (दूसरा खंड) पृष्ठ 2
2. वैराग्य-संदीपिनी 4, 34
3. गोस्वामी तुलसीदास पृ० 79
4. तुलसीदास और उनका काव्य, पृष्ठ 223
5. तुलसी-काव्य-मीमांसा, पृष्ठ 82
6. तुलसीदास, पृष्ठ 134

स्वर से तुलसी को उसका रचयिता माना है। हिन्दी-साहित्य के आलोचकों (मिश्र बंधु, बाबू शिवनन्दनसहाय, बाबू श्यामसुन्दरदास, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, डॉ० रामकुमार वर्मा, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि) के मतानुसार भी वह तुलसी की रचना है।"[7] डॉ० उदयभानुसिंह ने तर्कसंगत रूप में इसे तुलसीकृत सिद्ध किया है।[8] "आरम्भिक एवं लघु कृति होते हुए भी वैराग्य-संदीपिनी तुलसी रस से सम्पन्न है। अनुप्रास, यथासंख्य, दृष्टान्त, रूपक आदि अलंकारों के प्रयोग इसे शुष्क उपदेश ग्रन्थ नहीं बनने देते। तुलसीदास रूपक के सम्राट हैं। सांग, निरंग परम्परित सभी रूपकों की जितनी और जैसी सृष्टि उन्होंने की है, उतनी और वैसी हिन्दी-साहित्य में तो किसी ने की ही नहीं, विश्व भर में किसी ने नहीं की। वैराग्य-संदीपिनी का भी प्रमुख अलंकार रूपक है।"[9]

1. जाति नहीं भक्ति महान् है

तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैनि-दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम।।
अति ऊँचे भूधरनि पर भुजगन के अस्थान।
तुलसी अति नीचे सुखद ऊख, अन्न अरु पान।।[10]

उपर्युक्त दोहे तुलसी के विशद मानववाद के जाज्वल्यमान् प्रतीक हैं। एकाध अर्द्धाली के आधार पर तुलसी को शूद्रविरोधी कहनेवाले व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि तुलसी ने ब्राह्मणों की आलोचना सबसे अधिक की है। तुलसी मानव मूल्यों के प्रतिष्ठापक हैं और इस दृष्टि से यथास्थान अथवा संदर्भाग्रहवश अनेक वर्गों की आलोचना करते चलते हैं। किसी वर्गविशेष का विरोध उनका लक्ष्य नहीं। यदि कोई कहे कि उन्होंने ब्राह्मण-प्रशंसा की है, तो उत्तर में निवेदन है कि उन्होंने शूद्र प्रशंसा भी की है। उपर्युक्त पंक्तियाँ इसकी प्रमाण हैं। यदि तुलसी कठोर और कट्टर ब्राह्मणवादी होतेतो वे राम, कृष्ण, बुद्ध इत्यादि की स्तुति न करते,क्योंकि ये क्षत्रिय थे। कठोर और कट्टर ब्राह्मणों ने तुलसी को, सम्भवतः उनकी ब्राह्मण परशुराम की अवहेलना

7. तुलसी-काव्य-मीमांसा, पृष्ठ 76
8. वही, पृष्ठ 77-81
9. देखें 'तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ में वैराग्य संदीपिनी' निबन्ध।
10. वैराग्य-संदीपिनी 38-39

और क्षत्रिय राम की अत्यधिक स्तुति के कारण ही, बहुत सताया था—सारे पुराने जीवनवृत्त इस तथ्य के साक्षी हैं। ऐसे ब्राह्मणों ने रामचारितमानस की प्रति की चोरी तक का प्रबंध किया था। जबकि डोम (आज की भाषा में हरिजन) नाभा-दास ने उनकी स्तुति की थी, उनको कलियुग का वाल्मीकि घोषित किया था। जो वाल्मीकि का वास्तविक भक्त है, उसे तुलसी का भक्त अवश्य होना चाहिए ! तुलसी ने लक्ष्यपूर्वक किसी का प्रत्याख्यान नहीं किया। स्फीत वाङ्मय में प्रसंगवश या युगप्रभाववश कुछ आलोच्य पंक्तियों को उनका जीवनदर्शन अथवा प्रतिपादन मानना युक्तियुक्त नहीं, न्यायसंगत नहीं। हरिजनों में उनकी लोकप्रियता नाभा दास से जगजीवनराम तक सतत जीवंत रही है। रहीम जैसे मुसलमानों और ग्रियर्सन जैसे ईसाइयों ने उनकी स्तुति की है। अतएव,तुलसीदास को धर्म या जाति के कटघरों में नहीं खड़ा किया जा सकता। वे महात्मा थे और महात्मा सबका होता है। वे सबके थे, हैं, रहेंगे। जहाँ तक ब्राह्मण-प्रशंसा का सम्बन्ध है, वह सबसे अधिक अमीर खुसरो[11] ने की है; जयशंकर प्रसाद[12] का नाम भी इस दिशा में अग्रगण्य है। अतएव, राजनीति से प्रेरित तुलसी की जातिवादी आलोचना निरा-धार एवं तर्करहित है, विभाजक एवं घातक है। तुलसी मानववादी थे, जातिवादी नहीं थे,वे मानववादी थे ब्राह्मणत्ववादी नहीं। मानववाद अथवा मानवतावाद उन्हें उत्तराधिकारमें मिला था। ऋग्वेद के शूद्र ऋषि ऊर्ध्वग्रावा और ज्ञानश्रुति,उपनिषद् के ब्रह्मविद्या धिकारी सत्यकामजाबाल, रामायण के गुह इत्यादि, महाभारत के विदुर इत्यादि इस तथ्य के प्रतीक हैं कि प्राचीन वर्णव्यवस्था में अस्पृश्यता का दोष नहीं था। वाल्मीकि, श्वपच, चंद्रगुप्त मौर्य, अशोक, रैदास, नाभादास इत्यादि इस तथ्य के कुछ अन्य प्रतीक हैं। अस्पृश्यता परवर्ती विकार है मैंने 1972 ई० में प्रकाशित अपने 'हिन्दूधर्म' ग्रथ में "हिन्दू वह है, जो अपने को हिन्दू माने" की परिभाषा के साथ यह आग्रह किया था कि हिन्दूजाति को अपने किसी विराट् एवं मान्य सम्मेलन में, धर्मधुरंधरों की प्रेरणा एवं आशीर्वाद के साथ, यह घोषणा कर देनी चाहिए कि अस्पृश्यता को हिन्दूधर्म में कोई स्थान नहीं है। हर्ष है कि विश्व हिन्दू परिषद् के 1979 ई० के प्रयाग सम्मेलन में ऐसी घोषणा की जा चुकी है !

तुलसी ने भयावह उच्चता पर उपयोगी निम्नता को वरीयता प्रदान की है और ऐसे सुन्दर दृष्टान्त के साथ की है, जैसा सुन्दर दृष्टांत कबीर में भी दुर्लभ है। अतएव, तुलसी की महान प्रतिभा के किसी पक्ष पर जो पर्यालोचन हो, वह एकांगी न होकर सर्वांगपूर्ण होना चाहिए—केवलमात्र रामचरितमानस अथवा

11. 'नुह सिपेहर' (नौ अध्याय) में।
12. 'चंद्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' नाटकों में।

उसकी भी किसी पंक्ति पर आधृत न होकर, उनके समग्र सृजन पर आधृत होना चाहिए। बुद्ध के प्रधान शिष्यों (पंचवर्गीय भिक्षु, सारिपुत्र, मौदगल्यायन) में कोई शूद्र न था, प्रायः सब ब्राह्मण थे, और उन्होंने ब्राह्मणों की प्रशस्ति भी की है—तो इससे बुद्ध शूद्र विरोधी नहीं कहे जा सकते। तुलसी ने कहीं युगप्रभाववश या प्रतिक्रियावश या संदर्भवश कुछ ऐसा लिखा दिया, जिसे शूद्रानुकूल अथवा नारी-अनुकूल नहीं माना जा सकता, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वे इनके शत्रु थे ! [13]

---

13. हिंदी-ऋग्वेद (पण्डित रामगोविन्द त्रिवेदी की भूमिका में)

रामाज्ञा-प्रश्न

"साहित्यिक दृष्टि से रामाज्ञा-प्रश्न तुलसीदास की सामान्यतम कृति है। इसका अध्ययन करते समय लगता है कि यह तुलसी की कृति है ही नहीं। किंतु जब इसके आद्यंत-व्याप्त तुलसीरस (रामरस) पर ध्यान जाता है तब इसे तुलसी-कृत मानने की इच्छा उठने लगती है। सारी रचना दोहों में है। कृति अतिलघु नहीं है। आरम्भ के दो तथा सात-सात सप्तकों के सात सर्ग मिलकर कुल तीन सौ-पैंतालीस दोहों की यह कृति रामललानहछू और वैराग्य-संदीपिनी की तुलना में बड़ी ही है।"[1] रामाज्ञा-प्रश्न शकुनकाव्य है और तुलसी की व्यापकतम अभि-रुचि का एक द्योतक माना जा सकता है। इस कृति से बहुज्ञ तुलसी का ज्योतिष-ज्ञान स्पष्ट होता है, जो हिन्दी के महाकवियों में निर्विवाद रूप से सर्वोपरि है। अन्धविश्वास मानव-मनोविज्ञान का एक अंग है। तुलसी ने रामभक्ति के प्रचारार्थ इसे भी एक उपादान-रूप बना लिया—किसी भी बहाने राम और रामकथा का प्रसार हो, रामभक्ति व्यापक जीवन-दर्शन बन जाए! "गोस्वामी ने इसे शकुन विचारने लिए बनाया है और इस बहाने रामचरित्र-वर्णन किया है। इसमें सात सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग में सात-सात सप्तक हैं। इसके बहुत से दोहे गोस्वामीजी के अन्य ग्रन्थों से लिए गए हैं। सातवें सर्ग के अंतिम सप्तक में शकुन विचारने की विधि भी दी गई है। यह पूरा ग्रन्थ दोहों में है।"[2]

इस ग्रन्थ के प्रस्तुतीकरण का श्रेय तुलसी-साहित्य के एक महान प्रेमी लाला छक्कनलाल कायस्थ को प्राप्त है।[3] सर्वप्रसिद्ध है कि तुलसी ने अपने ज्योतिषी मित्र गंगाराम[4] की राजकोप से रक्षा के निमित्त इस कृति की रचना की, जो अपने उद्देश्य में सफल सिद्ध हुई थी। डॉ० माताप्रसाद गुप्त रामाज्ञा-प्रश्न, रामशलाका, रघुवर-

1. देखें तुलसी के अध्ययन की नई दिशाएँ का 'रामाज्ञा-प्रश्न' निबन्ध।
2. तुलसी-ग्रन्थावली (दूसरा खंड), पृष्ठ 3
3. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 380
4. रामाज्ञा-प्रश्न 1/7/7

शलाका,सगुनमाला, सगुनावली, रामायण-सगुनौती इत्यादि नाम एक ही ग्रन्थ के मानते हैं[5] और आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र उन्हीं का अनुसरण करते हैं।[6] पण्डित रामनरेश त्रिपाठी रामाज्ञा-प्रश्न और रामशलाका को एक नहीं मानते।[7] जनता तुलसी की किसी भी कृति के साथ 'रामायण' शब्द अवश्य लगाना चाहती है। रामाज्ञा-प्रश्न का रामायण-सगुनौती ऐसा ही नाम है।

रामाज्ञा-प्रश्न के रचना काल पर मतभेद है। डॉ० श्यामसुन्दरदास रामाज्ञा-प्रश्न का रचनाकाल 1655 वि० मानते हैं। महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी के अनुसार, 1655 वि० उसका प्रतिलिपिकाल है, सृजनकाल नहीं। लाल छक्कनलाल ने 1884 वि० में उस प्रतिलिपि की प्रतिलिपि तैयार की थी।[8] डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने रामाज्ञा-प्रश्न के सप्तम सर्ग के सप्तम सप्तक के तृतीय दोहे के आधार पर रचनाकाल 1621 वि० होने की कल्पना की है।[9] यह कल्पना इस दृष्टि से तथ्यपूर्ण मानी जा सकती है कि रामाज्ञा-प्रश्न विश्वकवि की आरम्भिक कृतियों में एक है। रामाज्ञा-प्रश्न को तुलसीकृत मानने के पक्ष में परिश्रमी विद्वान डॉ० उदयभानुसिंह ने अच्छे तर्क दिए हैं।[10]

1. दशरथ और जनक

मधु-माधव दसरथ-जनक, मिलब राज ऋतुराज।
सगुन सुबन नव दल सुतरु, फूलत-फलत सुकाज॥
बिनय-पराग, सुप्रेम-रस, सुमन-सुभग-संबाद।
कुसुमित काज रसाल तरु, सगुन सुकोकिल-नाद॥[11]

सांगरूपक, यथासंख्य, वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास इत्यादि से सम्पन्न ये दो दोहे काव्य के भाव तथा कला पक्षों की सम्पन्नता में रामाज्ञा-प्रश्न के समग्र दोहों में

5. तुलसीदास, पृष्ठ 206-7
6. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्रथम खंड) पृष्ठ 238
7. तुलसीदास और उनका काव्य, पृष्ठ 210
8. गोस्वामी तुलसीदास (शिवनन्दनसहाय) पृष्ठ 284
9. तुलसीदास, पृष्ठ 235
10. तुलसी-काव्य-मीमांसा, पृष्ठ 84-85
11. रामाज्ञा-प्रश्न 1/5/3-4

अन्यतम हैं। वस्तुतः ये रामाज्ञा-प्रश्न के न लगकर रामचरितमानस के लगते हैं! दशरथ और जनक का मिलन प्रवृत्ति और निवृत्ति का मिलन होने के कारण विरोधाभास अलंकार से सम्पन्न हो सकता था, किंतु प्रवृत्ति-निवृति-सेतु राम ने दोनों को मधु-माधव (चैत्र-वैशाख) का अन्योन्य रूप प्रदान कर दिया। राम ने प्रवृत्तिप्रधान दशरथ को निवृत्तिसम्पन्न किया, निवृत्ति प्रधान जनक को प्रवृत्ति-सम्पन्न किया। मधु-माधवौ वसन्तः!" यहाँ मधु-दशरथ और माधक-जनक तो विद्यमान हैं ही, दोनों महाराज भी हैं—अतएव, ऋतुराज की अभूतपूर्व-अश्रुतपूर्व शोभा छा रही है।

इन अतीव सुन्दर दोहों में तुलसी ने विनय, प्रेम, सम्यक्वाक इत्यादि मानव-मूल्यों का समावेश करके परोक्षतः सद्गुणप्रसार का पूरा ध्यान रखा है। यदि अंतस्साक्ष्य के आधार पर रामाज्ञा-प्रश्न को तुलसीकृत प्रमाणित करना हो, तो इन दो सुन्दर दोहों से अपार साहाय्य प्राप्त हो सकता है।